मीराँबाई
और उनकी
पदावली



प्रो. देशराज सिंह भाटी

सम्मति

श्री देवराजसिंह भाटी ने 'मीरां बाई और उनकी पदावली' में मीरां के काव्य का गम्भीर विवेचन एवं विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किया है। मीरां के काव्य से सम्बन्धित विभिन्न विषयों की विशद समीक्षा के साथ-साथ पदावली में मूल्यांकन का यह प्रयत्न सराह[illegible] विषय प्रतिपादन की प्रौढ़ता [illegible] विवेचन की गम्भीरता एवं भाषा की विशदता की दृष्टि से इस कृति में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है।

श्री भा[illegible] जी एक योग्य और कुशल लेखक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में उनके गम्भी[illegible] अध्ययन एवं प्रौढ़ चिन्तन [illegible] मिलता है। मुझे पूर्ण [illegible] उच्च कक्षा के विद्यार्थि[illegible] काव्य का रसपान करनेवाले सहृदय पाठकों के लिए यह कृति विशेष उपयोगी सिद्ध होगी।

डॉ० गोविन्दराम शर्मा
अध्यक्ष हिन्दी-विभाग
किरोड़ीमल कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्राक्कथन

कुछ लिखने की चेष्टा की है, तब-तब मैं अपनी सीमित शब्द-शक्ति के का कुछ भी नहीं लिख पाया हूँ।

अन्त में मैं उन सभी विद्वान् लेखकों का आभार मानता हूँ जिनकी कृ की सहायता से इस पुस्तक का प्रणयन हो सका है।

—देशराजसिंह भ

द्वितीय-संस्करण

मीरां के पाठकों ने प्रस्तुत पुस्तक का सम्मान करके लेखक को जो उत्सा वर्धन किया है उसी के फलस्वरूप यह द्वितीय संशोधित एवं परिवर्धि संस्करण कृतज्ञतापूर्वक उनकी सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा प्रथम संस्करण की भाँति यह संस्करण भी मीरां के पाठकों को लाभान्वि करेगा।

—देशराजसिंह भ

कुँवर यशपाल एम ए संसद सदस्य

को

जिनकी रगों में राव दूदाजी का खौलता हुआ
खून और मानस में मीरां जैसे पावन प्रेम
की अजस्र धारा प्रवाहित है
सादर सप्रेम समर्पित ।

—नारायणसिंह भाटी

विषय-सूची

आलोचना भाग

व्याख्या-भाग

(पद-सूची अकारादि क्रमानुसार पृष्ठ-संख्या सहित)

आलोचना भाग

मीराँ का जीवनवृत्त

दक्षिण भारत में आलवारों की छत्रच्छाया में अपने सहज और स्वाभाविक रूप से पल्लवित होती हुई भक्ति-कालिका ने भी रामानुज मध्वाचार्य विष्णु स्वामी और निम्बार्क प्रभृति प्रतिभा-सम्पन्न आचार्यों की भाव रश्मि का संसर्ग पाकर केवल पूर्ण विकास ही प्राप्त नहीं किया बल्कि प्रायः समूचे भारत को अपनी दिव्य सुगन्धि से सुवासित कर दिया किन्तु राजस्थान इस प्रभाव से अप्रभावित ही रहा। उसकी भक्ति वीरता थी जो उसके कण-कण में अनादि काल से समाई हुई थी। यही कारण है कि जब सम्पूर्ण भारत का कोना-कोना 'निर्बल के बल राम' की दुहाई दे रहा था तो राजस्थान में वीरता की ही संस्तुति की जा रही थी—

> 'तन तलवारां तिमछियो तिल तिल ऊपर सीव।
> घातां घावां ऊठसी छिन इक ठहर नकीब॥'

अर्थात्—इस वीर का शरीर तलवार के वारों से टुकड़े-टुकड़े हो गया है और तिल-तिल पर सिला हुआ है अतः हे चारण! तुम थोड़ी देर के लिए अपनी वीरवाणी बन्द कर लो अन्यथा यह वीर तीन घावों के रहते हुए ही उठकर रण करने के लिए चल देगा।

ऐसे ही वीरतापूर्ण एवं ओज भरे स्वरों के बीच अकस्मात् एक ऐसा कंठ फूट पड़ा जिसमें वीरता के स्थान पर भक्ति और ओज के स्थान पर हृदय की मग्नता एवं मृदुलता थी। यह कंठ मीरांबाई का था। राजस्थान के इतिहास में मीरांबाई का आविर्भाव शिलाखंड पर एक कमनीय लता के पल्लवित और कुसुमित होने के समान है। सांवरे के रंग में रंगी हुई इस प्रेम प्रतिमा की स्वर-लहरी ने केवल मरुभूमि राजस्थान ही नहीं वरन् सम्पूर्ण भारत को अपनी पावन प्रेम-धारा में अभिसिंचित कर दिया।

मीरां की लोक-प्रियता ने जिनके जीवनवृत्त को अपवादों से इस प्रकार आच्छन्न कर लिया कि इनके जीवनवृत्त के विषय में कुछ भी असंदिग्ध रूप में

में नहीं कहा जा सकता। अतः अभी तो जो कुछ, और जैसा भी इनका जीवन वृत्त ज्ञात हो सका है उसे ही संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

जन्मतिथि [५]

मीरां की जन्म-तिथि के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। मिश्रबंधु और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी जन्म-तिथि संवत् १५७३, प्रसिद्ध इतिहासकार हरविलास सारदा, पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० रामकुमार वर्मा और पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने संवत् १५५५, कन्हैयालाल मुन्शी, वियोगी-हरि ने संवत् १५२७, मैकालिफ ने संवत् १५६१, ललमुखराम मनसुखराम त्रिवेदी ने संवत् १५५०-६० के मध्य, डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, डॉ० श्रीकृष्णलाल और महावीरसिंह गहलोत ने संवत् १५६० मानी है। किसी निश्चित तिथि का निर्धारण करने से पूर्व यह आवश्यक है कि मीरां से सम्बन्धित उन जन श्रुतियों की समीक्षा कर ली जाये जो इनके काल-निर्धारण में बाधा डालने वाली हैं। इन जनश्रुतियों में प्रमुख ये हैं—

१ मीरां महाराणा कुम्भा की पत्नी थी।
२ मीरां महाकवि विद्यापति की समसामयिक थी।
३ मीरां और तुलसी में पत्रों का आदान-प्रदान हुआ था।
४ मीरां के दर्शन के लिए अकबर और तानसेन आये थे।

इन कारणों की आलोचना करने के पश्चात् ही किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है अतः इनकी समीक्षा आवश्यक है।

१ मीरां राणा कुम्भा की पत्नी थी—इस मत के स्थापक हैं कर्नल टॉड। टॉड के इस मत की स्थापना का आधार कोई ठोस तर्क अथवा प्रमाण नहीं बल्कि एक जनश्रुति है। चित्तौड़ में राणा कुम्भा का बनवाया हुआ एक मन्दिर है जिसका निर्माण संवत् १५०५ वि० में हुआ था। इसी मन्दिर के पास एक छोटा-सा मंदिर और है जिसे मीरां का मंदिर बताया जाता है। मंदिरों की इसी सान्निध्यता के कारण कर्नल टॉड ने मीरां को राणा कुम्भा की पत्नी मान लिया। मुन्शी देवीप्रसाद ने इस मत को टॉड की 'भ्रान्ति' बताया है और इसका खंडन करते हुए लिखा है—

यह मंदिर मैंने भी देखा है और एक मंदिर एकलिंग महादेव जी के पास भी उदयपुर से १० मील की दूरी पर मीराँबाई के नाम से मशहूर है उसको

भी मैं देख चुका हूँ मगर दोनों में कोई लेख नहीं है कि जिससे असल हाल मालूम हो।[1]

साथ ही अपने मत के समर्थन में वे अपने मित्र और इतिहास के मर्मज्ञ विद्वान् गौरीशंकरजी का मत भी उद्धृत करते हैं—

'चीतोड़ (चित्तौड़) के किले पर कुम्भश्यामजी का मन्दिर कुम्भा राणा का बनाया हुआ है। उसके पास एक और मन्दिर है जिसको मीरांबाई का बनाया हुआ बताते हैं। इन दोनों मंदिरों के पास-पास होने से शायद टॉड साहिब ने यह धोखा (धोका) खाया है। मीरांबाई का नाम मेड़ती है और महाराणा कुम्भा जी का इन्तकाल संवत् १५२५ (१४६८ ई०) में हुआ है। उस वक्त तक मीरांबाई के दादा दूदाजी को मेड़ता मिला ही नहीं था इसलिए मीरांबाई राणा कुम्भा की राणी नहीं हो सकती।[2]

'महाराणा सांगा' नामक इतिहास-कृति के रचयिता श्री हरविलास शारदा ने भी टॉड के मत का खंडन किया है—

कर्नल टॉड का कथन है कि मीरांबाई कुम्भ की रानी थीं। यह कहना गलत है। कुम्भा संवत् १५२४ (सन् १४६७ ई०) में मारे गये थे, जबकि मीरां के पितामह उस समय के पश्चात् मेड़ता के राजा बने थे। मीरां के पिता रत्नसिंह खानवा के युद्ध में कुम्भा की मृत्यु के ६० वर्ष उपरान्त मारे गये थे। संवत् १५७३ (सन् १५१६ ई०) में मीरांबाई का विवाह राजकुमार भोजराज के साथ हुआ था। मीरांबाई का जन्म संवत् १५५५ (सन् १४९८ ई०) में हुआ और मृत्यु संवत् १६०३ (सन् १५४६ ई०) में द्वारिका (काठियावाड़) में हुआ। इस स्थान पर वे अनेक वर्षों से रह रही थीं।[3]

---

1 मीरांबाई का जीवन चरित्र पृष्ठ २९

2 मीरांबाई का जीवन-चरित्र पृष्ठ २९

3 'Col Todd has started that Miran Bai to be the queen of Kumbha. This is an error Kumbha was killed in S 1524 (A.D 1467) while Miran's grandfather Duda, became Raja of Merta after that year Miran's father Ratan Singh was killed in the battle Kunva, 60 years after Kumbha's that. Miran

हीं नहीं कहा जा सकता । अतः अभी तो जो कुछ, और जैसा भी इनका जीवन त्त ज्ञात हो सका है, उसे ही संक्षिप्त रूप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

जन्मतिथि[५]

मीरां की जन्म-तिथि के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। मिश्रबं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनकी जन्म-तिथि संवत् १५७३ प्रसिद्ध इतिहास ार हरबिलास शारदा पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा डॉ० रामकुमार वम और पण्डित परशुराम चतुर्वेदी ने संवत् १५५५ कन्हैयालाल मुन्शी वियोगी ह्रि ने संवत् १५५७ मेकालिफ ने संवत् १५६१ ललमुलराम ललमुलरा द्विवेदी ने सवत् १५५०-६० के मध्य डॉ० धीरेन्द्र वर्मा डॉ० श्रीकृष्णला और महावीरसिंह गहलौत ने सवत् १५६० मानी है। किसी निश्चित तिथि का निर्धारण करने से पूर्व यह आवश्यक है कि मीरां से सम्बन्धित उन जन श्रुतियों की समीक्षा कर ली जाये जो इनके काल-निर्धारण में बाधा डाल ाती हैं। इन जनश्रुतियों में प्रमुख ये हैं—

१ मीरां महाराणा कुम्भा की पत्नी थी।
२ मीरां महाकवि विद्यापति की समसामयिक थी।
३ मीरां और तुलसी में पत्रों का आदान-प्रदान हुआ था।
४ मीरां के दर्शन के लिए अकबर और तानसेन आये थे।

इन कारणों की आलोचना करने के पश्चात् ही किसी निष्कर्ष पर पहुँच जा सकता है अतः इनकी समीक्षा आवश्यक है।

१ मीरां राणा कुम्भा की पत्नी थी—इस मत के स्थापक हैं कर्नल टॉड टॉड के इस मत की स्थापना का आधार कोई ठोस तर्क अथवा प्रमाण नहीं बल्कि एक जनश्रुति है। चित्तौड़ में राणा कुम्भा का बनवाया हुआ एक मन्दि है जिसका निर्माण संवत् १५ ५ वि० में हुआ था। इसी मन्दिर के पास ए छोटा-सा मंदिर और है जिसे मीरां का मन्दिर बताया जाता है। मन्दिरों क इसी सान्निध्यता के कारण कर्नल टॉड ने मीरां को राणा कुम्भा की पत्नी मा लिया। मुन्शी देवीप्रसाद ने इस मत को टॉड की गलती बताया है और इसक खंडन करते हुए लिखा है—

यह मंदिर मैंने भी देखा है और एक मंदिर एकलिंग महादेव जी के पा भी उदयपुर से १० मील की दूरी पर मीरांबाई के नाम से मशहूर है उसक

भी मैं देख चुका हूँ, मगर दोनों में कोई लेख नहीं है कि जिससे असल हाल मालूम हो।[1]

साथ ही अपने मत के समर्थन में वे अपने मित्र और इतिहास के ममज्ञ विद्वान् गौरीशंकरजी का मत भी उद्धृत करते हैं—

'चीतोड़ (चित्तौड़) के किले पर कुम्भश्यामजी का मन्दिर कुम्भा राणा का बनाया हुआ है। उसके पास एक और मन्दिर है जिसको मीरांबाई का बनाया हुआ बताते हैं। इन दोनों मंदिरों के पास-पास होने से शायद टॉड साहिब ने यह धोका (धोखा) खाया है। मीरांबाई का नाम मेड़ती है और महाराणा कुम्भा जी का इन्तकाल संवत् १५२५ (१४६८ ई०) में हुआ है। उस वक्त तक मीरांबाई के दादा दूदाजी को मेड़ता मिला हो नहीं था इसलिए मीरांबाई राणा कुम्भा की रानी नहीं हो सकती।'[2]

'महाराणा सांगा' नामक इतिहास-कृति के रचयिता श्री हरबिलास सारदा ने भी टॉड के मत का खंडन किया है—

'कर्नल टॉड का कथन है कि मीरांबाई कुम्भ की रानी थीं। यह कहना गलत है। कुम्भा संवत् १५२४ (सन् १४६७ ई०) में मारे गये थे, जबकि मीरां के पितामह इस समय के पश्चात् मेड़ता के राजा बने थे। मीरां के पिता रत्नसिंह खानवा के युद्ध में कुम्भा की मृत्यु के ६१ वर्ष उपरान्त मारे गये थे। संवत् १५७३ (सन् १५१६ ई०) में मीरांबाई का विवाह राजकुमार भोजराज के साथ हुआ था। मीरांबाई का अन्म संवत् १५५५ (सन् १४९८ ई०) में हुआ और मृत्यु संवत् १६०३ (सन् १५४६ ई०) में द्वारिका (काठियावाड़) में हुआ। इस स्थान पर वे अनेक वर्षों से रह रही थीं।'[3]

---

1 मीरांबाई का जीवन चरित्र पृष्ठ २६

2. मीरांबाई का जीवन चरित्र पृष्ठ २६

3 'Col Todd has started that Miran Bai to be the queen of Kumbha This is an error Kumbha was killed in S 1524 (A. D 1467) while Miran s grandfather Duda became Raja of Merta after that year Miran s father Ratan Singh was killed in the battle Kunva, 60 years after Kumbha s that. Miran-

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह मंदिर मीराँ का बनवाया हुआ अथवा उसके नाम पर राणा कुम्भा का बनवाया हुआ नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह उठता है कि फिर यह मंदिर मीराँ के नाम से क्यों प्रसिद्ध है? इस प्रश्न का उत्तर डा० श्रीकृष्णलाल ने इस प्रकार दिया है—

'जान पड़ता है कि मीराँबाई इसी मंदिर में पूजा-पाठ और भजन किया करती थी इसी कारण जनता में वह मीराँबाई का मंदिर प्रसिद्ध हो गया है।'[1]

२ विद्यापति की समसामयिक थी—कर्नल टॉड ने उपर्युक्त जिस मत की स्थापना की उसका प्रभाव काफी दिनों तक छाया रहा और इसी प्रभाव की भ्रांति म मीराँ की जन्म-तिथि निर्धारित करने का प्रयास होता रहा। इसी प्रभाव से प्रभावित होकर डॉ० ग्रियर्सन ने मीराँ को विद्यापति का समकालीन मान लिया—

'राजपूताने की सबसे प्रसिद्ध कवयित्री मारवाड़ की मीराँबाई है, जो विद्यापति की समकालीन थी।'[2]

इसी प्रभाव में आकर श्री गोवर्धनराम माधोराम त्रिपाठी तथा कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी ने मीराँ का काल पन्द्रहवीं शताब्दी निर्णीत किया किन्तु जब कर्नल टॉड का मत ही निराधार सिद्ध हो जाता है तो उस मत पर आधृत यह मत स्वतः खंडित हो जाता है।

३ तुलसी से पत्र-व्यवहार—बहुत दिनों तक विद्वानों की यह धारणा बनी रही कि मीराँ तुलसी की समकालीन ही नहीं थी बल्कि इन दोनों का आपस में पत्र-व्यवहार भी हुआ था। कहा जाता है कि जब मीराँ अपने स्वजनों

Bai was married to prince Bhojraj in S 15̄73 (A D 1516) Miran Bai was born at 15.3 (A D 1494) and died in S. 1603 (A D 1516) at Dwarka (kathiawar) at which place she had been residing for several years.

1 मीराँबाई पृष्ठ ४७

2 Modern Vernacular Litrature

के कटु और अनपेक्षित व्यवहारों से बहुत तंग आ गई तो इन्होंने तुलसीदास को निम्नलिखित पत्र लिखकर भेजा—

'स्वस्ति श्री तुलसी कुलभूषण दूषण हरण गोसाईं ।
बारहि बार प्रनाम करहुँ अब हरहुँ सोक समुदाई ।
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई ।
साधु-संग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई ।
मेरे मात पिता के सम हौ हरि भक्तन सुखदाई ।
हमको कहा उचित करिबो है सो लिखिये समुझाई ।'

कुछ पाठान्तर के साथ यही पद बेलवेडियर प्रेस की 'मीराबाई की शब्दावली' में मिलता है—

'श्री तुलसी सुख निधान दुख हरन गोसाईं ।
बारहि बार प्रणाम करूं अब हरो सोक समुदाई ।
घर के स्वजन हमारे जेते सबन उपाधि बढ़ाई ।
साधु-संग अरु भजन करत मोहि देत कलेस महाई ।
बालपने तें मीरां कीन्ही गिरधरलाल मिताई ।
सो तो अब छूटत नहिं क्यों हूँ लगी-लगन बरियाई ।
मेरे मात पिता के सम हौ हरि भक्तन सुखदाई ।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समुझाई ।'

कहते हैं कि तुलसीदास ने इस पत्र का उत्तर इस प्रकार दिया—

'जाके प्रिय न राम बैदेही ।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।
तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बन्धु, भरत महतारी ।
बलि गुरु तज्यो कंत ब्रज बनिता, भए सब मंगलकारी ।
नातो नेह राम सों मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आंख जो फूटै बहुतक कहौं कहाँ लौं ।
तुलसी सो सब भाँति परम हित पूज्य प्रान ते प्यारो ।
जासों बढ़ै सनेह रामपद एतो मतो हमारो ।

कुछ लोगों का यह भी मन्तव्य है कि इस पद के साथ तुलसी ने निम्न लिखित सवैया भी मीराँ के पास भेजा था—

'सो जननी सो पिता सोइ भ्रात सो भामिन सो सुत सो हित मेरो।
सोइ सगो सो सखा सोइ सेवक सो गुरु सो सुर साहिब चेरो।
सो तुलसी प्रिय प्राण समान कहाँ लौं बताइ कहौं बहुतेरो।
जो तजि गेह को देह को नेह सनेह सो राम को होय सबेरो।

इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों रचनाएँ तुलसीदास की हैं किन्तु क्या ये मीराँ के पत्र के उत्तर में लिखी गई थीं यह प्रश्न विवादास्पद है। काल की दृष्टि से यह जनश्रुति असंगत ही सिद्ध होती है क्योंकि इस पत्र का समय संवत् १५६० के लगभग होना चाहिए। इसका कारण यह है कि संवत् १५६१ वि० में तो मीराँ ने मेवाड़ छोड़ दिया था और इससे पहले ही उस अपने परिवार से संघर्ष करना पड़ा था जिसका मीराँ के पत्र में उल्लेख किया गया है। इस पत्र-व्यवहार की घटना का उल्लेख न तो प्रियादास की टीका में ही मिलता है और न रघुराजसिंह के 'भक्तमाल' में। इसका सर्वप्रथम उल्लेख बाबा बेनीमाधव के 'गुसाईं चरित्र' में मिलता है—

'सोरह से सोरह लगे कामद गिरि ढिग बास।
सुचि एकांत प्रदेस महँ आये सूर सुदास॥
× × × ×
'लै पाति गये जब सूर कवी। उर में पधराय के स्याम छवी।
तब आयो मेवाड़ ते बिप्र नाम सुखपाल।
मीराँबाई पत्रिका लायो प्रेम प्रवाल॥
पढ़ि पाती उत्तर लिखे गीत कवित्त बनाय।
सब तजि हरि भजिबो भलो कहि दिय बिप्र पठाय॥

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यह कल्पना बाबा बेनीमाधव की है जो मीराँबाई की लोक-प्रियता और महत्ता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने इनका सम्बन्ध तुलसीदास से जोड़कर तुलसी की महत्ता में चार चाँद लगाने का प्रयत्न किया। यही मन्तव्य डॉ० श्री कृष्णलाल का भी है—

'बाबा बेनीमाधवदास ने अपने चरित्र-नायक की महत्ता प्रमाणित करने

के लिए उस युग के सभी सम्प्रतिष्ठ भक्तों और कवियों का तुलसी से संबंध स्थापित करने के लिए बनाएँ गई हैं। जिनमें लगभग सभी की सभी स्थान, काल और पात्र की दृष्टि से विचार करने पर असंगत और असम्भव जान पड़ती हैं।[1]

४ अकबर और तानसेन—मीराँबाई का सम्बन्ध अकबर और तानसेन से भी जोड़ दिया गया है। कहा जाता है कि मीराँबाई की प्रसिद्धि सुनकर गुप्त भेष धारण करके अकबर और तानसेन ने इसके गीतों का श्रवण किया था। 'मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह' में इसी आशय का यह पद भी संग्रहीत है—

'माई री मैं साँवलिया जान्यो नाथ।
तेल चल्यो अकबर आयो तानसेन को साथ।
राग ताल इतिहास श्रवण करि नाय नाय सिर माथ।
मीराँ के प्रभु गिरिधरनागर कीन्ही मोहि सनाथ।'[2]

अकबर तानसेन को लेकर मीराँ के पास गया इसका वर्णन प्रियादास ने भी इस प्रकार किया है—

'रूप की निकाई भूप अकबर भाई हिये
लिये संग तानसेन देखिबे को आयौ है।'
निरखि निहाल भयौ छवि गिरधारी लाल
पद सुखदाय एक तब ही चढ़ायौ है।'

यह घटना भी कपोल-कल्पित है। ऐसा जान पड़ता है कि मीराँ के भक्तों ने मीराँ की महत्ता प्रमाणित करने के लिए ही इस घटना की कल्पना की है क्योंकि यदि मीराँ की मृत्यु तिथि डॉ० श्रीकृष्णलाल के अनुसार संवत् १६६० मानी जाये तो अकबर से वे ४० वर्ष बड़ी सिद्ध होती हैं। ३१ वर्ष के अकबर के लिए ७१ वर्ष की मीराँ में क्या रूप की निकाई रही होगी? अतः यह घटना भी कल्पित मात्र है।

उपर्युक्त घटनाओं की समीक्षा करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये मीराँ का काल निर्धारित करने में किसी भी प्रकार से सहायक नहीं होतीं वरन् अनेक भ्रान्तियों को जन्म देकर समस्या को और उलझा देती हैं। अतः इन

1 मीराँबाई पृष्ठ ४०
2 मीराँ-बृहत्-पद-संग्रह पद २०७ पृष्ठ ११०

घटनाओं का त्याग करके हमें भक्त-विषयक साहित्य की ओर उन्मुख होना चाहिए जो मीराँ के काल-निर्धारण में अत्यन्त सहायक है।

भक्त-विषयक-साहित्य— इस साहित्य के अन्तर्गत नाभादास रचित 'भक्तमाल' हरीराम व्यास-रचित 'बानी' गुसाईं गोकुलनाथ रचित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' ध्रुवदास रचित 'भक्त-नामावली' और प्रियादास-रचित 'भक्त-माल' की टीका विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। इस साहित्य में मीराँबाई का उल्लेख किसी न किसी रूप में मिल जाता है, किन्तु काल-निर्धारण की दृष्टि से 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' महत्वपूर्ण है। इस वार्ता के निम्नलिखित दो प्रसंग इस विषय में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं —

१ 'और एक समै गोविन्द दुबे मीराँबाई के घर हुते तहाँ मीराँबाई सों भगवद् वार्ता करत अटके। तब श्री आचार्यजी ने सुनी जो गोविन्द दुबे मीराँबाई के घर उतरे हैं सो अटके हैं, तब श्री गुसाईं ने एक श्लोक लिखी पठायो ।'[1]

२ 'सो वे कृष्णदास सूद्र एक बेर द्वारका गये हुते सो श्री रणछोर जी के दर्शन करके तहाँ ते चले सो आवत मीराँबाई के गाँव आये सो वे कृष्णदास मीराँबाई के घर गए तहाँ हरिवंश व्यास आदि दे विशेष सब वैष्णव हुते ।'[2]

प्रथम उद्धरण के अनुसार मीराँ आचार्य वल्लभाचार्य की समकालीन सिद्ध होती है। वल्लभाचार्य की मृत्यु संवत् १५८० में हुई थी अतः उपर्युक्त प्रसंग संवत् १५८०-८५ के मध्य घटित हुआ होगा। इस काल तक मीराँ में इतनी प्रौढ़ता आ गई थी कि गोविन्द दुबे जैसे विद्वान् भी इनसे भगवद् वार्ता करते थे। इस प्रौढ़ता को प्राप्त करने के लिए कम से कम पच्चीस-तीस वर्ष की आयु अपेक्षित है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मीराँ का जन्म संवत् १५५५ ६० के मध्य हुआ होगा।

द्वितीय उद्धरण के अनुसार मीराँ कृष्णदास हितहरिवंश और हरीराम व्यास की समकालीन सिद्ध होती है। कृष्णदास का समय संवत् १५५४ से १६ ४ तक और हितहरिवंश का समय संवत् १५५९ से १६०९ तक माना जाता है। इससे भी मीराँ का जन्म संवत् १५५५ ६० के मध्य ही निश्चित

1 चौरासी वैष्णवन की वार्ता प्रसंग २ सं० १९९०
2. चौरासी वैष्णवन की वार्ता प्रसंग १ सं० १९९०

होता है। हरीराम व्यास संवत् १६२२ के पास रास वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। अत यह घटना इस समय के पश्चात् ही घटित हुई है। इसका अर्थ यह है कि मीरांबाई संवत् १६२२ तक जीवित थीं। अत यह कहा जा सकता है कि मीरां का जन्म संवत् १५६० के लगभग कुड़की नामक स्थान में हुआ था।

ये जोधपुर के संस्थापक सुप्रसिद्ध राठौर राजा राव जोधाजी के पुत्र राव दूदाजी की पौत्री और रत्नसिंह की इकलौती पुत्री थीं। राव दूदाजी ने संवत् १५१८ वि० में मेड़ता नगर की स्थापना की थी। इसलिए राव दूदाजी के वंशज आगे चलकर मेड़तिया राठौर के नाम से विख्यात हुए।

नाम-रहस्य ×

मीरांबाई के जीवनवृत्त के अन्य पहलुओं की भाँति आलोचकों ने इनके नाम को भी विवाद का विषय बना लिया है। सबसे पहले डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने इस विवाद का सूत्रपात किया था। तब से मीरांबाई शब्द की निरुक्ति और व्युत्पत्ति पर बराबर विचार होता आ रहा है और अनेक मतों की स्थापना हो रही है। एतद्विषयक मतों में कुछ मत निम्नलिखित हैं—

१ डॉ० बड़थ्वाल का मत—डॉ० बड़थ्वाल इस विवाद के जन्मदाता हैं। इन्होंने 'मीरां' तथा 'बाई' शब्दों के विषय में अपूर्व कल्पनाएं की। कबीर के तीन दोहों में आये 'मीरां' शब्द का अर्थ इन्होंने 'परमात्मा या 'ईश्वर' लगाया और 'बाई' का अर्थ 'पत्नी' बताया। इस प्रकार इनके अनुसार 'मीरांबाई' का अर्थ हुआ 'ईश्वर की पत्नी'। इस अर्थ के समर्थन में इन्होंने बताया कि मीरां की भक्ति माधुर्य भाव की है। इन्होंने सर्वत्र स्वयं को गिरिधरनागर की पत्नी माना है। इसीलिए यह इनका उपनाम है जो इनकी माधुर्य भाव की भक्ति के कारण सन्त-कवियों ने इन्हें प्रदान किया।[1]

इस मत पर दो प्रबल आक्षेप किये गये हैं। पहला आक्षेप तो यह है कि यदि मीरां को यह उपनाम इनकी माधुर्य भक्ति को देखकर दिया गया था तो इनका वास्तविक नाम क्या था? मीरां के अतिरिक्त इनका अन्य नाम नहीं मिलता। दूसरा आक्षेप यह है कि राजस्थान में 'बाई' का अर्थ 'पुत्री' होता है, 'पत्नी' नहीं। इन आक्षेपों के द्वारा डॉ० बड़थ्वाल का मत पूर्णतः खंडित हो जाता है।

1 सरस्वती भाग ४० अंक १ पृष्ठ २११ २१३

२ विश्वेश्वरनाथ का मत—विश्वेश्वरनाथ 'मीराँ' शब्द को संस्कृत का नहीं फ़ारसी का शब्द मानते हैं। फ़ारसी में 'मीर' का अर्थ है शाहजादा और मीर का बहुवचन 'मीराँ' बनता है। वे लिखते हैं—

'मीराँ शब्द संस्कृत का नहीं है। मालूम होता है कि अजमेर में मुसलमानों का अड्डा होने व मेड़ते के उसके निकट रहने से अथवा अन्य कारणों से उनका प्रभाव राजपूतों पर पड़ा होगा। मीराँ शब्द फ़ारसी में मीर का बहुवचन है और शाहजादों के अर्थ में प्रयुक्त होता है।[1]

यह मत भी निराधार है। इसका कारण यह है कि राजपूत और मुसलमानों के मध्य परम्परागत बैर रहा है। अतः अन्योन्य प्रभाव का प्रश्न ही नहीं उठता और फिर राजपूतों के नाम फ़ारसी में नहीं संस्कृत में मिलते हैं।

३ पुरोहित हरिनारायण का मत—इन्होंने 'मीराँ' शब्द का रहस्य सामाजिक परम्पराओं में खोजने का प्रयत्न किया है। इनका कहना है कि मीराँबाई के नामकरण-संस्कार का रहस्य इन्हें एक बहुत वृद्ध सज्जन द्वारा ज्ञात हुआ। इस सूचना के अनुसार मीराँबाई की माता को उनके पीहर की आई हुई एक बुढ़िया ने सुझाया था कि सन्तान के लिए वे 'मीराँ' साहब अजमेरी की बोलवारी बोल दें। इन्हीं के प्रसाद से मीराँ का जन्म हुआ और इसी कारण इनका नाम मीराँबाई रक्खा गया।[2]

इस मत को ग्रहण करने में अनेक बाधाएँ हैं। पहली तो यह कि जिस सज्जन से पुरोहितजी को यह सूचना मिली उसका नाम तक नहीं बताया गया और न यह बताया गया कि उस सज्जन की इस सूचना का क्या आधार है? दूसरी बाधा यह है कि मीराँ शाह अजमेरी तो शहाबुद्दीन गोरी का एक अमीर था मीर नहीं जो राजपूतों द्वारा मारा गया था। अपने शत्रु की मनौती भला राजपूत फिर किस प्रकार करते? यदि यह माना जाये कि सन्तान के लिए सब कुछ किया जा सकता है तो इतिहास में ऐसा कोई भी संकेत नहीं मिलता जिससे यह प्रकट हो कि मीराँ की माँ सन्तानोत्पत्ति के लिए बहुत ही आतुर थी। तीसरी बाधा यह है कि सन् १५६२ ई० में अकबर की अजमेर

1 मरुवाणी पत्रिका वर्ष १ अंक ११ पृष्ठ २४

2. मरुवाणी पत्रिका अंक ११ पृष्ठ ३१ ३२

ग्यारह के पहले तक संगसवार मीरीदाह की न तो कोई दरगाह ही बनी थी और न उसकी कोई प्रसिद्धि ही थी। यह इतिहास-सम्मत है कि मीरां के काफी वर्षों बाद अकबर का जन्म हुआ था।

४ पण्डित केशवराम का मत—गुजरात-साहित्य के विद्वान् पण्डित केशव राम काशीराम शास्त्री मीरां शब्द की व्युत्पत्ति 'मिहिर' शब्द से मानते हैं[1] परन्तु अपनी इस मान्यता का व कोई विवरण नहीं देते।

५. नरोत्तमदास का मत—प्रो नरोत्तमदास स्वामी प्राकृत और अपभ्रंश व्याकरण के नियमों के अनुसार 'मीरां' का मूल 'मीरां' मानते हैं[2] किन्तु ये भी अपने मत का तर्कपूर्ण प्रतिपादन नहीं करते।

६ ललिताप्रसाद सुकुल का मत—सुकुलजी न इस विषय में एक बहुत सुन्दर कल्पना की है। मीरां' शब्द की व्युत्पत्ति करने से पूर्व इन्होंने 'मड़ता' शब्द की व्याख्या की है। व्याकरण के अनुसार इन्होंने 'मड़ता' शब्द की तीन प्रकार से व्युत्पत्ति मानी है—

१ मेरु+त या मेरु+ता=मेरुता।

२ मेरु+तक=मेरुतक।

३ मीर+ता=मीरता।

'मीरता' शब्द की व्याख्या करते हुए इन्होंने लिखा है कि 'मीर' शब्द का अर्थ संस्कृत कोष के अनुसार 'जलराशि' या 'समुद्र' होता है। 'ता' शब्द सप्तमी शब्द का वाचक है। इस प्रकार 'मीरता' का अर्थ हुआ—जलराशि से युक्त क्योंकि 'राजस्थान गजटियर' में मेड़ता का उल्लेख इसी अर्थ में किया गया है—

'Water is plentiful at Merta there being numerous tanks all around the city

इस व्याख्या के पश्चात् सुकुलजी 'मीरां' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'मीरांबाई का नाम निस्सन्देह ही उपयुक्त व्युत्पत्ति से सम्बन्धित है।

1 कवि-चरित भाग १

2. राजस्थान-साहित्य उदयपुर वर्ष १ भाग २

'मीर' वाच्य है जलाशय का। मेड़ते के चारों ओर सुन्दर-सुन्दर झीलें हैं। सरिता और झील इत्यादि पर स्त्रियों के नाम रखने की प्रथा हमारे देश नवीन नहीं। यदि राव दूदा जी ने अपनी पोती के अलौकिक सौन्दर्य से प्रेरि होकर मेड़ते की सुन्दरतम झील के आधार पर उसे 'मीरां' कहा हो तो आश्च क्या ? साथ ही जल हमारे देश में सात्विक भावना का चिह्न उद्दीपन मा गया है।[1]

गुप्तुस जी का यह मत अपेक्षाकृत अधिक माननीय है किन्तु इसमें दूर क कौड़ी लाने का प्रयास किया गया है जो मान्य होने पर भी सर्वथा शुद्ध न कहा जा सकता।

७ महावीरसिंह गहलोत का मत—गहलोत जी ने 'मीर' शब्द को दृष्टि में रखकर ही मीरां के रहस्य को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। इनका मत यह है—

'बहुत सम्भव तो यही जान पड़ता है कि मीरां के माता पिता ने अपनी प्रथम सन्तान को जीवन-चिन्तामणि जानकर अपने गुणों में उसे अति उच्च प दिया और उसके शील गुण नम्रता आदि को लखकर यथागुणानुसार उसे मीर (श्रेष्ठ) ही माना और यही हमारी मीरांबाई अपने नाम को भक्ति-क्षेत्र और काव्य-क्षेत्र में स्वर्णांकित करने में सक्षम हुई। यही सीधा-सादा रहस्य 'मीरां' नाम में निहित जान पड़ता है।'[2]

गहलोतजी का मत भी इसी आधार पर अधिक प्रामाणिक नहीं मान जा सकता कि राजपूत यवन-संस्कृति की अपेक्षा भारतीय संस्कृति के अधिक निकट थे और इसलिए 'मीर' शब्द को 'श्रेष्ठता' का द्योतक मानकर ही यह नाम रक्खा गया हो यह मत सत्य के निकट हो सकता है किन्तु सर्वथा सत्य नहीं माना जा सकता।

८ पं० परशुराम चतुर्वेदी का मत—चतुर्वेदीजी का मत भी बहुत कुछ गहलोतजी के मत की ही शब्द भेद से पुष्टि करता है। वे लिखते हैं—

'वास्तव में अब तक उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर मीरांबाई का 'मीरां'

---

1 मीरांबाई का जीवन-चरित्र पृष्ठ ४१

2. मीरां जीवनी और काव्य पृष्ठ १७

नाम माता-पिता आदि का दिया हुआ जान पड़ता है। 'बाई' शब्द उसमें सम्मान-प्रदान के लिए जोड़ दिया गया है। इसे उपनाम कहने के लिए कोई कारण नहीं। 'मीराँ' शब्द का मूल रूप भी फारसी का 'मीर' शब्द ही रहा होगा जिसका बहुवचन 'मीराँ' 'ाँ' प्रत्यय लगाकर बनाया गया है।[1]

यदि समग्र रूप से उपर्युक्त मतों का विश्लेषण किया जाये तो यही निष्कर्ष निकलता है कि बिना किसी कारण के ही डॉ० बड़थ्वाल ने जिस बात का उल्लेख कर दिया उसीको परवर्ती विद्वान् अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत करते रहे। इन सब मतों का आधार तो यही है कि मीराँ का नाम बहुत सोच-विचार कर अर्थपूर्ण रक्खा गया पर नामकरण में इतनी गम्भीरता से सोचना आवश्यक नहीं होता और न लोक में ही ऐसा देखा जाता है। कभी-कभी तो बड़े ही निरर्थक नाम भी देखने में आ जाते हैं। इन सब बातों से हमारा तात्पर्य यही है कि मीराँ नाम का कोई रहस्य नहीं है। वह नाम तो मीराँ को इसी प्रकार दे दिया गया है, जिस प्रकार सामान्यतः माँ-बाप अपनी सन्तान का नाम रख देते हैं।

मीराँ या मीरा

इस प्रश्न पर भी अनेक विद्वानों ने विचार किया है कि यह शब्द 'मीराँ' है अथवा 'मीरा'? अधिकांश विद्वान् इसे 'मीराँ' ही स्वीकार करते हैं क्योंकि वे इस शब्द का जन्म फारसी-शब्द 'मीर' से मानते हैं और आदरार्थ उसका बहुवचन 'मीराँ' मानते हैं। नाम-रहस्य की भाँति यह प्रश्न भी विवादास्पद बन गया। डॉ० बड़थ्वाल के अनुसार यह शब्द 'मीरा' होना चाहिए और पुरोहित हरिनारायण के अनुसार 'मीराँ'। हिन्दी में दोनों रूप ही प्रचलित हैं किन्तु अधिक प्रचलन मीराँ का ही है। अतः प्रचलन की दृष्टि से 'मीराँ' ही होना चाहिए, वैसे 'मीरा' भी अशुद्ध नहीं है।

बाल्यकाल

मीराँ का बचपन सुख से नहीं बीता। वे दो वर्ष की भी नहीं होने पाई थी कि इनकी माता का स्वर्गवास हो गया फलतः इन्हें राव दूदाजी ने अपने पास बुला लिया और मेड़ते में अपने निरीक्षण में ही इनका पालन

1 मीराँबाई की पदावली पृष्ठ २१४

पोषण किया। उसी समय मेड़ते में दूदाजी का पौत्र जयमल भी रहा करता था अतः मीराँ और जयमल दोनों का पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा साथ साथ हुई। यहीं पर मीराँ के मन में भक्ति के संस्कारों की छाप पड़ी जो कालान्तर में अपने पूर्ण रूप में विकसित हुए।

मीराँ के बचपन से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियाँ हैं जिनमें से सर्वाधिक प्रचलित यह है कि एक बार रत्नसिंह के घर आकर कोई साधु ठहरा। उसकी गिरिधर की सुन्दर मूर्ति को देखकर मीराँ उसे लेने के लिए मचलने लगी। साधु ने वह मूर्ति उसे नहीं दी और उसके घर से चला गया। मूर्ति के प्रति मीराँ का अनुराग इतना अधिक हो गया था कि उसने खाना-पीना तक छोड़ दिया था। अतः स्वयं भगवान् कृष्ण ने स्वप्न में उस साधु को दर्शन दिये और आदेश दिया कि वह उस मूर्ति को मीराँ को दे दे, इसीमें उसका हित है। साधु ने आदेशानुसार वह मूर्ति मीराँ को दे दी। मीराँ उस मूर्ति को पाकर बहुत प्रसन्न हुई और तभी से कृष्ण को इन्होंने अपना वर स्वीकार कर लिया।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह जनश्रुति अथवा इसी प्रकार की अनेक अनुश्रुतियाँ मीराँ के भक्तों द्वारा कल्पित की गई हैं। इनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। हाँ ऐतिहासिक आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बचपन में ही मीराँ को ऐसा वातावरण मिला था जिससे इनके मन में धर्म और भक्ति के प्रति अनुराग हो गया था।

जिस समय मीराँ का जन्म हुआ था वह राजपूतों के संघर्ष का काल था। मीराँ के बाल्यकाल पिता रत्नसिंह रात-दिन युद्धों में लगे रहते थे अतः मीराँ की शिक्षा का समुचित प्रबंध नहीं हो सका। इसी लिए मीराँ यथोचित शिक्षा से वंचित ही रहीं।

विवाह तथा वैधव्य

मीराँ का विवाह किसके साथ हुआ ? यह प्रश्न बहुत दिनों तक विवाद का विषय बना रहा किन्तु अब प्रायः निश्चित हो गया है कि इनका विवाह संवत् १५७३ वि० में मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र कुँवर भोजराज के साथ हुआ था। कुँवर भोजराज बहुत ही वीर और शान्त स्वभाव

के थे। इसी आधार पर यह कहा जाता है कि विवाह के पश्चात् जब मीराँ मेड़ते को छोड़कर मेवाड़ के महलों में गईं तो कृष्ण की मूर्ति भी साथ-साथ ले गईं जहाँ वे उसकी नियमित रूप से पूजा करतीं। इसी प्रसंग में भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने इस घटना का उल्लेख किया है। घटना इस प्रकार है—

जब मीराँ मेवाड़ पहुँची तो उसकी सास ने देवी की पूजा करने का आग्रह किया किन्तु मीराँ ने आग्रह को अस्वीकार कर दिया—

'बोली—जू बिकायो माथो लाल गिरधारी हाथ।
और कौन नहै एक वही अभिलाखिये ॥

इस पर सास ने फिर आग्रह के स्वर में कहा—

'बढ़त सुहाग याके पूजे तातें पूजा करौ।

किन्तु मीराँ ने फिर भी कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भाव की भक्ति नहीं छोड़ी और सास का आग्रह ठुकरा दिया।

यह घटना केवल कल्पित जान पड़ती है। इसका कारण यह है कि शैव चित्तौड़ का राजधर्म था। अतः शैव धर्म को छोड़कर अन्य देवी की पूजा का प्रश्न ही नहीं उठता।

मीराँ का वैवाहिक जीवन काफी सुखी रहा किन्तु ये सुख के दिन अधिक न रह सके। संवत् १५८० वि० के आसपास कुँवर भोजराज का अकस्मात् देहान्त हो गया। मीराँ को इस दुःखद घटना से बहुत धक्का लगा। वे अभी इस दुःख को सहन भी न कर पाई थीं कि संवत् १५८४ वि० में उनके पिता रत्नसिंह और इसके पश्चात् श्वसुर चल बसे। इन अप्रत्याशित दुःखद घटनाओं ने मीराँ के कोमल हृदय को झकझोर दिया। बचपन की बीज-रूप में पली भक्ति वैराग्य की पूर्ण भावना लेकर प्रकट हुई। मीराँ ने लोक-लाज त्याग-कर भक्ति के मधुर एवं संघर्षपूर्ण क्षेत्र में प्रवेश किया।

गुरु —

मीराँ के गुरु कौन थे? यह प्रश्न भी विवादास्पद है। इस प्रसंग में रैदास, तुलसीदास, विट्ठलनाथ और जीवगोस्वामी के नाम लिये जाते हैं।

इनमें रैदास का नाम अधिकांश विद्वानों द्वारा समर्थित है। मीराँ के अनेक पदों में रैदास का उल्लेख मिलता है। यथा—

१ 'राणा जी रे बूरा जो नी बाई मीराँ बोलिये रे।
संतों नो अपरापुर बास बोजा मरक नी पारण रे।
मीन पखावज वेणु बाजणाँ झालर नो झनकार।
काशी नगर रा चोक मा मने गुरु मल्या रोहीदास।

२ 'मेरो मन लागो हरि जी सूं अब न रहूँगी अटकी।
गुरु मिलिया रदास जी दीन्ही ज्ञान की गुटकी॥

किन्तु यह रैदास सन्त कवि नहीं थे वरन् रैदास सम्प्रदाय के कोई अन्य व्यक्ति थे क्योंकि स्थान और काल की दृष्टि से मीराँ रैदास की शिष्या नहीं हो सकती। रैदास का समय सं० १४५५ से १५७५ के आसपास माना गया है। रैदास की मृत्यु के समय मीराँ की अवस्था अधिक से अधिक १८ वर्ष की हो सकती है और उस समय तक कुंवर भोजराज भी जीवित थे। अतः सं० १५७५ के पहले तक मीराँ का काशी के चौक में संत रैदास को गुरु रूप में प्राप्त करना असम्भव ही है। यही कारण है कि श्री महावीरसिंह गहलौत ने मीराँ के पदों में व्यक्त रैदास को व्यक्तिवाचक संज्ञा न मानकर जातिवाचक संज्ञा माना है। इसी आधार पर गहलौतजी ने विट्ठलनाथ को मीराँ का गुरु माना है जो रदास-सम्प्रदाय के प्रमुख भक्त में से हैं जिन्हें जातिवाचक संज्ञा के आधार पर रैदास भी कहा जा सकता है।[1]

यातनाएँ

अनेक जनश्रुतियाँ इसका प्रतिपादन करती हैं कि मीराँ को इनके देवर के द्वारा अनेक कठोर से कठोर यातनाएँ दी गईं ताकि वे अपनी भक्ति को छोड़कर समय का जीवन बिताएँ। मीराँ के अनेक पदों में इन घटनाओं का स्पष्ट है। उदाहरण के लिए यह पद देखिये—

'पग बाँध घुंघर्याँ णाच्याँरी।
लोग कह्याँ मीराँ बावरी सासु कह्याँ कुलनासी री।
विष रो प्यालो राणा भेज्याँ पीवाँ मीराँ हाँसी री।

---

1 मीराँ जीवनी और काव्य पृष्ठ ४५-४८

इस पद में मीरां ने समाज द्वारा दी जाने वाली यातनाओं तथा राणा द्वारा भेजे जाने वाले विष का उल्लेख किया है। मीरां के अन्य पदों में काला सर्प भेजना आदि के वर्णन भी मिलते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मीरां को इतनी अपार यातनाएँ देने वाला यह राणा कौन है? सामान्यतया इसे विक्रमादित्य समझा जाता है जो भोजराज की मृत्यु के पश्चात् मेवाड़ के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ था किन्तु आधुनिक खोजों ने इस मान्यता को असत्य सिद्ध कर दिया है। मुंशी देवीप्रसाद का यह मत है कि मीरां को यन्त्रणाओं में बीजावर्गी जाति के महाजन का हाथ था और इस जाति के लोग भी इस बात को स्वीकार करते हैं—

"अब आगे वाले लोग तो यों कहते हैं कि उस जहर से मीरांबाई का प्राणान्त हो गया और मरते-मरते उन्होंने उस मुसाहब को यह सराप दिया कि तेरे कुल में औलाद हो तो माया न हो और जो माया हो तो औलाद न हो। कहते हैं कि इस सराप का प्रभाव कुल तथा जाति पर पड़ा। जोधपुर में जो बीजावर्गी बनिये हैं वे भी यह कहते हैं कि मीरांबाई के सराप से अब तक हमारी औलाद और आमदनी में तरक्की नहीं होती है।[1]

विष पान की यह घटना इतनी महत्त्वपूर्ण है कि मीरां के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी इसका उल्लेख किया है। यथा—

१ दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्दिम कीयो।
बार न बाँको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो॥ —नाभादास

२ बंधुनि विष ताको दियो करि विचार चित आन।
सो विष फिरि अमृत भयो तब लागे पछितान॥ —ध्रुवदास

३ गरल पठायो सो तो सीस लै चढ़ायो
संग त्याग विष भारी ताकी झार न सम्हारी है।—प्रियादास

४ विष का प्याला घोल के, राणा भेज्यो छान।
मीरां चेंचयो राम कहि हो गयो सुधा समान॥—दयाबाई

मेवाड़-त्याग—

जब ये अमानुषिक यन्त्रणाएँ असह्य हो गईं और इसमें मीरां के भजन में भंग पड़ने लगा तो यह मेवाड़ का परित्याग करके मेड़ता आ गईं और अपने चाचा वीरमदेव तथा चचेरे भाई जयमल के साथ रहने लगीं। मेड़ता का

1 मीरां का जीवन-चरित्र पृष्ठ १४

वातावरण मीरां की इच्छा के अनुकूल था फलतः मीरां का समय आनन्द से कटने लगा। इनकी भक्ति-भावना को किसी भी प्रकार की ठेस पहुंचाने का प्रयास नहीं किया गया। मीरां एकाग्र चित्त से अपनी भक्ति और सन्तों की सेवा में जुट गई। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' से ज्ञात होता है कि मीरां के यहाँ हर समय साधु-सन्तों की भीड़ लगी रहती थी—

'तहाँ हरिवंश व्यास आदि दै विशेष सह वैष्णव हुते। सो काहू कों आये आठ दिन काहू कों आये दस दिन काहू कों आये पन्द्रह दिन हुते। तिनकी बिदा न भई हुती।'[1]

मेड़ता-त्याग

संवत १५८८ वि से ही जोधपुर और मेड़ता के मध्य शत्रुता चल रही थी इसलिए राव मालदेव ने संवत् १५९५ वि० को आक्रमण करके वीरमदेव को परास्त कर दिया और मेड़ता अपने अधिकार में कर लिया। मेड़ता की इस पराजय से मीरां की समस्त भावनाएं आहत हो गईं और वे मेड़ता को छोड़कर वृन्दावन के लिए चल दीं।

वृन्दावन निवास

यह प्रश्न निर्विवाद नहीं है कि मीरां वृन्दावन में रही थीं अनेक विद्वानों ने मीरां के वृन्दावन-निवास को अमान्य ठहराया है किन्तु भक्त-विषयक-साहित्य में इस विषय की खूब चर्चा की गई है और मीरां के वृन्दावन-निवास की पुष्टि की गई है। कहते हैं कि जीवगोस्वामी का यह प्रण था कि वे स्त्रियों से साक्षात्कार नहीं करेंगे। जब मीरां वृन्दावन पहुँचीं और जीवगोस्वामी के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की तो गोस्वामी ने कहला भेजा कि वे स्त्रियों से नहीं मिलते। इस पर मीरां ने उत्तर भिजवाया कि ब्रज के पुरुष तो केवल कृष्ण ही हैं। अन्य सब गोपी-रूप स्त्रियां हैं। इस उत्तर से गोस्वामी का प्रण भंग हो गया और वे नंगे पैर मीरां के स्वागत के लिए दौड़ पड़े। इस घटना का वर्णन प्रियादास ने इस प्रकार किया है—

'वृन्दावन आई जीव गुसाई जू सों मिलि झिलि
तिया मुख देखिबे को पन लै छुटायो है।'

नागरीदास ने भी इस घटना का उल्लेख किया है।[2] कुछ लोगों का यह भी मत है कि यहीं मीरां का महाप्रभु चैतन्य से साक्षात्कार हुआ था किन्तु

---

1 चौरासी वैष्णवन की वार्ता (वेंकटेश्वर) पृष्ठ १४२

1 'तहाँ जीऊ गुसाई जू को प्रण स्त्री के न देखिये को छुड़ाय ...'

यह मत अनैतिहासिक है क्योंकि संवत् १५७१ में महाप्रभु वृन्दावन पधारे थे और तब मीरां मेवाड़ के राजमहलों मे नवपरिणीता के रूप में निवास कर रही थीं।

द्वारिका-वास—

यद्यपि वृन्दावन का वातावरण उसका प्राकृतिक सौन्दर्य मीरां के अनुकूल था किन्तु वहाँ भी वह अधिक न ठहर सकी और संवत् १६०० वि० के लगभग वृन्दावन का त्याग कर इन्होंने द्वारिका की ओर प्रस्थान किया। मीरां ने वृन्दावन क्यों छोड़ा इसका संकेत प्रियादास ने इन शब्दों में दिया है—

"राना की मलीन मति देखी बसी द्वारावती।

सम्भवतः यह राणा विक्रमादित्य था जो मीरां की भक्ति भावना से बहुत ही चिढ़ा हुआ था।

मीरां के द्वारका-वास के समय ही इनके चचेरे भाई जयमल ने फिर मेड़ता को प्राप्त कर लिया था और वह मीरां को वहीं लाना चाहता था। जयमल ने अनेक प्रयत्न किए, किन्तु मीरां से द्वारका छोड़ते न बनी। हारकर जयमल ने अपने कुछ पुरोहितों को भेजा जो मीरां के द्वार पर धरना देकर बैठ गए। मामरीदास के शब्दों में—

'द्वारिका पहुँचे तहाँ कोई दिन रहे तो पीछे मीरांबाई के पास प्रोहितादिक नै राना के लोक हे तिन कह्यो अब बहुत दिन भये हैं, अब देश को चलो राना की आज्ञा है अरु हो लोग तो कह्यो फिर मीरांबाई नहिं धरना दियो।

किन्तु मीरां ने द्वारिका न छोड़ी और वहीं एक किंवदन्ती के अनुसार, रणछोड़जी की मूर्ति में समा गई—

'तब मीरांबाई ठाकुर श्री रणछोड़ जू सौं विदा हू वे कों मंदिर में अकेले ही जाय अरु आरति सहित एक नयो पद बनाय गायो। सो यह पद गावै है तत तन में टरे तब महा आरति प्रभावत सहित एक और पद बनाय गायो तब ही ठाकुर आप में उनको वाही सरीर तें लीनें करि लीने देह हू न रही।'

यह कथा मीरां-भक्तों की गढ़ी हुई है इसमें हा मन नहीं हो सकते और न इस तक प्रधान युग में ही इस पर विश्वास किया जा सकता है। अतः यह कहना कि मीरां की मृत्यु किस प्रकार हुई ऐतिहासिक गवेषणा की उपेक्षा करना है।

मृत्यु तिथि—

मीरां की जन्म-तिथि की भांति इनकी मृत्यु-तिथि भी निर्विवाद नहीं है। मुंशी देवीप्रसाद मूरदान नायक भाट के वक्तव्य के आधार पर सं० १६०३

राधाकृष्णदास सं० १६११ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सं १६२ से १६३ के मध्य महावीरसिंह गहलौत सं० १६०२ वियोगीहरि सं० १६२५ के बाद और डॉ श्रीकृष्णलाल सं १६३० को इनकी मृत्यु-तिथि मानते हैं। भक्त-विषयक साहित्य के अन्तर्गत हमें मीराँ का संवत् १६२२ तक जीवित रहने का प्रमाण मिलता है। अत डॉक्टर श्रीकृष्ण के अनुसार इनकी मृत्यु तिथि संवत् १६३० स्वीकार करना ही युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

सारांश

उपयुक्त विवेचन का सारांश यह है कि मीराँबाई का जन्म संवत् १५५० के लगभग कुड़की नामक ग्राम में हुआ था। ये जोधपुर के संस्थापक सुप्रसिद्ध राठौर राजा राव जोधाजी के पुत्र राव दूदाजी की पोती तथा राव रत्नसिंह की इकलौती पुत्री थी। इन्हें माता की ओर का मधुर प्यार अधिक दिनों तक न मिल सका था अर्थात् इनके बचपन में ही इनकी माँ की मृत्यु हो गई थी। इनके पिता भी एक लड़ाई में वीरोचित वीर-गति को प्राप्त हो गये थे। फलतः इनका पालन-पोषण राव दूदाजी के संरक्षण में ही मेड़ते में हुआ था। राव दूदा जी अनेक उलझनों में उलझे रहे इसलिए इनकी शिक्षा का समुचित तथा अपेक्षित प्रबन्ध न हो सका।

इनका विवाह संवत् १५७३ वि० में मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र राजकुमार भोजराज के साथ हुआ था। भोजराज बहुत ही शान्त स्वभाव के थे किन्तु धार्मिकप्रियता इनकी वीरता में बाधक न थी।

माता पिता तथा पति के देहावसान ने मीराँ के मन को झकझोर दिया था। इन्हें संसार से एकदम विरक्ति हो गई। बचपन में जिस कृष्ण भक्ति के बीज इनके मन में अंकुरित हुए, अवसर पाकर भली भाँति फल-फूल उठे। ये रात-दिन कृष्णभक्ति में ही लीन रहने लगीं। इस तल्लीनता के कारण इन्हें अपने देवर से अनेक अमानुषिक यन्त्रणाएँ मिलीं। ये यन्त्रणाएँ भी मीराँ को इनके भक्ति-पथ से विचलित न कर सकीं।

रैदास को मीराँ का गुरु बताया जाता है, किन्तु यह रैदास कोई व्यक्ति विशेष नहीं बरन् जातिवाचक संज्ञा का बोधक है। सम्भवतः यह व्यक्ति कोई रैदास-सम्प्रदायी होगा।

जब मीराँ को दी जाने वाली यातनाएँ इनकी भक्ति में बाधा सिद्ध होने लगीं तो इन्होंने मेवाड़ त्याग दिया और मेड़ते आ गईं। मेड़ते का वातावरण भी इन्हें अनुकूल न लगा फलतः ये वृन्दावन और द्वारिका पहुँचीं। यहीं पर संवत् १६३० के लगभग इन्होंने इहलोक की लीला समाप्त की।

मीराँ की रचनाएँ-

मीराँ रचित कितनी पुस्तकें हैं, इस विषय में न तो विद्वानों में मतैक्य ही है और न उचित गवेषणा के अभाव में अधिकारपूर्वक ही कुछ कहा जा सकता है। इस विषय में सर्वप्रथम प्रयास मुंशी देवीप्रसाद ने किया और 'राजपूताने में हिन्दी-पुस्तकों की खोज' के अन्तर्गत मीराँ की इन चार रचनाओं को स्वीकार किया—

१ गीत-गोविन्द की टीका।
२ नरसीजी रो माहेरो।
३ फुटकर पद।
४ राग सोरठ-संग्रह।[1]

इसके पश्चात् महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने निम्न लिखित दो और पुस्तकों को मीराँ-रचित माना—

१ राग गोविन्द।
२ मीराँ की मलार (मल्हार)

इन छः पुस्तकों के अतिरिक्त झवेरी महाशय ने गुजरात में प्रचलित गर्बा-गीतों का भी मीराँ की कृति स्वीकार किया। इस प्रकार मीराँ की निम्नलिखित चार पुस्तकें मानी जाती हैं—

१ गीत-गोविन्द की टीका।
२ नरसीजी रा माहेरो।
३ फुटकर पद।
४ राग सोरठ-संग्रह

1 राजपूताने में हिन्दी-पुस्तकों की खोज पृष्ठ २ ६ [illegible] १७

५ राग गोविन्द ।
६ मीराँ की मल्हार ।
७ गर्बा गीत ।
८ मीराँ की पदावली

गीतगोविन्द की टीका

गीतगोविन्द संस्कृत के पीयूषवर्षी महाकवि जयदेव की रचना है जो अपनी मधुरता एवं सरसता के लिए विख्यात है। उपर्युक्त पुस्तक इसी कृति की टीका है। वस्तुतः यह टीका महाराणा कुम्भा ने रची थी किन्तु भूल से इसे मीराँ की मान लिया गया। इसे मीराँ रचित न मानने का यह कारण भी स्पष्ट है कि मीराँ की शिक्षा इतनी नहीं थी कि इसका अनुवाद कर सकें।

नरसीजी रो माहरो

माहरा का अर्थ है भात देना। इस पुस्तक में नरसी भक्त की भात देने की कहानी पद्य-भाषा में वर्णित की गई है। स्वर्गीय मुंशी देवीप्रसाद ने इस पुस्तक के कुछ अंश भी प्रकाशित किये थे। आदि मध्य और अन्त के अंश ये हैं—

आदि—

गणपति कृपा करो गुण सागर जन की बस शुभ गाय सुनाऊँ।
पश्चिम दिशा प्रसिद्ध धाम शुभ श्री रणछोड़ निवासी।
नरसी को माहेरो मंगल गावे मीराँ दासी ॥१॥
जाकी वंश जनम मम जानो नगर मेड़ते वालो।
नरसी को यश वरन सुनाऊँ नाना विध इतिहासो ॥२॥
सखा आपने संग सु लीन मन्दिर पे आए।
भक्ति कथा आरम्भी सुन्दर हरि गुण लील गवाए ॥३॥
जो मंगल को देन दयालु तन्मय के जग तारो।
जो नरसी सों भयो कौन विधि कहो महिराज कुवारी ॥४॥
हूँ प्रसन्न मीराँ तब भाख्यौ सुन सखि मिथुला नामा।
नरसी को विध गाय सुनाऊँ, सारे सब ही कामा ॥५॥

मध्य—

सोवत ही पलका में मैं तो पल लागी पल में पिऊ आए।
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूँ जाग परी पिउ ढूँढ न पाए॥
और सखी पिव सोय गमाए, मैं जु सखी पिव जागि गमाए।
आज की बात कहा कहूँ सजनी सपना में हरि लेत बुलाए।
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी आज भए सखि मन के भाए॥

अन्त—

जो माहरो सुनेक गुनिहैं बाँचे अधिक बनाय।
मीराँ कहै सत्य करि मानो भक्ति मुक्ति फल पाय॥

'नरसीजी रो माहेरो' यह पुस्तक मीराँ-रचित नहीं हो सकती इसके लिए दो तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। पहला तर्क है भाषा-विषयक। इस पुस्तक की भाषा का परीक्षण करने से यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि मीराँ की भाषा और इस भाषा में साम्य नहीं है। इसकी भाषा में खड़ी बोली और ब्रजभाषा का मिश्रण है, जबकि मीराँ के प्रामाणिक माने जाने वाले पदों की भाषा में राजस्थानी भाषा का गहरा प्रभाव है और यह प्रभाव मीराँ के लिए स्वाभाविक भी है। दूसरा तर्क है प्रमाण-विषयक। अभी तक इस कृति की कोई प्रामाणिक प्रति भी उपलब्ध नहीं हो सकी है, जिसके आधार पर इसके विषय में कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सके। डॉ॰ श्रीकृष्णलाल का अनुमान है कि यह कृति मीराँ की प्रारम्भिक रचना होगी।[1] यह अनुमान भी तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। इसका कारण है कि मीराँ के पदों में भावावेश की जो अजस्र धारा मिलती है उसका इस रचना में एकदम अभाव है, बल्कि उसके अंकुर भी इस में परिलक्षित नहीं होते इस मीराँ की कृति मानने का यह कारण सम्भव है। कि राजस्थानी भाषा में इस विषय पर किसी मनकहारे की एक प्रसिद्ध रचना कही जाती है उसी प्रसिद्धि के आधार पर किसी ने मीराँ के नाम से इस कृति का प्रणयन कर दिया होगा क्योंकि स्थान-स्थान पर 'मीराँ' शब्द का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि लेखक इसे मीराँबाई की कृति सिद्ध करने के लिए आवश्यकता से अधिक जागरूक है। वैसे साहित्यिक दृष्टि से भी इस रचना का कोई महत्त्व नहीं है।

---

१ मीराँबाई पृष्ठ ८०

फुटकर पद

इस संग्रह का दूसरा नाम प्रकीर्णक पद भी पाया जाता है। यह मीराँबाई के पदों के साथ-साथ अन्य भक्त-कवियों के पदों का संग्रह भी है। यह मीराँ की स्वतन्त्र पुस्तक न होकर सब भक्त-कवियों के कुछ पदों का संग्रह है। इससे यह स्पष्ट है कि यह मीराँ की कृति नहीं वरन् एक संग्रहमात्र है जिसमें मीराँ के पद भी संग्रहीत हैं।

राग सोरठ-संग्रह

फुटकर पद-संग्रह की भाँति यह कृति भी पदों का संग्रह-मात्र है। इसमें कबीर नामदेव और मीराँ के उन्हीं पदों का संग्रह है जिनकी रचना राग-सोरठ में हुई है। राग-सोरठ भक्त-कवियों का अत्यन्त प्रिय राग रहा है। इसी प्रियता के वशीभूत होकर किसी भक्त ने उपर्युक्त पुस्तक में राग-सोरठ के सुन्दर पदों को संग्रहीत कर दिया है। अतः यह कृति भी कोई स्वतन्त्र रचना नहीं है। इसीलिए इसे भी मीराँ की रचना नहीं माना जा सकता।

राग गोविन्द

महामहोपाध्याय पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने सर्वप्रथम इस पुस्तक का उल्लेख किया था और इसी आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इसे मीराँ की कृति मान लिया है।[1] किन्तु यह रचना भी केवल मीराँ के पदों का संग्रह ही प्रतीत होती है। ऐसा ज्ञात होता है कि मीराँ के जिन पदों में गोविन्द का गुण-गान किया गया है उन्हें ही इस संकलन में संग्रहीत कर दिया गया है। स्वतन्त्र पुस्तक न होने के कारण इसको मीराँ की रचना मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

मीराँ की मलार

मलार या मल्हार एक प्रकार का लोकगीत है जो ग्रामीण जीवन में बहुत प्रचलित है। इस पुस्तक की कोई प्रति अथवा उसका कोई अंश उपलब्ध नहीं होता अतः इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हाँ इतना निश्चित

---

1 हिन्दी साहित्य का इतिहास पृष्ठ १८५

कि मीराँ ने इस प्रकार की किसी रचना की रचना नहीं की होगी बल्कि
मीराँ के कुछ विशिष्ट पदों का इसमें संग्रह किया गया होगा।

गरबागीत

श्री झवेरी महोदय ने इस पुस्तक को मीराँ-रचित माना है। गुजरात में
गर्बा गीतों का बहुत अधिक प्रचलन है। इन गीतों की तर्ज पर आधुनिकता
का गहरा प्रभाव है और भाषा का रूप भी बहुत सीमा तक आधुनिक ही है
अतः इसे मीराँ की रचना कहना अमान्य ही है।

मीराँ की पदावली

मीराँ की भावातिशयता लोक-प्रियता एवं मार्मिक अभिव्यक्ति जहाँ एक ओर मीराँ के आलोचक को भाव-विभोर कर देती है वहाँ दूसरी ओर एक अत्यन्त दुरूह समस्या भी उत्पन्न कर देती है। समस्या है मीराँ के वास्तविक एवं प्रामाणिक पदों का चयन। मीराँ के पदों में इतने प्रक्षेपक जुड़े हुए हैं कि पृथ्वीराज रासो को छोड़कर हिन्दी की और कृति में इतने क्षेपक नहीं जुड़े। यही कारण है कि मीराँ के पद भारत की अनेक भाषाओं में उपलब्ध होते हैं और प्रत्येक भाषा-भाषी उनकी प्रामाणिकता का दावा करता है। इसलिए अब तक मीराँ के पदों के अनेक संग्रह मिलते हैं और सभी की पद-संख्या भिन्न भिन्न है।

सबसे पहले मीराँ के पदों का संग्रह बंगाल में श्री कृष्णानन्द व्यास ने 'रागसागर' के नाम से किया। इसमें पदों की संख्या ४५ थी। ये पद बंगाल गुजरात और राजस्थान में प्रचलित गीतों के आधार पर संग्रहीत किए गए थे। हिन्दी में मीराँ के पदों का सर्वप्रथम संग्रह 'मीराँबाई के भजन' नाम से नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित किया था। इसमें अधिकांश के पद थे जिन्हें आज निश्चित रूप से अप्रामाणिक स्वीकार कर लिया गया है। इसी समय गुजरात में 'बृहत् काव्य दोहन' नाम से एक बृहद् ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ। इसमें मीराँ के पदों की संख्या २०० से अधिक थी। इसके पश्चात् बेलवेडियर प्रेस प्रयाग से 'मीराँबाई की शब्दावली' का प्रकाशन हुआ। इसमें मीराँ के पदों की संख्या १९८ स्वीकार की गई है। इसके पश्चात् अनेक मीराँ विषयक ग्रन्थ प्रकाशित हुए जिनमें श्री महावीर सिंह गहलोत का 'मीराँ जीवनी और काव्य

मीराँ का सम्प्रदाय[1]

मीराँ किस सम्प्रदाय में दीक्षित हुई थीं ? यह प्रश्न अभी तक विवादास्पद बना हुआ है। इस विवाद का कारण यह है कि मीराँ के पदों में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होते हैं। मीराँ को प्रभावित करने वाले तीन सम्प्रदाय प्रमुख हैं—

१ नाथ-सम्प्रदाय
२ सन्त-सम्प्रदाय
३ वैष्णव-सम्प्रदाय

नाथ-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) माने जाते हैं। इस सम्प्रदाय की साधना-पद्धति को हठयोग कहते हैं। हठयोग की व्याख्या दो प्रकार से की गई है। प्रथम प्रकार में 'ह' का अर्थ सूर्य और 'ठ' का अर्थ चन्द्रमा है। सूर्य से तात्पर्य प्राणवायु का है और चन्द्रमा से अपानवायु का। इन दोनों का योग अर्थात् प्राणायाम से वायु का निरोध ही हठयोग कहलाता है। दूसरे प्रकार से सूर्य का अर्थ है इडा नाड़ी और चन्द्रमा का अर्थ है पिंगला नाड़ी। इस प्रकार हठयोग का अर्थ हुआ—इडा और पिंगला नाड़ी को रोककर सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से प्राण संचारित करना। हठयोग के दो भेद माने गए हैं। प्रथम में आसन प्राणायाम तथा धौती आदि षटकर्मों का विधान है। इससे नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं और उनमें पूरित वायु मन को निश्चल बनाता है। द्वितीय भेद में नासिका के अग्रभाग में दृष्टि निबद्ध करके आकाश में कोटि सूर्य के प्रकाश का स्मरण और श्वेत रक्त पीत तथा कृष्ण रंगों के ध्यान का विधान है। यही सिद्ध सेवित मार्ग हठयोग कहलाता है।

मीराँ के पदों में इस सम्प्रदाय का विवेचन पूर्वक प्रयोग दृष्टिगोचर नहीं होता केवल 'जोगी' और 'जोगिन' जैसे शब्दों का प्रयोग ही दिखाई देता है—

'जोगी मत जा मत जा मत जा पाँइ पड़ूँ मैं तेरी चेरी हौं।
प्रेम भगति को पैड़ो ही न्यारो हमकूँ गैल बता जा।

---

१ मीराँबाई पृ

अगर चन्दन की चिता बणाऊँ, अपने हाथ जला जा ॥
जल बल भई भस्म की ढेरी अपने अंग लगा जा ।
मीरां कहै प्रभु गिरधरनागर जोत में जोत मिला जा ॥

इस पद में यदि वे 'जोगी' को जाने से रोकती हैं तो निम्नलिखित पद में कवयित्री स्वयं 'जोगिन' बन जाना चाहती है—

तेरे खातिर जोगण हूँगी करवत लूँगी कासी ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, चरण कँवल की दासी ॥

और उस 'जोगण' का वेश क्या होगा यह भी मीरां के शब्दों में ही देखिये—

अंग भभूत गले मृग छाला यों तन भस्म कर री ।
अजहूँ न मिल्या राम अबिनासी बन बन बीच फिर री ॥

कहीं-कहीं 'जोगण' बनने का विचार त्यागकर मीरां हठयोग-साधना का तिरस्कार करके भाव की महत्ता का प्रतिपादन करती हैं—

तैरो मरम नहिं पायो रे जोगी ।
आसण माँडि गुफा में बैठो ध्यान हरी को लगायो ॥
गल बिच सेली हाथ हाजरियो अंग भभूति लगायो ।
मीरां के प्रभु हरि अबिनासी भाग लिख्यो सो ही पायो ॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मीरां पर जो नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव दिखाई देता है वह साम्प्रदायिक भावना के कारण नहीं अपितु भावों की स्वच्छन्द विचार-धारा में इधर उधर बह जाने के कारण है ।

सन्त-सम्प्रदाय

सन्त-सम्प्रदाय की प्रमुखतम प्रवृत्तियाँ ये हैं—

१ विधि और निषेध
२ गुरु की महत्ता की स्वीकृति
३ राम के प्रति समर्पण
४ अद्वैत भावना
५ निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन
६ जीवन और जगत् की नश्वरता

में वे इतने ही मधुर थे। इसलिए उनकी भक्ति मधुर भाव की है। र उनके लिए प्रियतम है और आत्मा प्रियतमा।

मीराँ की भक्ति भी मधुर भाव की है। मीराँ स्वयं प्रियतम की प्रिय है। वह उसके सौन्दर्य पर रीझती है मोहित होती है और उसके वि में वेदना से तड़प उठती है। कभी उसकी प्रतीक्षा में उसके पथ पर पल बिछाती है तो कभी मूसलाधार वर्षा में द्वार पर खड़ी-खड़ी भीगती है मीराँ की मधुर भक्ति सन्त कवियों की अपेक्षा अधिक मधुर और स्वाभ विक है। इसका कारण यह है कि सन्त स्वयं पर नारीत्व का आरोप करते हैं और मीराँ स्वयं नारी है।

सन्त-कवियों और मीराँ की भावना में इतना अधिक साम्य होने पर भ मीराँ को सन्त-सम्प्रदाय के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। इसका कारण य है कि सन्त-कवियों में जिस साम्प्रदायिक नियमों की परिधि में रहने का आग्रह मिलता है वह मीराँ में नहीं है। वह निर्गुण की ही नहीं सगुण ब्रह्म की भी आराधिका हैं वरन् इनका ब्रह्म सन्तों की अपेक्षा वैष्णवों के अधिक निक है क्योंकि वैष्णव-कवियों ने बाल-लीला रासलीला मान-लीला आदि माध्यम से अपने आराध्य के जो चित्र प्रस्तुत किये हैं उनका मीराँ के प में भी काफी वर्णन मिलता है। सन्त-कवियों में ऐसे वर्णन न तो मिलते हैं उनका सम्प्रदाय से इनका कोई सम्बन्ध ही है।

वैष्णव-सम्प्रदाय

मीराँ का निकटतम सम्बन्ध वैष्णव-सम्प्रदाय से है इसलिए इस सम्प्रदा की व्याख्या कुछ अधिक विस्तार की अपेक्षा रखती है।

मीराँ से पूर्व और इसके बाद तक वैष्णव-सम्प्रदाय पाँच रूपों में विभक्त हो चुका था जिनका मीराँ पर प्रभाव था। ये पाँच सम्प्रदाय हैं—

१ वल्लभ सम्प्रदाय
२ गौड़ीय सम्प्रदाय
३ राधावल्लभीय सम्प्रदाय
४ हरिदासी सखी या टट्टी सम्प्रदाय
५ निम्बार्क सम्प्रदाय

यद्यपि इन सम्प्रदायों के दर्शन-पक्ष में पर्याप्त अन्तर है तथापि कुछ बा

समान है। इन समानताओं को डॉ॰ ब्रजेश्वर वर्मा के शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

'सामान्य रूप से दार्शनिक पक्ष में सभी कृष्ण-भक्ति-सम्प्रदाय ब्रह्म की सगुणता का प्रतिपादन करते हैं, सभी ब्रह्म की परिपूर्णता उसके रस या परम आनन्दमय रूप ही में मानते हैं जिसे साक्षात् श्रीकृष्ण कहा गया है। इस प्रकार सभी श्रीकृष्ण ब्रह्म की अद्वैतता के साथ-साथ आंशिक द्वैतता को भी स्वीकार करते हैं। सभी ने श्रीकृष्ण को भगवान् मानकर उनमें अपने-अपने भक्ति-भाव के अनुसार मानवीय गुणों का आरोप किया है। भगवान् श्रीकृष्ण के परम धाम को गोलोक या वृन्दावन कहकर उसकी नित्यता तथा परम आनन्दमयता का प्रायः सभी सम्प्रदायों में मोहक वर्णन किया गया है तथा उसके जड़-चेतन—गोप गोपी यमुना वन वृक्ष लता कुञ्ज आदि—सभी उपकरणों को श्रीकृष्ण से अभिन्न बताया गया है। राधा-वल्लभी मत में पार्थिव वृन्दावन को ही श्रीकृष्ण का नित्य धाम बताकर राधाकृष्ण और सहचरीगण को अभिन्न तत्त्व कहा गया है।'[1]

इस उद्धरण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१ श्रीकृष्ण ही पूर्णब्रह्म हैं जो सगुण और रस-रूप हैं।
२ जीव और श्रीकृष्ण का सम्बन्ध द्वैताद्वैत है।
३ वृन्दावन श्रीकृष्ण का परमधाम है जो नित्य और परम आनन्दमय है।
४ वृन्दावन की सजीव और निर्जीव प्रकृति श्रीकृष्ण से अभिन्न है।

१ श्रीकृष्ण—वैष्णव कवियों ने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म तो माना पर उसकी सगुण रूप में अवतारणा की। इसका कारण यह है कि 'रूप रेख, गुन जाति जुगति बिनु' ब्रह्म उन्हें प्रिय न लगा वह केवल मन को तर्क-वितर्कों में उलझाने वाला था अतः इन्होंने साकार कृष्ण को ही ग्रहण किया और इस पर भी उनके सम्पूर्ण जीवन को न लेकर आंशिक जीवन पर ही अपने काव्य को सीमित रखा। कृष्ण की रूप-माधुरी और रसिकता ही उन्हें अधिक आकृष्ट कर सकी। मीरां में भी कृष्ण के ये दोनों रूप मिलते हैं। वे कृष्ण की रूप-छबि पर रीझकर गा उठती है—

1 हिन्दी-साहित्य द्वितीय-खंड पृष्ठ ३४३

'हो-कांनां किण गूंथी जुल्फां कारियां।
सुघर कला प्रवीण हाथन सूं जसुमति जू ने सवारियां॥
जो तुम आओ मेरी बाखरियां जरि राखूं चन्दन किवारियां।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर इण जुल्फन पर वारियां॥

बाल-छवि की अपेक्षा मीरां ने कृष्ण के यौवन का अधिक वर्णन किया है। यौवन के सौन्दर्य के कारण गर्व से भरे उस कृष्ण को देखते ही इनका मन फँस जाता है और यह लोक-लाज को तिलांजलि देकर कह उठती है—

हेरी मा नन्द को गुमानी म्हारे मनड़े बस्यो।
गहे द्रुम डार कदम की ठाड़ो मृदु मुसकाय म्हारी ओर हँस्यो।
पीताम्बर कट काछनी काछे, रतन जटित माथे मुकुट धर्यो॥
मीरां के प्रभु गिरधरनागर निरख बदन म्हारो मनड़ो फँस्यो॥

कृष्ण के इस अपार सौन्दर्य में कृष्ण-भक्तों को आनन्द का असीम पारावार मिला है। यही इनका रस-रूप है।

२ द्वैताद्वैत भाव—वैष्णव कवियों ने जीव और ब्रह्म को द्वैत तथा अद्वैत दोनों भावों से ग्रहण किया है। द्वैतभाव के अन्तर्गत विरह-वर्णन आता है। यदि यहां पर अद्वैत भावना अपना ली जाती तो फिर विरह-वर्णन के लिए स्थान ही नहीं रहता जो वैष्णव भक्ति-पद्धति की प्रमुखतम विशेषता है। मीरां भी अपने हरि के हाथ बिककर विरह-व्यथा से तड़पती है—

अखियां तरसा दरसण प्यासी।
मग जोवां दिन बीतां सजणी नैण पड्या दुखरासी।
डारा बैठ्या कोयल बोल्या बोल सुण्या री गासी॥
कड़वा बोल लोक जग बोल्या करस्यां म्हारी हांसी।
मीरा हरि रे हाथ बिकाणी जनम जनम की दासी॥

कहीं-कहीं पर मीरां में अद्वैत भावना भी पाई जाती है। यथा—

'म्हारे जाज्यो जी रामां घारे आवत आस्यां सामां।
तुम मिलियां मैं बोहो सुख पाऊँ सरै मनोरथ कामा॥
तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज घामा।
मीरां के मन अवर न माने, चाहे सुन्दर स्यामा॥

३ वृन्दावन—सभी वैष्णव कवियों ने वृन्दावन को परमधाम माना है और उसकी मन भरकर प्रशंसा की है। मीराँ ने भी इसी परम्परा के अनुसार वृन्दावन की प्रशंसा की है—

> 'आली म्हांने लागां वृन्दावन नीकाँ।
> घर घर तुलसी ठाकुर पूजां दरसण गोविन्द जी कां॥
> निरमल नीर बह्या जमनां मां भोजन दूध दही कां।
> रतन सिंघासण आप बिराज्यां मुगट धर्या तुलसी कां॥
> कुँजन कुँजन फिरयां साँवरा, सबद सुण्यां मुरली कां।
> मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर भजण बिना नर फीकां॥'

अब तक हमने वैष्णव-सम्प्रदाय की दार्शनिकता का संक्षिप्त विवरण दिया है। अब देखना यह है कि इस सम्प्रदाय की साधना-पद्धति कैसी है और मीराँ की साधना-पद्धति से उसमें कितना साम्य एवं वैषम्य है।

वैष्णव-सम्प्रदाय की साधना-पद्धति को निम्नलिखित वर्गों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

१ कृष्ण और राधा की आराधना
२ नवधा भक्ति का प्रतिपादन
३ माधुर्य भाव
४ अनन्य भाव

१ कृष्ण और राधा—वैष्णव-सम्प्रदाय में सभी सम्प्रदाय वालों ने कृष्ण और राधा की पूजा-अर्चना का विधान किया है। यह बात दूसरी है कि किसी सम्प्रदाय ने कृष्ण को अधिक माना है और किसीने राधा को। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि मीराँ के आराध्य कृष्ण हैं जिनकी रूप-छवि का प्रेम और लीलाओं का मीराँ ने विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु राधा का वर्णन कुछक पदों में ही हुआ है और ... उनका भी स्वतन्त्र रूप से न होकर कृष्ण के साथ ही हुआ है। [illegible]

> 'आवत मोरी गलियन में गिरधारी
> मैं तो छुप गई लाज की मारी।
> × × ×
> कुसुमी राधा प्यारी अरज करत है सुणजे किसन मुरारी।
> मीराँ के प्रभु गिरधरनागर चरण कमल पर वारी॥

और कहीं-कहीं राधा का नाम न लेकर केवल संकेत कर दिया है—

'होरी खेलत हैं गिरधारी।
× × ×
संग जुवती ब्रज-बाल कान्ह संग स्यामा प्राण पियारी।
गावत चार धमार राग तहँ दै दै कल करतारी॥

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि मीराँ ने राधा का वर्णन इतना कम क्यों किया? इसका कारण यह है कि मीराँ ने स्वयं को ही राधा के स्थान पर रख लिया है अर्थात् राधा भाव से अनुप्राणित होकर अपनी पद-रचना की है अतः राधा का नाम कम आना स्वाभाविक है। यही मीराँ के काव्य की एकान्त विशेषता है।

२ नवधा भक्ति—वैष्णव-भक्ति में नवधा भक्ति की बहुत मान्यता है। श्रवण कीर्तन स्मरण चरण-सेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्म निवेदन नवधा भक्ति के भेद हैं। मीराँ के काव्य में ये सभी प्रकार मिल जाते हैं। यह कभी कृष्ण की महिमा का वर्णन सुनाती है तो कभी स्वयं उस महिमा का वर्णन करती है। कभी उनके नाम का स्मरण करती है तो कभी प्रह्लाद आदि भक्तों का उद्धार करने वाले चरण-कमलों का गुण-गान करती है। अपनी दीनता को मीराँ ने अपने आराध्य के सम्मुख प्रकट कर दिया है, क्योंकि वह जानती है कि कृष्ण जैसा 'अशरणशरण' भी तो कोई दूसरा नहीं है। मीराँ की भक्ति दाम्पत्य भाव की है इसलिए वह बार-बार अपने आराध्य को स्मरण दिलाती है कि वह उनकी 'जनम-जनम की दासी' है।

अतः कहा जा सकता है कि मीराँ के काव्य में नवधा भक्ति का पूर्ण परिपाक मिलता है।

३ माधुर्य भाव—कृष्ण भक्तों में माधुर्य भाव की भक्ति का अधिक प्रचलन रहा है। चैतन्य महाप्रभु स्वयं को राधा का रूप मानते थे और हरिदासी सम्प्रदाय तो सखी सम्प्रदाय से ही प्रसिद्ध है। यह भक्ति कान्ता भाव से की जाती है। मीराँ की भक्ति भी इसी प्रकार की है और यह होना स्वाभाविक था। एक नारी इसके अतिरिक्त और किसी भक्ति-पद्धति को अपना भी तो नहीं सकती थी। यहाँ पर यह भी उल्लेख्य है कि मीराँ के कान्ता भाव में जो

सामाजिकता है वह अन्य पुरुष कृष्ण-भक्तों में नहीं मिलती क्योंकि स्वयं नारी होना और नारीत्व का आरोपण करना दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

४ अनन्य भाव—कृष्ण-भक्तों की भक्ति अनन्य भाव की है अर्थात् वे कृष्ण को छोड़कर और किसीकी स्तुति नहीं करते। सूरदास ने इसी भाव की अभिव्यक्ति करते हुए कहा है कि कृष्ण कामधेनु के समान हैं और अन्य देव छेरी के समान। कृष्ण की भक्ति अम्बुज रस है अन्य देवों की भक्ति करील फल के समान है इसलिए कृष्ण की भक्ति को छोड़कर अन्य देवों की उपासना करना मूर्खता है—

'जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो क्यों करील फल खाव।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावे ?

मीरां के काव्य में भी यह अनन्य भावना मिलती है—

'मोरां लागो रंग हरी और न रंग अटक परी।
× × ×
चोरी न करस्यां जिव न सतास्यां कांई करसी म्हारो कोई।
गज से उतर के खर नहिं चढ़स्यां ये तो बात न होई ॥'

मीरां कृष्ण-भक्ति से विमुख होने को हाथी से उतरकर गधे पर चढ़ने के समान मानती हैं। एक अन्य पद में यह स्पष्ट घोषणा करती हैं कि अपना 'कायर' और 'कुष्टी' वर ही भला होता है—

'कायर अपनो ही भलो है जामें निपजै चोर।
धोल विरानो लाख को है, अपने काम न होइ ॥
ताके संग सोबारतां है, भला न कहसी कोइ।
वर हीनो अपनो भला है कोढ़ी कुष्टी कोइ ॥'

मीरां के मत से अनन्य भाव की भक्ति ही 'भगति की रीत' है।

वैष्णव-सम्प्रदाय से इतना अधिक साम्य होने पर मीरां को इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि मीरा की भक्ति का मूल वैष्णव भक्ति से भिन्न है अर्थात् अन्य वैष्णव कवियों का व्यक्तित्व राधा-कृष्ण के आवरण में ढँक गया है, जबकि

और कहीं-कहीं राधा का नाम न लेकर केवल संकेत कर दिया है—

/ होरी खेलत है गिरधारी।

× × ×

हँस हँस बोले नवल कान्ह संग स्यामा प्राण पियारी।
गावत चार धमार राग तह दे दे कल करतारी॥'

अब प्रश्न यह उठ सकता है कि मीरां ने राधा का वर्णन इतना कम क्यों किया ? इसका कारण यह है कि मीरां ने स्वयं को ही राधा के स्थान पर रख लिया है अर्थात् राधा भाव से अनुप्राणित होकर अपनी पद-रचना की है, अत राधा का नाम कम आना स्वाभाविक है। यही मीरां के काव्य की एकान्त विशेषता है।

२ नवधा भक्ति—वैष्णव-भक्ति में नवधा भक्ति की बहुत मान्यता है। श्रवण कीर्तन स्मरण चरण-सेवन अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्म निवेदन नवधा भक्ति के भेद हैं। मीरां के काव्य में ये सभी प्रकार मिल जाते हैं। वह कभी कृष्ण की महिमा का वर्णन सुनाती है तो कभी स्वयं उस महिमा का वर्णन करती है। कभी उनके नाम का स्मरण करती है तो कभी प्रह्लाद आदि भक्तों का उद्धार करने वाले चरण-कमलों का गुण-गान करती है। अपनी दीनता को मीरां न अपने आराध्य के सम्मुख अनावृत कर दिया है क्योंकि वह जानती है कि कृष्ण जैसा 'करुणागार' भी तो कोई दूसरा नहीं है। मीरां की भक्ति दाम्पत्य भाव की है इसलिए वह बार-बार अपने आराध्य को स्मरण दिलाती है कि वह उनकी 'जनम-जनम की दासी' है।

अत कहा जा सकता है कि मीरां के काव्य में नवधा भक्ति का पूर्ण परिपाक मिलता है।

३ माधुर्य भाव (कान्ता)—कृष्ण भक्तों में माधुर्य भाव का भक्ति का अधिक प्रचलन रहा है। चैतन्य महाप्रभु स्वयं को राधा का रूप मानते थे और हरिदासी सम्प्रदाय तो सखी सम्प्रदाय से ही प्रसिद्ध है। यह भक्ति कान्ता भाव से की जाती है। मीरां की भक्ति भी इसी प्रकार की है और यह होना स्वाभाविक था। नव नारी इसके अतिरिक्त और किसी भक्ति-पद्धति को अपना भी तो नहीं सकती थी। यहां पर यह भी उल्लेख्य है कि मीरां के कान्ता भाव में जो

स्वाभाविकता है, वह अन्य पुरुष कृष्ण-भक्तों में नहीं मिलती क्योंकि स्वयं नारी होना और नारीत्व का आरोपण करना दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है।

४ अनन्य भाव—कृष्ण भक्तों की भक्ति अनन्य भाव की है अर्थात् वे कृष्ण को छोड़कर और किसीकी स्तुति नहीं करते। सूरदास ने इसी भाव की अभिव्यक्ति करते हुए कहा है कि कृष्ण कामधेनु के समान हैं और अन्य देव छेरी के समान कृष्ण की भक्ति अम्बुज रस है, अन्य देवों की भक्ति करील फल के समान है इसलिए कृष्ण की भक्ति को छोड़कर अन्य देवों की उपासना करना मूर्खता है—

'जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावे।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावे ?

मीरां के काव्य में भी यह अनन्य भावना मिलती है—

'मीरां लागो रंग हरी औरन रंग अँटक परी।
× × ×
चोरी न करस्यां जिव न सतास्यां कांई करसी म्हांरो कोई।
गज से उतर के खर नहिं चढ़स्यां ये तो बात न होई ॥'

मीरां कृष्ण-भक्ति से विमुख होने को हाथी से उतरकर गधे पर चढ़ने के समान मानती हैं। एक अन्य पद में यह स्पष्ट घोषणा करती हैं कि अपना 'कामर' और 'कुण्टी' वर ही भला होता है—

'कामर अपणो ही भलो है जामें निपजै चीज।
इस बिराणी लाल की है अपणे काम न हीज ॥
ताके संग सोवारतां है भला न कहसी कोइ।
वर हीणों अपणों भला है कोढ़ी कुष्टी कोइ ॥

मीरां के मत से अनन्य भाव की भक्ति ही 'सगति की रीत' है।

वैष्णव-सम्प्रदाय से इतना अधिक साम्य होने पर मीरां को इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी नहीं रखा जा सकता। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि मीरां की भक्ति का मूल वैष्णव-भक्ति से भिन्न है अर्थात् अन्य वैष्णव कवियों का व्यक्तित्व राधा-कृष्ण के आवरण में ढँक गया है, जबकि

मीरां का व्यक्तित्व मुखरित है। यही भाव प्रो० घरिभूषणनाथ 'गुप्त' ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'मीरां की अपनी निजी आसक्ति (वेदना) राधाकृष्ण की प्रेम-लीला के आवरण में किंचित् मात्र भी नहीं ढक सकी। उन्होंने जिस प्रेम का उल्लेख किया है वह उनका अपना अपने 'प्रियतम' के लिए प्रेम है जो 'प्रीतम' है उनके 'जनम मरन का साथी'। यही मीरां के गान में उनकी निजि अनुभूति का जो अपरोक्ष रूप है वह अन्य किसी वैष्णव कवि में नहीं मिलता।[1]

दूसरा कारण है 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनेक प्रसंग जिनसे यह स्पष्ट होता है कि मीरां वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुई थी। उदाहरण के लिए यह प्रसंग देखिए—

'सो एक दिन मीरांबाई के श्री ठाकुरजी के आगे रामदासजी कीर्तन करत हुते सो रामदासजी श्री आचार्यजी महाप्रभुन के पद गावत हुते मीरांबाई बोली जो दूसरो पद श्री ठाकुरजी को गाओ तब रामदासजी ने कह्यो मीरांबाई सों जो अरे दारी रांड यह कौन को पद है। यह कहा तेरे खसम को मूड है जा जा आज से तेरो मुहड़ो कबहू न देखूंगो। तब तहां ते सब कुटुम्ब को लेकें रामदासजी उठि चले तब मीरां ने बहुतेरो कह्यो परि रामदासजी रहे नाहिं। पाछें फिरिकें वाको मुख न देख्यो। ऐसे अपने प्रभुन सों अनुरक्त हुते। सो वा दिन तें मीरांबाई को मुख न देख्यो वाकी वृत्ति छोड़ दीनी फेर वाके गाँव के आगे होय के निकसे नाहीं। मीरांबाई ने बहुत बुलाये परि वे रामदासजी आये नाहीं। तब घर बैठे भेंट पठाई सोई फेरी दीनी और कह्यो जो रांड तेरो श्री आचार्यजी महाप्रभुन ऊपर समत्व नाहीं जो हमको तेरी वृत्ति कहा करनी है।'[2]

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि मीरां की महाप्रभु वल्लभाचार्य के प्रति वैसी श्रद्धा न थी जैसी अन्य कृष्ण भक्तों की थी। अतः मीरां को वैष्णव-सम्प्रदाय में भी सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

---

1 मीरां-स्मृति ग्रन्थ पृष्ठ ८६

2. चौरासी वैष्णवन की वार्ता प्रसंग १ १९१० पृष्ठ १११ ११२

ांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मीराँ का कोई सम्प्रदाय नहीं था और वह किसी सम्प्रदाय की परिधि में बंधना ही चाहती थीं। जिस प्रकार सातीं नदी अपने कूलों की मर्यादा लंघित करके सदैव स्वच्छन्द रूप से ती है उसी प्रकार भावनाओं की छलक किसी पद्धति-विशेष की मुखापेक्षी नहीं होती। उसे अपना है वह छलकेगी और अपना मार्ग स्वयं निर्मित ती हुई बहेगी। यही बात मीराँ की भक्ति-पद्धति के विषय में भी सत्य है राँ भक्त थी और इनकी आत्मा के उद्‌गार एक सच्चे भक्त के उद्‌गार थे किस पद्धति में बहे इसका न तो मीराँ को ध्यान ही था और न इस ध्यान लिए यह विवश ही थी। यह तो एक विरहिणी की आत्मा को संकर बस त्कार कर उठती थी जिससे इन्हें परितोष मिलता था आत्मिक आनन्द प्राप्त ता था।

मीराँ का व्यक्तित्व मुखरित है। यही भाव प्रो० शशिभूषणदास गुप्त ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'मीराँ की अपनी निजी आरति (वेदना) राधाकृष्ण की प्रेम-लीला के आवरण में किंचित मात्र भी नहीं ढक सकी। उन्होंने जिस प्रेम का उल्लेख किया है वह उनका अपना अपने 'प्रियतम' के लिए प्रेम है जो 'प्रीतम' है उनके 'जनम मरन का साथी'। यही मीराँ के गान में उनकी निजि अनुभूति का जो अपरोक्ष रूप है वह अन्य किसी वैष्णव कवि में नहीं मिलता।[1]

दूसरा कारण है 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनेक प्रसंग जिनसे यह स्पष्ट होता है कि मीराँ वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं हुई थीं। उदाहरण के लिए यह प्रसंग देखिए—

सो एक दिन मीराँबाई के श्री ठाकुरजी के आगे रामदासजी कीर्तन करत हुते सो रामदासजी श्री आचार्यजी महाप्रभून के पद गावत हुते मीराँबाई बोली जो दूसरो पद श्री ठाकुरजी को गावो तब रामदासजी ने कह्यो मीराँबाई सों जो अरे दारी रौंड यह कौन को पद है। यह कहा तेरे खसम को मुंड है जो जा आज से तेरो मुहड़ो कबहू न देखूँगो। तब तहाँ से सब कुटुम्ब को लेकें रामदासजी उठि चले तब मीराँ ने बहुतेरो कह्यो परि रामदासजी रहे नाहि। पाछें फिरिकें वाको मुख न देख्यो। ऐसे अपने प्रभुन सों अनुराग हतो। सो वा दिन तें मीराँबाई को मुख न देख्यो वाकी वृत्ति छोड़ दीनी और वाके गाँव के आगे होय के निकसे नाहीं। मीराँबाई ने बहुत बुलाये परि वे रामदासजी आये नाहीं। तब घर बैठे भेंट पठाई सोऊ फेरी दीनी और कह्यो जो रौंड तेरो श्री आचार्यजी महाप्रभून ऊपर समत्व नाहीं जो हमको तेरी वृत्ति कहा करनो है।'[2]

इस प्रसंग से स्पष्ट है कि मीराँ की महाप्रभु वल्लभाचार्य के प्रति वैसी श्रद्धा न थी जैसे अन्य कृष्ण-भक्तों की थी। अतः मीराँ को वैष्णव-सम्प्रदाय में भी सम्मिलित नहीं किया जा सकता।

---

1 मीराँ-स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ ८६

2. चौरासी वष्णवन की वार्ता प्रसंग १ ११६० पृष्ठ १११ ११२

सारांश

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मीरां का कोई सम्प्रदाय नहीं था और न वह किसी सम्प्रदाय की परिधि में बंधना ही चाहती थीं। जिस प्रकार बरसाती-नदी अपने कूलों की मर्यादा लंघित करके सदैव स्वच्छन्द रूप से बहती है, इसी प्रकार भावनाओं की छलक किसी पद्धति-विशेष की मुखापेक्षी भी नहीं होती। उसे छलकना है वह छलकेगी और अपना मार्ग स्वयं निर्मित करती हुई बहेगी। यही बात मीरां की भक्ति-पद्धति के विषय में भी सत्य है। मीरां भक्त थीं और उनकी आत्मा के उद्‌गार एक सच्चे भक्त के उद्‌गार थे। वे किस पद्धति में बहें इसका न तो मीरां को ध्यान ही था और न इस ध्यान के लिए यह विषय ही थी। यह तो एक विरहिणी की आत्मा की सकरुण चीत्कार बन उठती थी जिससे इन्हें परितोष मिलता था आत्मिक आनन्द प्राप्त होता था।

मीराँ का आराध्य

मीराँ का आराध्य कौन है ? उसका स्वरूप कैसा है ? वह निर्गुण है अथवा सगुण ? ये प्रश्न विवादास्पद हैं। इसका कारण यह है कि मीराँ ने कहीं तो अपने प्रियतम को 'जोगिया' बताया है कहीं 'रमैया' और कहीं 'गिरधर गोपाल'। ये तीनों शब्द तीन विभिन्न सम्प्रदायों के प्रतीक हैं। अतः मीराँ के आराध्य का स्वरूप निर्धारित करने के लिए इन तीनों सम्प्रदायों पर विहंगम दृष्टि डालना आवश्यक है। ये सम्प्रदाय हैं—

१ नाथ-सम्प्रदाय
२ सन्त-सम्प्रदाय
३ वैष्णव-सम्प्रदाय

नाथ-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के संस्थापक शिव माने जाते हैं, जिन्हें आदिनाथ कहते हैं। यह सम्प्रदाय शैव मत की ही एक परवर्ती शाखा है। इस सम्प्रदाय में योगाभ्यास को अधिक महत्व दिया जाता है इसलिए भगवान् की प्राप्ति का साधन केवल योग माना गया है। मीराँ पर इस सम्प्रदाय का प्रभाव था। इस विषय में डॉ० बड़थ्वाल का अनुमान है कि प्रसिद्ध योगी चरपटनाथ राजपूताने के निवासी थे। उनके पश्चात् सिद्ध घुंघलीमल और गरीबनाथ राजस्थान के प्रसिद्ध योगी हुए हैं, जिनका उल्लेख नैणसी की ख्यात में मिलता है। सिद्ध घुंघलीमल का आश्रम पीरणोद में था और उनके शिष्य गरीबनाथ का लाछड़ी में। अतः राजस्थान में अवश्य ही नाथ-सम्प्रदाय की कोई परम्परा चली होगी जिसका प्रभाव मीराँ पर पड़ा होगा यही कारण है कि मीराँ के पदों में नाथ-सम्प्रदाय की शब्दावली पाई जाती है और मीराँ अपने प्रियतम को 'जोगी' शब्द से सम्बोधित करती हैं। जैसे—

'जावादे जावादे जोगी किसका मीत।
सदा उदासी रहै मोरि सजनी, निपट अटपटो रीत॥'

× × × ×

'जोगियाजी निसदिन जोऊं बाट ।
पाँव न चाले पंथ दूहेलो, आड़ा औघट घाट ॥
× × × ×
'जोगी मत जा मत जा मत जा पाँइ परूँ मैं तेरी चेरी हौं'
× × × ×
'जोगिया से प्रीत कियाँ दुख होइ ।
प्रीत कियाँ सुख ना मोरी सजनी जोगी मित न कोइ ॥'
× × × ×
'जोगियारी प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल ।
हिल मिल बात बणावत मीठी पीछे जावत भूल ॥

इसी प्रकार मीराँ के पदों में और भी ऐसे अनेक पद हैं जिनमें 'जोगी' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रयोग को देखकर ही आलोचक इन्हें नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा में खींच लेना चाहते हैं और इस इच्छा की पुष्टि के लिए नाथ-सम्प्रदाय के प्रभाव का अनुमान किया गया है। वस्तुस्थिति तो यह है कि मीराँ पर न तो इस सम्प्रदाय का प्रभाव था और न मीराँ को इस सम्प्रदाय की साधना-पद्धति से परिचय था। यदि ऐसा होता तो मीराँ ने अवश्य ही इस सम्प्रदाय की साधना-पद्धति का उल्लेख किया होता किन्तु केवल 'जोगी' शब्द के प्रयोग के अतिरिक्त कहीं भी इस सम्प्रदाय की शब्दावली का (कहीं-कहीं 'औघट घाट' आदि जैसे प्रयोगों को छोड़कर) प्रयोग नहीं मिलता। अतः यह निश्चित है कि मीराँ का 'जोगी' प्रयोग किसी साधना-पद्धति विशेष का सूचक नहीं बल्कि मीराँ की स्वच्छन्द प्रवृत्ति का द्योतक है। हमारा इस विषय में एक तर्क यह भी है कि मीराँ के एक पद में योग का भी खंडन तथा कर्म फल की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। यह पद है—

'तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी ।
आसण माँडि गुफा में बैठो, ध्यान हरी को लगायो ॥
गल बिच सेली हाथ हाजरियो, अंग भभूति रमायो ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी भाग लिख्यो सो ही पायो ॥

सन्त-सम्प्रदाय

मीराँ पर सन्त-सम्प्रदाय का प्रभाव अपेक्षाकृत गहरा है। सन्त-काव्य में प्रमुख रूप से निम्नलिखित विशेषताएँ पाई जाती हैं—

१ ब्रह्म का निरूपण हरि और राम के नाम से किया गया है। इनका राम दाशरथी राम से भिन्न है। यह निराकार और अविनाशी है तथा सबके हृदय में बसा हुआ है। इसे प्राप्त करने के लिए 'सुरत-निरत' की साधना आवश्यक है।

२ संसार नश्वर है। यह केवल 'दस दिन का झूठा ब्यौहार' है।

३ कर्म ही प्रधान है। कर्म-गति टारे नहीं टरती।

४ भक्ति का भाव दाम्पत्य भाव का है।

मीरां के काव्य में सन्त-काव्य की ये समस्त विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। जहाँ तक ब्रह्म का सम्बन्ध है मीरां ने भी उसे 'राम' 'रमैया' तथा अविनाशी हरि के नाम से अनेक पदों में सम्बोधित किया है। यथा—

'राम नाम रस पीजै मनुआँ राम नाम रस पीजै।
तज कुसंग सतसंग बैठि नित हरि चर्चा सुण लीजै।।
× × × +
'रमैया बिन नींद न आवै।
नींद न आवै बिरह सतावै प्रेम की आँच ढुलावै।।
× × × ×
'म्हारा पिया परदेसां बसणा भेज्यां बार बरी।
मीरां रे प्रभु हरि अविनासी करस्यौं प्रीत खरी।।
× × × ×
'मीरां दासी व्याकुली रे पिव पिव करत बिहाइ।
बेगि मिलो प्रभु अन्तरजामी तुम बिन रह्यो ही न जाइ।।
× × × ×
'म्हां गिरधर ग रंगराती, सयां म्हां।
पंचरंग चोलारी पहर्या सखी म्हां झिरमिट खेलण जाती।
वां झिरमिट मां मिल्यो सांवरो देख्यां तण मण राती।।
जिणरो पियां परदेस बस्यांरी लिख लिख भेज्यां पाती।
म्हांरा पियां म्हारे हीयडे बसतां णा आवां णा जाती।।'

इसमें सन्देह नहीं कि मीरां का यह प्रियतम सन्त-भक्तों के प्रियतम के

बहुत समीप है। साथ ही सन्त-मत ने 'सुरत-निरत' को साधना के रूप में स्वीकार किया है। मीराँ भी 'सुरत निरत का दिवला संजोती है 'त्रिकुटी महल' में बने हुए झरोखे से झाँकी लगाती है और सुन्न महल में सुरत' जगाती है—

'सुरत निरत का दिवला सँजोले मनसा की कर ले बाती।
प्रेम हटी का तेल मगा ले जगे रह्या दिन राती॥'

× × × ×

'त्रिकुटी महल में बना है झरोखा तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री॥

सन्त भक्तों ने संसार को नश्वर माना है। इसका अस्तित्व सेमर के फूल की तरह स्वीकार किया गया है जो केवल सुन्दर दिखाई देता है किन्तु जिसमें सुगन्धि नहीं होती वास्तविकता नहीं होती—

यो संसार चहर को बाजी साँझ पड़्या उठ जासी।

× × × ×

'यो ससार कुबुधि को भाँडो साधु संगत नहीं भावै।

सन्त-सम्प्रदाय के प्रवर्तक कबीर ने जिस शब्दावली में कर्म-गति की प्रधानता का स्वीकार किया है प्राय वही शब्दावली मीराँ की है—

करम गत टारें नाहीं टरी।
सतवादी हरिचन्दा राजा डोम घर नीरों भरी॥
पाँच पाँडु की राणी द्रुपदा हाड़ हिमालें गरी।
जाग कियाँ बलि लेण इन्द्रासण, जाँय्याँ पाताल परी॥
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर बिख-रूँ अमिरत करी॥

कबीर ने स्वयं को 'राम की बहुरिया' बताया और दाम्पत्य भाव से भक्ति की। मीराँ तो स्वयं ही नारी थीं इन्हें नारीत्व के आरोपण की आवश्यकता न थी अतः इनकी भक्ति भावना में दाम्पत्य भाव की सहजता तथा स्वाभाविकता प्राप्त होती है।

इसके अतिरिक्त और भी अनेक बातें हैं जो सन्त-कवियों तथा मीराँ में समान रूप से मिलती हैं जैसे बाह्याडम्बरों—तीर्थ आदि—का विरोध करना। इन सब उदाहरणों को देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि मीराँ के पदों

में सन्त-सम्प्रदाय की अनेक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मीराँ सन्त-सम्प्रदाय में दीक्षित थीं। ये प्रवृत्तियाँ केवल प्रभाव के कारण हैं जो मीराँ की भावातिशयता की द्योतिका हैं। इनके मन में जो भी भाव उठा उसे गीतों में गा बैठीं सम्प्रदायगत प्रवृत्ति-विशेष के प्रति इनका कोई ध्यान नहीं था। प्रो० तारकनाथ अग्रवाल के वाक्यों में—

'मीराँ का प्रेम सन्तों का सही तथा सूफियों का भी सही ; मीराँ के गुरु सन्त सही और 'रमैया' सम्बन्धी पद भी मीराँ के सही फिर भी मीराँ को सन्त कोटि में मानना अपनी असमझता का ही तो परिचय देना है।'[1]

पं० परशुराम चतुर्वेदी भी इसी मान्यता के समर्थक हैं—

'मीराँबाई उच्च कोटि की सगुणोपासिका थीं और उनके इष्टदेव 'गिरधर नागर' सगुण होते हुए भी 'अविनाशी हरि बालमा' थे जिस कारण हमें उन्हें इस बात में गोस्वामी तुलसीदास के प्रभु 'दशरथपति राम' से बहुत भिन्न मानने का कारण नहीं दीख पड़ता। अतएव उनकी वसी रचनाओं को हम चाहें अपवादस्वरूप ही मान लें इनके आधार पर उन्हें सन्तमत की भी नहीं कह सकते।'[2]

वैष्णव-सम्प्रदाय

उपर्युक्त दोनों सम्प्रदायों की अपेक्षा वल्लभ-सम्प्रदाय का प्रभाव मीराँ पर अधिक है। वैष्णव-सम्प्रदाय की अधिक से अधिक प्रवृत्तियाँ हमें इनके पदों में परिलक्षित होती हैं।

जिस प्रकार सूर ने अपने कृष्ण की बाल-छवि का वर्णन किया है, उसी प्रकार मीराँ ने भी किया है—

बसो मोरे नैनन में नंदलाल।
मोहनी मूरत साँवरी सूरति नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति उर बजन्ति माल।।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित नूपुर सबद रसाल।
मीराँ प्रभु संतन सुखदायक भक्त बछल गोपाल।।'

1. मीराँ स्मृति-ग्रन्थ पृष्ठ २५६
2. मीराँबाई की पदावली पृष्ठ २२६

यह समस्त शब्दावली वैष्णव-भक्तों की है।

नवधा भक्ति—इसके अतिरिक्त मीराँ की भक्ति भावना भी नवधा-भक्ति के अन्तर्गत आती है। नवधा भक्ति के नौ भेद होते हैं—श्रवण कीर्तन, स्मरण चरण-सेवन अर्चन वंदन दास्य सख्य और आत्म-निवेदन।

१ श्रवण एवं कीर्तन—मीराँ अपने इष्टदेव के गुणों का सदा श्रवण करती रहती हैं। उसकी रूप-छवि पर वह लोक-लाज को भी त्याग देती है और पग में घुंघरू बाँधकर नाचने लगती हैं—

'हरि मन्दिर में निरत करास्याँ, घुँघरिया घमकास्याँ।
राम नाम का झाझ चलास्याँ भवसागर तर जास्याँ॥'

२ स्मरण—कीर्तन के पश्चात् स्मरण की स्थिति आती है। मीरा अपने इष्टदेव के स्मरण को संसार के समस्त बन्धनों को छोड़कर, हृदय i लगाये रहती हैं और अपने चित्त पर चढ़ी हुई व उर में अड़ी उस माधुरी मूर्ति के स्मरण में ही सदा व्यस्त रहती हैं—

'आली रे मेरे नैणां बाण पड़ी।
चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरत, उर बिच आन अड़ी॥

३ चरण-सेवन—चरण-सेवन के लिए तो मीराँ अपने मन को बा बार प्रेरित करती हैं और उसे समझाती हैं कि जिन चरणों का सेवन कर से प्रह्लाद को इन्द्र जैसा महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त हुआ ध्रुव अटल हुए, गौत पत्नी का उद्धार हुआ उन्हीं 'अगम तारण तरण' चरणों का तू भी सेव कर—

"मन रे परसि हरि के चरण।
जिन चरण प्रह्लाद परसे, इन्द्र को पदवी धरण॥
जिन चरण ध्रुव अटल कीने राखि अपनी सरण॥
जिन चरण प्रभु परसि लीने, तरी गौतम घरण।
दासि मीराँ लाल गिरधर अगम तारण तरण॥'

४. अर्चन—अपने आराध्य के प्रति अटूट लगाव वैष्णव-भक्तों की प्र विशेषता है। सूरदास स्पष्टतः कह देते हैं कि श्रीकृष्ण को छोड़ कर अन्य की पूजा करना कामधेनु को छोड़कर छेरी को दाहना है, अथवा परम प

गंगा को छोड़कर अपनी प्यास बुझाने के लिए अलग-से कूप खोदता है। मीरा में भी अपने आराध्य के प्रति यही अनन्य भाव पाया जाता है—

'नहिं हम पूज्याँ गौरज्याँ जी नहिं पूजाँ अनदेव।
परम सनेही गोविन्दो थे काँई जाणो म्हारो भेव॥'

५. वन्दन—ऐसे परम स्नेही गोविन्द की ही मीराँ अहनिश वन्दन करती रहती है। वह उनके चरण-कमलों पर केवल 'नीर' ही नहीं ढारती बल्कि 'पायन' तक पड़ जाती है—

'चोवा चन्दन और अगरजा केसर गागर भरी धरी री।
मीराँ कहै प्रभु गिरिधरनागर चरी होय पायन में परी री॥

६. दास्य—वह अपने प्रियतम की दासी है— ऐसी दासी जो बिना मोल के ही उनके हाथों बिक गई है क्योंकि वह उनकी इस जन्म की ही नहीं बल्कि जन्म-जन्म की दासी है—

''म्हे तो जनम-जनम की दासी थे म्हाका सिरताज।

७. सख्य-भाव—मीराँ में सख्य-भाव की भक्ति भी पर्याप्त मिलती है। कभी वह अपने साथी के साथ 'झिरमिर' खेलती है तो कभी 'रणबिना वाके सगि' रहती है। इनका तो कथा यहाँ तक है कि इनका अपने प्रियतम के साथ इसी जन्म का ही नहीं जन्म-जन्मान्तर का साथ है—

'राति दिवस मोहि कल न पड़त है होयो फटत मेरी छाती।
मीराँ के प्रभु कबर मिलोगे पुरब जनम का साथी॥

८. आत्म निवेदन—जहाँ तक आत्म-निवेदन की बात है मीराँ का सम्पूर्ण काव्य ही एक ऐसी आत्मा का करुण निवेदन है जो अपने प्रियतम को अपना सर्वस्व समर्पित करके भी अखंड विरहिणी बनी हुई है और उस मर्मान्तक विरह के उपचार के लिए वह अनेक प्रयत्न करती है—कभी सुरत-निरत का दिवला सँजोकर उसमें मनसा की बात डालती है, कभी प्रेम हटी से तेल मँगाती है और कभी ज्ञान की पाटी रचकर और अपनी माँग सँवारकर अपनी सूनी सेज पर अपने प्राणप्रिय साँवरे का पथ जोहती रहती है। कभी वह अपने उद्धार की दुहाई देती है और कभी अपने प्रियतम के उद्धारक गुणों की प्रशंसा करते-करते नहीं थकती। उनके बिना उसे तीनों लोकों में और कहीं आसरा भी तो नहीं है—

'हरि मोरे जीवन प्रान अधार ।
और आसिरो नाहिं तुम बिन तीनू लोक मँझार ।।
आप बिना मोहि कछु न सुहाव, निरख्यो सब संसार ।
मीरां कहै मैं दासि रावरी दीज्यो मती बिसार ।।'

इस प्रकार मीरां के काव्य में भक्ता भक्ति का सांगोपांग निरूपण हुआ है। किन्तु इसीलिए इन्हें वैष्णव भक्ति की शृंखला में बद्ध करना अनुचित प्रतीत नहीं होता ।

सारांश

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मीरां तात्त्विक दृष्टि से निर्गुण पुरुष ही मान्य रहा है, किन्तु इनकी यह मान्यता भावों के अबोध प्रवाह में डूबकर बह गई है और इनकी कोमलतम एवं स्निग्धतम आत्मा वैष्णव भक्ति की मधुरता को लेकर बरबस ही मुखरित हो उठी है। अतः मीरां के इष्टदेव के स्वरूप के विषय में निर्विवाद रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। हां श्रीमद्भागवत् के शब्दों में इतना अवश्य कह सकते हैं—

'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यद् ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।'

अर्थात् जिस वस्तु को तत्त्वज्ञानी लोग तत्त्व अद्वय ज्ञान ब्रह्म व परमात्मा नाम से अभिहित करते हैं, उसीको भगवान् भी कहा जाता है। इसी प्रकार मीरां का आराध्य निर्गुण ब्रह्म होता हुआ भी सगुण कृष्ण है, और सगुण तथा रूपधारी होता हुआ भी निर्गुण तथा निराकार है।

मीराँ की प्रेम-साधना

मानव-मन विविध भावों का कोष है। प्रेम का भाव इन में प्रमुख है। प्रेम 'प्रिय' शब्द का भाववाचक रूप है। 'प्रिय' शब्द का अर्थ है तृप्ति-कारक— प्रीणातीति प्रिय है। अतः प्रेम शब्द से हृदय के तृप्ति रूप आनन्द का बो[ध] होता है। व्याकरण के अनुसार भी इस शब्द की व्युत्पत्ति इसी अर्थ की द्योतक है। 'प्रीञ् प्रीतौ' धातु से उणादि-सूत्र 'सर्व धातुभ्यः' से मनिन् प्रत्यय लगक[र] 'प्रेम' शब्द बनता है जिसका अर्थ होता है प्रीति देने वाला अथवा तृप्ति प्रदान करने वाला। यही कारण है कि आदिकाल से ही मानव इस भाव की अभिव्यक्ति करता आया है।

संस्कृत-साहित्य में सर्वप्रथम यह अभिव्यक्ति ऋग्वेद में पुरूरवा-उर्वशी के उपाख्यान में मिलती है। अथर्ववेद में भी प्रेम-विषयक कुछ उद्गार मिलते हैं किन्तु प्रेम का व्यापक चित्रण आदिकवि वाल्मीकि में ही प्राप्त होता है। यह प्रेम सौन्दर्य और प्रकृति के चित्र-कवि हैं। इन्होंने सीता और राम के पारस्परिक प्रेम का अत्यन्त ही भव्य चित्रण किया है। आदिकवि के पश्चात् कविकुल गुरु कालिदास के काव्य में सभी प्रकार की प्रेम-विषयक भावनाओं के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के सौन्दर्य के मार्मिक चित्र उपलब्ध होते हैं। कालिदास की प्रेम-दृष्टि पूर्ण सांस्कृतिक और आध्यात्मिक है। भवभूति का प्रेम-चित्रण भी सहृदय-संवेद्य उदात्त और उत्कृष्ट है। अश्वघोष का प्रेम-चित्रण भी कालिदास और भवभूति की भांति उदात्त परिष्कृत और संयत है। संस्कृत साहित्य की यह परम्परा जब जयदेव के हाथों में आती है तो इसकी दिशा ही बदल जाती है। जयदेव के प्रेम-वर्णन से यदि आध्यात्मिकता का आवरण हटा दिया जाये तो वह एकदम लौकिक और अश्लील बन जाता है।

इस प्रकार संस्कृत-साहित्य में प्रेम-वर्णन की परम्परा के दो रूप मिलते हैं। पहला रूप है उदात्त प्रेम का जो आदिकवि से प्रारम्भ होकर अश्वघोष तक मिलता है। दूसरा रूप है लौकिक प्रेम का जो भर्तृहरि, अमरुक तथा जयदेव आदि कवियों में प्राप्त होता है। हिन्दी-साहित्य को इन दोनों रूपों ने ही प्रभावित किया है।

प्रेम का स्वरूप

प्रेम की परिभाषा भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न शब्दावली में की है। नारद-भक्तिसूत्र में प्रेम को अनुभवरूपम् माना गया है। प्रेम वाणी का विषय नहीं है वरन् मूकास्वादनवत् अनिर्वचनीय है। यह पहले तो विषयजन्य होता है, गुणों के कारण उत्पन्न होता है, किन्तु बाद में भावात्मक विषय-निरपेक्ष बन जाता है—

अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्। प्रकाशते क्वापि पात्रे। गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानमविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।[1]

रूपगोस्वामी प्रेम को एक ऐसा सान्द्र भाव मानते हैं जो हृदय को स्निग्ध करे तथा ममत्व के अतिशय से युक्त हो—

'सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः।
भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।।[2]

भारतीय आचार्यों की भाँति पाश्चात्याचार्यों ने भी प्रेम की अनेक परिभाषाएँ की हैं। प्लेटो के अनुसार, प्रेमानुभव से रहित व्यक्ति सदा अंधकार में भटकता रहता है।[3] शैलिंग का मत है कि प्रेम से ही हमारे अन्तर्चक्षु खुलते हैं।[4] हेगेल यह मानते हैं कि प्रेम के द्वारा ही अभेद की स्थिति प्राप्त होती है।[5] हैवलॉक वासना और प्रेम में अन्तर मानते हुए कहते हैं कि क्षुब्ध वासना के रहते हुए प्रेम का कमल नहीं खिल सकता।[6] व्लादीमीर सोलोव्येव के अनुसार प्रेम का अर्थ है अहंकार के त्याग-द्वारा अपनी मुक्ति।[7]

---

1 नारद-भक्तिसूत्र ५१ ५२

2 उज्ज्वलनीलमणि, स्थायि लहरी श्लोक ५२

3 He, whom love touches not, walks in darkness.

4 'Only from love springs the profoundest insight.

5 'Only through loving, one becomes one with the object.

6 It is not until lust is explanded and eradicated that it developes into the exquisite and enthralling flowers of love.

7 The meaning of love, speaking generally is the justification deliverance of individuality through sacrifice of egoism.

इन कतिपय परिभाषाओं से ही यह निष्कर्ष निकल आता है कि प्रेम वासना का नाम नहीं है और न स्वयं को आबद्ध करने का बन्धन है, वरन् प्रेम हृदय की वह परिष्कृत उदात्त और अनिर्वचनीय भावना है जो मन की शुद्धि करती है भावों को विशुद्ध करती है और व्यक्ति को अहं के बन्धन से छुड़ाकर उसे सार्वजनीन बना देती है। इसलिए प्रेम में आठ गुणों को माना गया है जो प्रेमी के चित्त का संस्कार करते हैं। ये गुण हैं—उल्लास ममता विश्रम प्रिय के गुणों का अभिमान, चित्त का द्रवीभाव, अतिशय अभिलाषा प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नवनवत्व की अनुभूति और प्रिय-सम्बन्धी किसी विलक्षण गुण के कारण उन्माद।

प्रेम के भेद

डॉ॰ मनोहरलाल गौड़ ने प्रेम के तीन भेद माने हैं—उत्तम मध्यम और निकृष्ट।[1] यह वर्गीकरण सामान्य है, विशेष नहीं। डॉ॰ रामेश्वर खंडेलवाल ने प्रेम-विभाजन के ये आधार माने हैं—

१ व्यक्त या स्थूल (व्यक्ति पेड़-पौधे व अन्य पदार्थ) के प्रति और अव्यक्त और सूक्ष्म (ईश्वर, कोई भावना कल्पना या आदर्श) के प्रति प्रेम

२ जड़ (पहाड़ पेड़-पौधे कोई अन्य लेखनी भवन आदि) के प्रति और चेतन (चेतन मानव और चेतना के क्रम में विकसित जीव—जैसे हाथी, घोड़ा आदि) के प्रति प्रेम तथा

३ बड़े का छोटे के प्रति (पिता का पुत्र के प्रति गुरु का शिष्य के प्रति वात्सल्य आदि) छोटे का बड़े के प्रति (श्रद्धा) या समवयस्कों का परस्पर एक दूसरे के प्रति (मैत्री सख्य प्रणय आदि) प्रेम।[2]

वर्गीकरण का यह आधार भी सन्तोषजनक नहीं है, जैसा कि स्वयं डॉ॰ खंडेलवाल ने स्वीकार किया है। वस्तुतः प्रेम के दो भेद हैं—पार्थिव प्रेम और अपार्थिव प्रेम। साहित्य में इन्हीं दोनों प्रकारों का वर्णन होता है। यहाँ पर यह भी उल्लेख्य है कि पार्थिव अथवा अपार्थिव प्रेम के भेद का आधार आलम्बन की पार्थिवता अथवा अपार्थिवता पर निर्भर है।

---

1 घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा पृष्ठ ११७

2 आधुनिक हिन्दी-कविता में प्रेम और सौन्दर्य पृष्ठ ११२

पार्थिव प्रेम के दो भेद हैं—प्रकृत प्रेम और सात्त्विक प्रेम। इन्हें अंग्रेजी साहित्य में 'नैच्युरल लव' (Natural love) और 'प्लेटोनिक लव' (Platonic love) कहा गया है। सहज मानव-प्रेम ही प्रकृत प्रेम है। पार्थिव आलंबन के प्रति पार्थिव आश्रय की सहज वासनात्मक प्रणयाभिव्यक्तियाँ इसी प्रेम के अन्तर्गत आती हैं। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि नर-नारी की सहज प्रीति ही प्रकृत प्रेम है। ऐसे प्रेम का आधार पार्थिव होता है अतः शरीर-सुख की उत्कृष्ट इच्छा से प्रेरित होकर जिस प्रेम का निवेदन किया जाता है, वह स्वभावतः ही वासनात्मक होता है। रीतिकालीन काव्य में ऐसे ही वासनात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति है। छायावाद की अपार्थिव प्रणयाभिव्यक्ति की प्रतिक्रिया में छायावादोत्तर काल में बच्चन, अंचल, नरेन्द्र शर्मा आदि अनेक तरुण कवियों ने अपने गीतों में सहज वासना का चित्रण किया है।

सात्त्विक प्रेम इस प्रेम से भिन्न है। प्लेटो ने आत्मा की प्रीति का वर्णन किया है। उसने पार्थिव आलंबन के प्रति अशरीरी आकांक्षा-अथवा वासना मुक्त शुद्ध प्रीति और शुद्ध राग को ही सात्त्विक प्रेम की संज्ञा दी है। सहज ऐन्द्रिय सुख से ऊपर का प्रेम ही आत्मा की प्रीति है। ऐसे प्रेम में वस्तुतः वासना का परिष्कार एवं उन्नयन हो जाता है और वह वासना त्याग तथा संयम का प्रतिरूप बन जाती है। छायावादी काव्य से पूर्व द्विवेदी-युग का प्रेम इसी कोटि का है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी इत्यादि कवियों की रचनाओं में अशरीरी आकर्षण का ही चित्रण मिलता है। रीति काव्य में घनानन्द का प्रेम स्थान-स्थान पर इसी कोटि को पहुँच गया है। रीतिमुक्त कवियों के प्रेम की सात्त्विकता स्पष्ट है। यशोधरा का प्रेम लक्ष्मण के प्रति उर्मिला का प्रेम त्याग और संयम द्वारा उदात्तीकृत प्रेम है।

जिस प्रेम का आलम्बन अपार्थिव हो उसे अपार्थिव प्रेम कहते हैं। अपार्थिव प्रेम को चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

१ अपार्थिव आलम्बन के प्रति अपार्थिव आश्रय की वासना-मूलक प्रणयाभिव्यक्ति—ऐसी प्रेमाभिव्यक्ति सगुण साकार के प्रति ही सम्भव है। अतः सगुण और और साकार अपार्थिव आलम्बन आश्रय की भावना के लिए नितान्त आवश्यक है। पार्वती-शिव राधा-कृष्ण सीता-राम का भक्ति और

परम पुरुष के रूप में वर्णन अपार्थिव प्रणयमूलक प्रेम है। 'कुमारसंभव' में शिव-पार्वती की रति भावना का उद्रेक यही प्रेम है। 'गीतगोविन्द' में ऐसे ही प्रेम का चित्रण है। हिन्दी में विद्यापति सूर आदि ने इसी वासना-परक अपार्थिव प्रेम का अंकन किया है।

२ सगुण साकार अपार्थिव आलम्बन के प्रति अपार्थिव आश्रय की दाम्पत्य प्रणयाभिव्यक्ति—इस प्रेम में पार्थिव आश्रय सगुण और साकार अपार्थिव आश्रय में वासना का आरोप कर लेता है। फलतः ऐसे काव्य में ऐन्द्रिय भावना का समावेश हो जाता है, किन्तु आलम्बन की अपार्थिवता के कारण ऐन्द्रिय भावना उदात्त रूप में ही व्यक्त होती है।

३ सगुण निराकार के प्रति मानव-आत्मा की रीति-भावना—पार्थिव आश्रय का रति-भाव साकार के प्रति ही सम्भव है, निराकार के प्रति नहीं। इसका कारण यह है कि निराकार ब्रह्म प्रेम का आश्रय नहीं हो सकता। प्रेम के लिए प्रतिपादन प्रतिक्रिया आवश्यक है जो सगुण द्वारा ही सम्भव है निर्गुण द्वारा नहीं। अतः साहित्य में कई स्थानों पर अपार्थिव आलम्बन को सगुण निराकार-रूप में चित्रित करके आत्मा का उसमें रति भाव आरोपित किया गया है। सूफी कवियों की प्रेममयी तथा सन्त-कवियों की रहस्यमयी भक्ति ऐसी ही है।

४ निर्गुण निराकार के प्रति मानव-आत्मा की ज्ञानमूलक आनन्द-मग्नता—निर्गुण और निराकार के प्रति रति-भाव का प्रदर्शन नहीं हो सकता अतः इस प्रकार के प्रेम को आनन्द-मग्नता की संज्ञा दी जाती है। ज्ञानमूलक होने के कारण इसे प्रेम के क्षेत्र से बाहर की वस्तु माना जा सकता है, किन्तु तथ्य यह नहीं है। इस अपार्थिव सम्बन्ध में भावना की मग्नता है इसलिए इसे प्रेम ही कहा जायेगा। उपनिषद् आदि में आत्मा के इसी आनन्द की व्याख्या की गई है।

प्रेम के स्वरूप और वर्गीकरण का प्रतिपादन करने के पश्चात् अब यह देखना है कि मीराँ की प्रेम-भावना का स्वरूप क्या है? वह साधना किस वर्ग के अन्तर्गत आती है और प्रेम के गुणों का उसमें कहाँ तक समावेश हो सका है?

मीरों की प्रेम-साधना

प्रेम और भक्ति एक ही साधना के दो अंग हैं। लोक में जो प्रेम अपनी पराकाष्ठा में वासना में परिणत होता है, आध्यात्मिक क्षेत्र में वही प्रेम भक्ति का रूप धारण करता है। यही कारण है कि प्रत्येक भक्त-कवि ने अपने-अपने ढंग से प्रेम का स्वरूप निर्धारित किया है तथा उसकी अभिव्यक्ति की है। कबीरदास ने प्रेम के स्वरूप का विश्लेषण करते हुए बताया है कि प्रेम की उपलब्धि आसान नहीं है। इसे तो वही प्राप्त कर सकता है जो स्वयं को बलिदान करने के लिए समुद्यत रहे—

> 'यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाँहि।
> सीस उतारै भुइँ धरे, तब पैठे घर माँहि॥

सूफी कवि तो प्रेम की पीर के ही साधक हैं। जिस प्रकार कबीर का यह विश्वास है कि केवल प्रेम के ढाई अक्षर से ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है उसी प्रकार सूफी कवि भी यह मानते हैं कि प्रेम की पीर को सहन किये बिना परम सत्ता से सम्मिलन नहीं हो सकता। सूफी-कवि जायसी तो यहाँ तक कहते हैं कि प्रेमावस्था बड़ी ही विचित्र है, इसमें प्राणी न तो जीवित ही रह सकता है और न मर ही सकता है—

> पेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लाग जानै तै सोई॥
> परा सो पेम समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होइ बिसँभारा॥
> बिरह-भौंर होइ भाँवरि देई। खिन जीउ हिलोरा लेई॥
> कठिन मरन तें पेम-बेवस्था। ना जिउ जियै न दसवँ अवस्था॥

तुलसी का आदर्श प्रेम-निरूपण तो हिन्दी-साहित्य में अपने ही ढंग का है। उनका प्रतीक चातक है जो अथाह सागर में भी प्यासा मर जाता है, किन्तु स्वाति नक्षत्र की बूँद को छोड़कर और कहीं का पानी ग्रहण नहीं करता। वैष्णव कवि का प्रेमादर्श भी इतना ही कठिन है। सूरदासजी कहते हैं कि प्रेम करके संसार में किसीको भी सुख नहीं मिला। जिसने भी प्रेम किया उसे ही दुःख उठाना पड़ा, बल्कि अपना बलिदान करना पड़ा—

> 'प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।
> प्रीति पतंग करी पावक सौं आपै प्रान दह्यौ॥

अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौं संपुट माँझ गह्यौ।
सारंग प्रीति करी जु नाद सौं, सन्मुख बान सह्यौ॥

मीराँ का प्रेम रहस्य-निरूपण भी इसी प्रकार का है। वे भी मानती हैं कि प्रेम की पीड़ा ग्रहण करना कठिन होता है—

'जाको सोही जाणै कठण लगण री पीर।
विपत पड्याँ कोइ निकट न आवै सुख में सबको सीर॥
बाहिर घाव कछू नहिं दीसै रोम रोम री पीर।
जन मीराँ गिरधर के ऊपर, सदके करूँ शरीर॥

इस 'कठण-लगण' के लिए मीराँ को क्या कुछ नहीं सहना पड़ा। लोकनिन्दा हुई परिजनों ने त्याग किया राणा ने विष का प्याला भेजा विषधर भेजा तथा और भी अनेक प्रकार की यन्त्रणाएँ दीं किन्तु मीराँ इन आपदाओं से अवगत थीं। विष के प्याले को चरणामृत समझकर हँसते-हँसते पी गईं। विषधर को सुमनमाला मानकर गले में धारण किया। वास्तविकता तो यह है कि सच्चा प्रेम न तो मान-मर्यादा के बन्धन को स्वीकारता है और न समाज की सीमित परिधियों को। उसका तो केवल एक लक्ष्य होता है और वह उस लक्ष्य की ओर समस्त बाधाओं को लाँघता हुआ अग्रसर हुआ करता है। मीराँ को भी अनेक बाधाएँ लाँघनी पड़ीं। अन्त-राजमहल छोड़ना पड़ा कुल की परम्परित मर्यादा को तिलाञ्जलि देनी पड़ी। तभी तो भक्तमाल के लेखक नाभादास को लिखना पड़ा—

'सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट, कलजुगहिं दिखायो।
निर अंकुश अति निडर, रसिक जस रसना गायो।
दुष्टनि दोष बिचारि, मृत्यु को उद्यम कीयो।
बार न बाँको भयो गरल अमृत ज्यों पीयो।
भक्ति निसान बजाय कै काहू ते नाहिं लजी।
लोक लाज कुल शृंखला तजि मीराँ गिरधर भजी॥

वर्गीकरण की दृष्टि से मीराँ का प्रेम सगुण साकार अपार्थिव आलम्बन के प्रति दाम्पत्य प्रणयानुभूति के वर्ग में आता है। मीराँ के आराध्य का स्वरूप क्या है? यह प्रश्न कुछ देर के लिए विवादास्पद हो सकता है क्योंकि

के पदों में नाथ-पंथी और निर्गुणिये सन्तों का भी पर्याप्त प्रभाव है किन्तु ततोगत्वा यही निष्कर्ष निकलता है कि इनका आराध्य अन्य कृष्ण-भक्तों के राध्य से भिन्न नहीं है अर्थात् वह सगुण और साकार है। इसी प्रियतम प्रति मीराँ ने अपना दाम्पत्य भाव प्रकट किया है और स्वयं को इन्होंने त्नी इस जन्म की ही नहीं बल्कि 'जनम-जनम की दासी' बताया है।

अब देखना यह है कि शास्त्रानुसार प्रेम के जो उन्माद, ममता, विश्रम मिमान, दीनभाव, अतिशय अभिलाषा, अनन्यता की भावना और उन्माद ये ठ गुण माने जाते हैं, इनकी उपलब्धि मीराँ की प्रेम-साधना में कहाँ भी है, ा नहीं।

१ उन्माद—उन्माद पात्र की एकान्तिक प्रीति को उन्मति कहते हैं। इसके त्पन्न होने से केवल प्रिय के प्रति ही प्रेम होता है, अन्य के प्रति उदासीनता ा जाती है। मीराँ के प्रेम में यह गुण मिलता है। जैसे—

'म्हारो री गिरधर गोपाल दूसरा णा कूयाँ।
दूसरा णा कूयाँ साधाँ सकल लोक जूयाँ॥

२ ममता—मार्कण्डेय पुराण में ममताभिमान को भी प्रेम-समृद्धि का कारण माना गया है। इसके उत्पन्न होने पर प्रीति भय करने के न तो प्रेम के उद्यम को ही कम कर सकते हैं और न उसके स्वरूप को अर्थात् बार-बार विघ्न पड़ने पर भी प्रेम समाप्त नहीं होता। यह सर्वविदित है कि मीराँ को कृष्ण-प्रेम से विमुख करने के लिए राणा जी ने कितने प्रयत्न किए विष का प्याला भेजा विषधर भेजा किन्तु मीराँ ने इन सब यन्त्रणाओं को हँसकर सहन किया पर अपने कृष्ण-विषयक प्रेम में तनिक भी कमी नहीं आने दी—

माई म्हाँ गोविन्द गुण गास्याँ।
राणा रूठ्याँ नगरी त्यागाँ हरि रूठ्याँ कहँ जास्याँ॥
राणी भेज्या विषरो प्यालो चरणामृत पी जास्याँ॥
काला नाग पिटारयाँ भेज्या सालगराम पिछाण्याँ।
मीराँ तो अब प्रेम दिवाणी साँवलिया वर पास्याँ॥

३ विश्रम—विश्रम का अर्थ है शंका-रहित। अतः प्रेम में शंका का अभाव अनिवार्य है। मीराँ को भी अपने प्रियतम के प्रेम में कोई शंका नहीं

है। हां उपालम्भ देना दूसरी बात है। शंका-रहित होकर ही तो मिलनावस्था के ऐसे वर्णन किए जा सकते हैं—

'सोतीड़ा री साख बधावा मास्यां म्हारो स्याम।
म्हारे आयर उमंग भर्‌यारी जीव लह्यां सुखधाम।।
पाँच सख्यां मिल पीव रिझावां आनंद ठामू ठाम।
बिसरि जावाँ दुख निरखाँ पियारो सुफल मनोरथ काम।।
मीरां रे सुख सागर स्वामी भवण पधार्‌या स्याम।।

४ अभिमान अभिमान या मान प्रेम की परिपुष्टि के लिए आवश्यक माना गया है। इसीलिए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि प्रेम की चाल सदा टेढ़ी हुआ करती है। प्रेमी-प्रेमिका के हृदय में प्रेम भरा रहने पर भी उनका एक-दूसरे से अकारण कोप स्वाभाविक है—

'द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि।
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो य कारणं विना।।'[1]

मीरा का प्रेम एकांगी है अर्थात् इसमें केवल विरह का ही वर्णन है। जहाँ कहीं मिलन का चित्रण है वह भी वास्तविक नहीं वरन् काल्पनिक अथवा भावना की परिणति है। इसीलिए मीरां के प्रेम में अभिमान अथवा मान का चित्रण प्राय: नहीं है।

५. द्रवीभाव—इस गुण के उत्पन्न होने से प्रेमी का मन इतना द्रवीभूत हो जाता है कि वह अपने प्रेमी के सम्बन्ध के आभास से ही पुलकित हो उठता है। मीरां अपने प्रियतम के आने की सूचना से ही उसे मंगल-आगम की वेला मान लेती है—

'बरसां री बदरिया सावन री,सावन री मण भावन री।
सावन मां उमंग्यो म्हारो मण री भणक सुण्या हरि आवन री।
उमड़ घुमड़ घण मेघां आयां दामण घण भर लावण री।।
बीजां बूँदां मेहां आयां बरसां सीतल पवण सुहावण री।
मीरां के प्रभु गिरिधरनागर, वेला मंगल गावण री।।

1 साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद श्लोक १९८ १९९

६—अतिशय अभिलाषा—प्रेमी से मिलने के लिए जब मन बहुत ही आतुर हो जाता है तो वह अवस्था अतिशय अभिलाषा की होती है। मीरां अपने विरह में बहुत दुखी है और किसी न किसी प्रकार उनसे मिलना चाहती है। इनके विरह-वर्णन में यह अतिशय अभिलाषा सर्वत्र परिव्याप्त है। यथाहरणार्थ—

'म्हारो क्या तरसावां।
थारे कारण कुल जग छाड्यां, अब थे क्या बिसरावां।
विरह बिथा ल्यायां उर अन्तर, थें आस्यां रा बुझावां॥
अब छाड्या रा बणे मुरारी सरण गह्यां बड़ जावां।
मीरां दासी जनम जनम री अपणी पैजरि बावां॥

७ नवनवत्व की भावना—इस गुण के उत्पन्न होने पर राग अनुराग में विकसित होकर प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नित नवीनता की भावना की अनुभूति कराता है। संस्कृत के महाकवि माघ तो नित नवीनता को ही सौन्दर्य मानते हैं।[1] मीरां भी अपने प्रियतम में नित नवीनता का दर्शन करती है। कभी इन्हें कृष्ण का वह रूप दिखाई देता है जिसने कालिया नाग का मर्दन किया था प्रह्लाद अहिल्या आदि का उद्धार किया था और कभी वह रूप दिखाई देता है जो व्रज-वनिताओं को रिझाता है—

'इण चरण प्रह्लाद परस्यां इंद्र पदवी धरण।
इण चरण ध्रुव अटल करस्यां, सरण असरण सरण।
इण चरण कालियां नाथ्यां गोपीलीला करण॥

× × ×

'माई मेरो मोहने मन हर्यो।
कहा करूं कित जाऊं सजनी प्राण पुरुष सूं बर्यो॥

८ उन्माद—उन्माद में मन की ऐसी दशा हो जाती है कि संयोग के कल्प निमेष के समान प्रतीत होते हैं और वियोग के निमेष कल्प के समान। मीरां के काव्य में प्रेम का यह गुण भी मिलता है—

1 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया'।

बरस बिरह दूखां म्हारां नैण।
सबदां सुणतां मेरी छतियां कांपी मीठो थारो बैण।।
बिरह बिथा कासूं री कह्यां। पैठी करवत नैण।
कल ना परतां पल हरि मग जोवां भयां छमासी रैण।।

सारांश

इस विवेचन के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि मीरां की प्रेम-साधना में शास्त्रीय परिभाषाओं के अनुसार 'स्वरूप' और 'धर्म' तो मिलते ही हैं, साथ ही इसमें हृदय की जो सहज मंजुल धारा अजस्र प्रवाह से प्रवाहित है, वह मीरां काव्य की अपनी निजी विशेषता है। इस प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के ये शब्द उल्लेख्य हैं—

'कबीर ने भी 'राम की बहुरिया' बनकर अपने प्रेमभाव की व्यंजना की है, पर 'माधुर्य भाव' की जैसी व्यंजना स्त्री-भक्तों द्वारा हुई है वैसी पुरुष-भक्तों द्वारा न हुई है, न हो सकती है। पुरुषों के मुख से यह अभिनय के रूप में प्रतीत होती है। उसमें वैसा स्वाभाविक भोलापन, वैसी मार्मिकता और कोमलता आ नहीं सकती। पति प्रेम के रूप में ढले हुए भक्तिरस ने मीरां की संगीत-धारा में जो दिव्य माधुर्य घोला है, वह भावुक हृदयों को और कहीं शायद ही मिले।[1]

प्रेम-दिवानी मीरां को प्रेम में इन गुणों का भक्ति रस से परिपूर्ण दिव्य माधुर्य का गान सहज स्वाभाविक ही है। यही तो निश्छल प्रेमी हृदय की भाषा है।

मीराँ की संगीत-योजना

संगीत और सरस्वती का अनादिकाल से ही गठबंधन रहा है। कहना अनुचित न होगा कि जब भावावेग में आदि-मानव ने कोई बात कही होगी तो उसका माध्यम संगीत ही रहा होगा। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में भी संगीत की योजना आदिकाल से ही मिलती है। सिद्ध-साहित्य, नाथपंथी साहित्य और सन्त-साहित्य सभी में संगीत का समावेश मिलता है, किन्तु हिन्दी में वास्तविक संगीत-योजना कृष्ण-साहित्य से ही प्रारंभ होती है। इसका कारण यह है कि कृष्ण-साहित्य से पूर्व की संगीत-योजना केवल जन-साधारण को आकर्षित करने के लिए की गई थी। उसमें भाव की अपेक्षा तर्क की प्रधानता थी इसीलिए उन साहित्यों के संगीत में वह मेमता न आ सकी जिसके लिए भावातिशयता आवश्यक होती है। कृष्ण-साहित्य में भावों का आतिशय ही नहीं था, वरन् उसमें भीवास भी था क्योंकि उनकी वाणी सर्वत्र अपने आराध्य का गुण-गान करने के लिए फूटी थी। और जहाँ भीवास है—भक्तों के गीत हैं—वहीं पर स्वयं भगवान् का वास होता है। विष्णु भगवान् इसी रहस्य का उद्घाटन नारद से करते हैं—

'नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥'[1]

कृष्ण-भक्तों की संगीत-योजना आकस्मिक नहीं थी। उसके पीछे उन भक्तों का संगीत-ज्ञान स्पष्ट मुखरित होता है।

यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि काव्य और संगीत का परस्पर क्या सम्बंध है? यदि इस प्रश्न का उत्तर वैष्णव-न्याय की शब्दावली में दिया जाये तो कह सकते हैं कि इन दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध है अर्थात् दोनों भिन्न भी हैं और अभिन्न भी। किसी भी उत्कृष्ट कवि के लिए संगीत-ज्ञान अनिवार्य नहीं है और न उच्च काव्य की सृजना के लिए संगीत-योजना अपरिहार्य है।

1 संगीत-पारिजात पृष्ठ ५, श्लोक १६

संगीत के अभाव में भी महान् काव्य की रचना हो सकती है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि काव्य और संगीत मौन होकर एक-दूसरे का आलिंगन करते हैं। सौन्दर्य की इस सुस्मित तथा त्रिगुणित छवि में दोनों एक-दूसरे को नहीं पहचान पाते। वस्तुतः काव्य स्वतः संगीत होता है, इसीलिए किसी विद्वान् का यह कथन सत्य ही है—

'कविता शब्दों के रूप में संगीत और संगीत-स्वर के रूप में कविता है।'

भले ही इन मतों में विरोधाभास हो, किन्तु यह सत्य है कि संगीत को काव्य से पृथक करना अथवा काव्य से संगीत को अलग करना दोनों की दिव्य शक्ति आह्लादकारी प्रभाव और अपूर्व महत्त्व को नष्ट कर देना है।

संगीत का स्वरूप

सामान्यतया गीत अथवा गायन को संगीत कहा जाता है। इसका कारण यह है कि संगीत में गीत अथवा गायन की प्रधानता होती है—

'गानस्यात्र प्रधानत्वात्तत्संगीतमितीरितम्।'[1]

किन्तु शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार केवल गीत अथवा गायन संगीत नहीं है, बल्कि गायन वादन तथा नृत्य इन तीनों कलाओं का समन्वित रूप है—

'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते।'[2]

संगीत की यह परिभाषा सर्वमान्य है। सभी संगीताचार्यों ने कुछ शब्द भेद से इसी परिभाषा को दोहराया है नाद श्रुति, स्वर, ग्राम, मूर्च्छना तान सप्तक वर्ण अलंकार, पकड़ जाति मेल या ठाठ तथा राग, ये संगीत के आधार होते हैं।

नाद—नाद नाभि के ऊपर हृदय-स्थान से ब्रह्मरन्ध्र-स्थित प्राणवायु में होने वाले एक प्रकार के शब्द को कहते हैं। सभी गीत नादात्मक होते हैं। नाद केवल गायन का ही नहीं बल्कि वादन और नृत्य का भी आधार होता है। अनाहत नाद और आहत नाद ये नाद के दो भेद होते हैं।

श्रुति—जो कान से सुनाई दे तथा जिसको श्रवणेन्द्रिय ग्रहण कर सके

1. संगीत पारिजात पृष्ठ १ श्लो० सं० २०
2. संगीत रत्नाकर (प्रथम भाग) पृष्ठ ९, श्लो० सं० २१

उसे श्रुति कहते हैं। श्रुति के तीव्रा कुमुद्वती मन्दा, छन्दोवती आदि बाईस भेद होते हैं।

स्वर—जो नाद श्रुति-उत्पन्न होने के पश्चात् तुरन्त निकलता है, जो प्रतिध्वनित रूप प्राप्त करके मधुर तथा रंजन करने वाला होता है जिसे अन्य किसी नाद की अपेक्षा नहीं होती तथा जो स्वतः स्वाभाविक रूप से श्रोताओं के मन को आकर्षित कर लेता है उसे स्वर कहते हैं। स्वर के सात भेद हैं—षड्ज ऋषभ गान्धार, मध्यम पंचम धैवत और निषाद । इन्हीं के संक्षिप्त रूप सा रे, ग म प ध और नि हैं। स्वर के अनेक उपभेद हैं।

ग्राम—स्वरों के समूह को ग्राम कहते हैं। ग्राम मूर्च्छनाओं के आधार होते हैं। इसके तीन भेद हैं—षड्ज मध्यम तथा गांधार।

मूर्च्छना—सात स्वरों के क्रमानिवत आरोहण अवरोहण को मूर्च्छना कहते हैं।

तान—रागों को विस्तृत करने तानने तथा फैलाने की क्रिया को तान कहते हैं। इसके दो भेद हैं—शुद्ध तान और कूट तान।

सप्तक—सातों स्वरों के समूह को सप्तक कहते हैं।

वर्ण—स्वरों का यथानियम उच्चारण तथा विस्तार करने की क्रिया को वर्ण कहते हैं। वर्ण के चार भेद हैं—स्थायी आरोही अवरोही और संचारी।

अलंकार—नियमित वर्ण-समुदाय को अलंकार कहते हैं। अलंकारों के प्रयोग राग की शोभा के वर्द्धक होते हैं।

पकड़—जिस स्वर-समुदाय से किसी राग का बोध होता है, उसे पकड़ कहते हैं।

जाति—स्वरों के भेद-विशेष का बोध कराने वाली क्रिया को जाति कहते हैं। स्वरों के नाम पर ही सात जातियाँ मानी गई हैं—षड्जा आर्षभी गान्धारी मध्यमा पंचमी धैवती और निषादी।

मेल या ठाट—मेल या ठाट किसी भी प्रकार के स्वरों के समूह को कहते हैं।

राग—राग उस ध्वनि को कहते हैं जो स्वर तथा वर्ण द्वारा सुशोभित हो और जिसमें रंजकता हो। राग में तीन विशेषताएँ होती हैं—

१ ध्वनि की विशिष्ट रचना
२ स्वर और वर्ण का सम्मेलन
३ रंजकता

रंजकता राग का प्रमुख गुण है। इसी गुण की ओर संकेत करते हुए संगीत-दर्पण के रचयिता भर्त्त बिहारीलाल कहते हैं—

"राग वहै जाके गान करे से मन कों अत्यन्त प्रसन्नता होवे और दुःख को सुनने सो हर जावे सो राग।

कृष्ण भक्तों के संगीत का स्वरूप

हिन्दी-साहित्य में संगीत की सफल योजना कृष्ण-भक्तों द्वारा ही हुई है। संगीत का जो भी शास्त्रीय पक्ष है वह सब कृष्ण-साहित्य में मिल जाता है। संगीत की परिभाषा के अनुसार इसमें तीन कलाओं का मिश्रण होता है—गेयता, वाद्य और नृत्य।

गेयता—गेयता का आधार है राग। राग का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है, अतः इस विषय में किसी एक मत की स्थापना नहीं की जा सकती। जहाँ तक कृष्ण-साहित्य का सम्बन्ध है उसमें प्राय सभी वर्ग के राग और रागनियाँ प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए यदि हम केवल सूर के काव्य का ही अवलोकन करें तो उसमें ८७ के लगभग राग रागनियाँ मिल जाती हैं।[1]

1 आसावरी गूजरी सूहा, बिलावल सारंग कान्हरा (कान्हरी, कान्हरा) कल्याण मारू रामकली केदारो केदार, मलार, गौरी नट बिहागरा (बिहागरो) सोरठ, कल्यान परज देवगधार, नटनारायण, सूहाबिलावल टोड़ी सिन्धौटी बिलाव गोड़मलार, गूजरी भैरवी जैतश्री अहीरी मुलतानी धना श्री लखावती मुलतानी सुघराई, विभास, भूपाली बसन्त, कामोद, पावार नायकी काफी मलार कामोद, बिलावल रामकली गुनकली गुनसारंग पंचमश्री धौहठी ललित भैरव नटनारायनी भैरवी सुघरमलार, गौड़ गुण्ड पूर्वी, बिहागड़ा मेघमलार, श्री देवगिरि षटपदी गोपाल मल्हार देवकार, रामगिरि, बसन्ती राग्नी हुसैनी राग्नी धौहठी राग्नी मलार, राग्नी रामगिरी मलहिया बिलावल भीमपलार, होरी सोरठी अडाना देवसाख ईमन गंधारी, मलहिया शंकराभरण कुरंग हमीर, वैसाख संकीर्ण कर्नाट बैराटी, ललित पूरीमा मालकोस।

बाद्य—कृष्ण-जन्म तथा इससे सम्बन्धित अनेक उत्सवों बसन्त फाग होली हिंडोल आदि उत्सवों तथा रास-लीला आदि अनेक लीलाओं के अवसर पर कृष्ण-काव्य में अनेक वाद्ययन्त्रों का उल्लेख किया है। कृष्ण-काव्य में उल्लिखित वाद्ययन्त्र ये हैं—

शंख, मुरज डफ ताल बाँसुरी झालर, बीन रबाब किन्नरी अमृत-कुण्डली यंत्र स्वरमंडल जलतरंग पखावज उपंग शहनाई, सारंगी कंसताल कठताल मुहचंग खंजरी पटह, निसान, मृदंग डफ, झाँझ, तुर, वीणा, बन सृंग मुंगी, भेरी नगाड़ा डुग्डुक थारी महुवरि मंजीरा झड़वाला दमामा, मादल करताल मुरली, तालमृग भेरा पंचशब्द, तार और वीणा बीन।

नृत्य—लय और ताल के साथ अंग-सञ्चालन करते हुए हृदयस्थ भावनाओं को शरीर की चेष्टाओं के द्वारा प्रकट करना नृत्य कहलाता है। नृत्य के दो भेद हैं—ताण्डव और लास्य। उत्कट नृत्य को ताण्डव और मधुर नृत्य को लास्य कहते हैं।

कृष्ण-साहित्य में इन दोनों प्रकार के नृत्यों का समावेश है, साथ ही अन्य प्रकार भी देखे जाते हैं। जैसे—बाल-नृत्य और रास-नृत्य। बाल-नृत्य के अन्तर्गत कृष्ण की बाल-लीलाओं का वर्णन है और रास-नृत्य में कृष्ण की रास-लीला का वर्णन किया गया है। रास-नृत्य हल्लीश-नृत्य का ही रूप है। इस नृत्य में बीच में राधाकृष्ण रहते हैं और इनके चारों ओर गोपियाँ। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से कृष्ण ब्रह्म के तथा राधा और गोपियाँ जीव के प्रतीक हैं। ब्रह्म जीव को अपनी ओर खींचता है। इसी भावना को व्यक्त करने के लिए रास-नृत्य में केन्द्र में स्थित कृष्ण के चारों ओर गोपियाँ नृत्य करती हुई दिखाई जाती हैं।

मीराँ की संगीत-योजना

कृष्ण-साहित्य में संगीत-योजना का जो रूप है, वही मीराँ के पदों में भी मिलता है। यह बात दूसरी है कि अपनी सीमित परिधि में वह इस योजना का इतना विस्तार नहीं कर पाई हैं जितना सूर आदि कवियों के काव्य में मिलता है। मीराँ की संगीत-योजना को निम्नलिखित तीन शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है—

१ गायन अथवा गेयता
२ वादन अथवा वाद्ययन्त्र
३ नर्तन अथवा नृत्य

गायन अथवा गेयता—मीराँ के पदों में अनेक राग-रागनियों का विधान है। राग तिलंग ललित हमीर, कान्हरा बिहैनी गूजरी नीलाम्बरी मुल्तानी मालकोस कामोद झिंझोटी पटमंजरी गुनकली मांड धानी पीलू बरवा पूरियाकल्याण खम्माच अथवा पहाड़ी पीलू, जौनपुरी जोहनी बिलावल बिहागरा सोरठ सुखसोरठ, श्यामकल्याण रामकली दरबारी मलार, बिहाग धनाश्री जोगिया होली बागेश्वरी आनन्द भैरो भैरवी टोडी आसावरी सारंग कलिंगड़ा मल्ल काफी प्रभाती धमार, हमीर आदि अनेक राग मीराँ के पदों में पाये जाते हैं, जिनके कारण उनके पदों में गेयता है। उदाहरण के लिए राग-बिहाग देखिए—

'करम गत टारे नाहीं टरे ॥ टेक ॥
सतवादी हरिचन्दा राजा डोम घर नीरो भरे।
पाँच पाँडु की रानी द्रुपता हाड़ हिमालो गरे।
जाग किया बलि लेण इन्द्रासन जाँयाँ पाताल परे।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, बिखकूँ अमित करे ॥

केवल राग-रागनियों का बन्धन ही नहीं बल्कि मीराँ की भाषा का भी उनके पदों की गेयता को प्रगुण बनाने में महत्वपूर्ण सहयोग है। अतः यहाँ पर मीराँ की भाषा की कतिपय विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। ये विशेषताएँ हैं—

१ शब्दों का लोचयुक्त प्रयोग जैसे—मुरली से मुरलिया गोविन्द से गोविन्दो, पपीहा से पपैया राम से रमैया आदि।

२ संयुक्त वर्णों का असंयोजित रूप जैसे—अमृत से अमरित मार्ग से मारग, प्रभात से परभात कीर्ति से कीरत कृपा-निधान से किरपानिधान आदि।

३ ड़ वर्ण का प्रयोग जैसे—नेहड़ा हियड़ा बीहड़ियाँ कान्हड़ो आदि।

४ रे, री आदि का प्रयोग जैसे—मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, थास गह्यां थे सरणारी आदि।

५ अनुस्वारयुक्त दीर्घ स्वरों का प्रयोग जसे—सबदां सुणतां मेरी छतियां कांपां मीठे थारो बैण आदि।

वादन या वाद्य—कृष्ण साहित्य के अन्तर्गत जिस वाद्ययन्त्रों का उल्लेख किया गया है, उनका विवरण ऊपर दिया जा चुका है। मीरां के पदों में भी मुरली झाँझ, मृदंग इकतारा आदि का प्रयोग मिलता है। जैसे—

'आयां रणा री मुरली।
बाज्यों झाँझ मृदंग मुरलिया बाज्यां कर इकतारी।
आयां बसन्त पिया घर णारी म्हारी पीड़ा भारी॥

नर्तन या नृत्य—जिस प्रकार कृष्ण-साहित्य के अन्य भक्त-कवियों के काव्यों में नृत्यों का उल्लेख मिलता है उसी प्रकार मीरां के पदों में भी मिलता है। उदाहरणार्थ बाल-नृत्य और ताण्डव नृत्य देखिए—

१ बाल-नृत्य—

'सखी म्हारो कानूड़ा कलेजे की कोर।
मोर मुगुट पीताम्बर सोहै कुण्डल की झकझोर।
बिन्द्राबन की कुंज गलिन में नाचत नन्दकिशोर।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, चरण कँवल चितचोर।

२ ताण्डव नृत्य—

'कमल दल लोचणां थे नाथ्यां काल भुजंग ॥टेक॥
कालिन्दी दह नाग नाथ्या काल फण-फण निरत करंत।
कूद्यां जल अन्तर णां डर्‌यां थे एक बाहु अणन्त।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर ब्रजबणितारो कन्त॥

अत: कहा जा सकता है कि मीरां की संगीत-योजना शास्त्रीय और काव्यमयी दोनों है। डॉ० उषा गुप्ता कृष्ण-काव्य के भक्त कवियों की संगीत-योजना का मूल्यांकन करते हुए लिखती हैं—

'कृष्ण-भक्तिकालीन काव्य पर एक विहंगम दृष्टि डालने के उपरान्त यह कहना पड़ता है कि इन कवियों के काव्य में रस-राग तथा समय सिद्धान्त के

मधुर संयोग से दिव्य संगीत की सृष्टि हुई है। इन कवियों ने शास्त्रीय संगीत के नियमों को अपनाकर भारतीय संगीत और साहित्य के समन्वय की धार को अत्यधिक वेगवती कर दिया है।[1]

यह कथन मीराँ के लिए भी उतने ही उपयुक्त है जितने अन्य भक्ति-कालीन कृष्ण-कवियों के लिए है।

सारांश

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि काव्य और संगीत का परम घनिष्ठ सम्बन्ध है। संगीत के द्वारा ही काव्य में सजीवता एवं प्राणवत्ता आ है। कृष्ण-भक्त कवियों में संगीत का अत्यन्त सबल एवं शास्त्रीय पक्ष मिल है। यही पक्ष मीराँ की संगीत-योजना में भी है। राग-रागनियों के मर्या मीराँ ने अपनी भाषा में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है, जिससे इनकी भ माधुर्य गुण से प्लावित होकर तथा संगीत की विविध लहरियाँ लेकर भ्रम उठी है। मीराँ की संगीत-भावना सर्वत्र भावों को गति तथा प्रभावमयता में सफल रही है।

---

१ हिन्दी के कृष्ण-भक्ति कालीन साहित्य में संगीत पृष्ठ २८६

मीराँ की वेदनानुभूति

वेदना मन का एक भाव है परन्तु भिन्न-भिन्न शास्त्रों में इसका प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। चिकित्साशास्त्र में किसी अंग-भंग आघात या रोग विशेष से आविर्भूत पीड़ा को वेदना कहा जाता है। यह वेदना का भौतिक अथवा शारीरिक रूप है। मनोविज्ञान के अनुसार 'मूल प्रवृत्ति की संज्ञा' को वेदना माना गया है। यह वेदना का मानसिक अथवा सूक्ष्म रूप है। काव्यशास्त्र में वेदना का प्रयोग इन दोनों अर्थों से भिन्न होता है। काव्यशास्त्र में वर्णित वेदना में न तो चिकित्साशास्त्र की-सी शारीरिक पीड़ा होती है और न मनोविज्ञान की-सी सामान्य स्तरीय अनुभूति। काव्य का जन्म शुद्ध अनुभूति में होता है अतः काव्य की वेदना शुद्ध अनुभूत्यात्मक होती है। इसीलिए वेदना को काव्य की जननी कहा गया है।[1]

आदिकाल से ही वेदना काव्य को स्पन्दन देती आई है किन्तु युगानुरूप और व्यक्ति-अभिरुचि के कारण इसके स्वरूप और तत्त्वों में परिवर्तन होता रहा है। प्राचीन ग्रन्थों में जैसे—वेद रामायण महाभारत इत्यादि में हिंसा अन्याय अत्याचार, उत्पीड़न आदि वेदना के प्रेरक तत्त्व हैं। कालिदास-युग में प्रधानतः अनुराग की आधारशिला पर वेदना का प्रतिष्ठापन किया है। बौद्ध-ग्रन्थों में वेदना का आधार जीव की करुण स्थिति और संसार की

---

1 मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥ —वाल्मीकि रामायण

'Our sweetest songs are those that tell of saddest thoughts.'
—शेले

'ये सब स्फुलिंग हैं मेरी उस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न हैं केवल मेरे उस महा मिलन के।' —जयशंकर प्रसाद

'वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान
निकल कर नयनों से चुपचाप बही होगी कविता अनजान।' —पन्त

गवबरता है इसीलिए बौद्धों में वेदनानुभूति को 'महाकरुणा' कहा गया है। भक्तियुग में विलाप अनुराग प्रकृति में उदासी लोक-पीड़ा आत्मग्लानि विरह तथा निर्वेद आदि वेदना के प्रेरक तत्त्व बने। आधुनिक काल में वेदना के प्रेरक तत्त्वों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ है।

मीराँ की वेदना के प्रेरक तत्त्व

मीराँ भक्तियुग की महान् कवयित्री और भक्त हैं अतः भक्तियुग के प्रेरक तत्त्वों का—जिनका नामोल्लेख ऊपर किया गया है—इनकी वेदना को प्रेरित करने में काफ़ी हाथ है। स्थूलतः इनकी वेदना के तीन मूल प्रेरक हैं—

१ पति तथा माता-पिता आदि की मृत्यु
२ परिजनों द्वारा भीषण यातनाएँ
३ भक्ति-भावना

मीराँ के जीवन-वृत्त से ज्ञात होता है कि इनका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं रहा वरन् विवाह के कुछ वर्ष पश्चात् ही कुँवर भोजराज का देहान्त हो गया था। यदि मीराँ के जीवन से सम्बन्धित उन अनुभूतियों को छोड़ दिया जाये जो प्रायः प्रत्येक भक्त के जीवन से संचित हो जाती हैं तो कहा जा सकता है कि मीराँ का यह वैधव्य उस समय हुआ जब जीवन की सुनहली आशाएँ और उमंगें अपनी पराकाष्ठा पर होती हैं। इस आकस्मिक विपमाघात से निस्सन्देह ही मीराँ के आशाभरे हृदय को कचोट लिया होगा। साथ ही माँ-बाप की मृत्यु ने भी मीराँ को एक प्रकार से अनाथ ही बना दिया था। ये घटनाएँ विलाप और निर्वेद प्रेरक तत्त्वों के अन्तर्गत समाहित की जा सकती हैं।

इन घटनाओं ने मीराँ को संसार के प्रति अवश्य उदासीन बना दिया होगा। बचपन के भक्ति-संस्कार इस उदासीनता के साथ सबल पड़े। फलतः मीराँ ने लोक-लाज तजकर अपने आराध्य के समक्ष घुँघरू बाँधकर नाचना शुरू कर दिया 'सन्तन ढिग' बैठना आरम्भ कर दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि इनके परिजन अत्यन्त रुष्ट हो गए और तत्कालीन राणा ने इन्हें विविध प्रकार की यातनाएँ देनी आरम्भ कर दीं। इन यातनाओं में दो विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं—विष का प्याला और विषधर भेजना। मीराँ ने अपने अनेक पदों में इनका उल्लेख किया है। यथा—

'राणा विषरो प्याला भेज्यो पीय मगन हुयी।
मीराँ री लगण लग्यां होणा हो जो हुयी॥
\+ \+ \+
'राणा भेज्या विषरो प्यालो, मैं इमरित कर पीयो जी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, मिल बिछुड़न मत कीज्यो जी॥
\+ \+ \+
'विषरो प्याला राणा भेज्यो आरोग्यो ण्या चाख्यो।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, जनम जनम री साखो।'
\+ \+ \+
राणो भेज्यां विषरो प्याला चरणामृत पी जाणा।
काला नाग पिटार्यां भेज्या सालगराम पिछाणा॥

इन सब घटनाओं का प्रभाव यह हुआ कि मीराँ की वैराग्य भावना और भी अधिक प्रबल हो गई। वे अपने मार्ग में गिरिराज की भाँति अटल और निर्भय बन गई। विष के प्याले को अमृत के समान स्वादसहित पी गई और विषधर को कुसुमों की माला जानकर हृदय पर धारण कर लिया। इस प्रकार मीराँ की भक्ति-भावना दृढ़तर से दृढ़तम होती गई। यों तो इनकी भक्ति-भावना पर नाथ और सन्तमत का भी पर्याप्त प्रभाव है किन्तु यदि इस भावना को किसी सम्प्रदाय-विशेष की परिधियों में बाँधना ही अनिवार्य बन जाये तो इसे वैष्णव भक्ति-भावना के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

वैष्णव भक्ति में वेदना को प्रधानता दी गई है क्योंकि यही वेदना विरह की जननी होती है और विरह से ही आराध्य का सान्निध्य प्राप्त होता है। यही कारण है कि सूरदास के कृष्ण के मथुरा बस जाने पर ब्रज-वनिताओं के मन और जीवन सब में विरह भर देते हैं—

'बिरह भर्यो घर-आँगन कोने।
दिन-दिन बाढ़त जात सखी री ज्यों कुरखेत के सोने॥
तब यह सुख कीन्हो जब बाँधि ताहू को फल जानि।
निज कृत सुख समुझि मन ही मन मेटि परस्पर मानि॥
हम अबला अति दीन हीन मति तुम सबही बिधि जोग।
सूर बदन देखतहिं मधुप यह सरीर को रोग॥

मीराँ के हृदय में भी वेदना की अमित धाराएँ तरंगित हैं जो उनकी विरहाभिव्यक्तियों में बड़े ही मार्मिक ढंग से फूट पड़ी हैं। अपने प्रियतम के प्रति पूर्ण समर्पण करके उनकी सेवा के लिए वे 'हाजिर नाजिर' खड़ी तो रहती हैं पर साथ ही उन्हें उपालम्भ देने से भी नहीं चूकतीं—चूकें भी कैसे? जिस हृदय को विरह-बाण ने तड़पा दिया है, सुख तथा चैन से अपरिचित कर दिया है और जो खड़ी-खड़ी प्रियतम की प्रतीक्षा में घुलती है वह उपालम्भ न दे तो और कौन दे—

मैं तो पलक उघाड़ी दीनानाथ
मैं हाजिर नाजिर कबकी खड़ी।
साजनियाँ दुसमण हो बैठ्या सबने लगूँ कड़ी।
तुम बिन साजन कोई नहीं है डिगी नाव समँद अड़ी॥
दिन नहिं चैन रैण नहिं निदरा सूखूँ खड़ी खड़ी।
बाण विरह का लग्या हिये में भूलूँ न एक घड़ी॥
पत्थर की तो अहिल्या तारी बन के बीच पड़ी।
कहा बोझ मीराँ में कहिये सौ पर एक धड़ी॥

मीराँ की वेदना का स्वरूप

ऊपर बताया जा चुका है कि काव्य में वर्णित वेदना का स्वरूप चिकित्साशास्त्र तथा मनोविज्ञान में वर्णित वेदना से भिन्न होता है अर्थात् चिकित्साशास्त्र और मनोविज्ञान में वेदना के स्वरूप का निरूपण इसे 'दुःखात्मक' मानकर किया गया है किन्तु काव्य में इसका स्वरूप दुःखात्मक न होकर सुखात्मक ही होता है। काव्यशास्त्र में जो सुख-दुःखात्मकता का विवाद रस के विषय में उठा था उसके मूल में यही वेदनानुभूति है। इस विवाद का उपसंहार भक्ति-रसायन के इन शब्दों में माना जा सकता है—

'लोकनिष्ठा यथार्थं ते सुखदुःखादिहेतवः।
लोकोत्तरनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतवः॥'[1]

भक्त थोड़ा सामाजिक है, अतः उसके चित्त में रहने वाले समस्त भाव

1 भक्तिरसायन २ ५

केवल सुख के ही कारण होते हैं। इसी आधार पर, भक्त की वेदनानुभूति सुखात्मकता सिद्ध हो सकती है।

यहीं पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि मीरां की वेदनानुभूति लोम्यनिष्ठ है या बोद्धृनिष्ठ ?[1] दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि मीरां की वेदनानुभूति पार्थिव है अथवा अपार्थिव ? प्रो० रामेश्वरप्रसाद शुक्ल इसे पार्थिव और अपार्थिव दोनों का समन्वय मानते हैं—

'मीरां की वेदना के पीछे एक कुचले हुए स्वप्न की एक प्रेम-दग्ध हृदय की विकलता है। उस वेदना में पार्थिव यथार्थता है। मीरां ने कृष्ण के लिए उसी वेदना का अनुभव किया होगा जो एक प्रेमिका अपने हाड़, मांस के प्रेमी के लिए करती है। स्पष्ट है जब किसी अशरीरी अतीन्द्रिय प्रियतम के लिए वह भावना जोगी जाएगी वह विरह की आकुलता झेली जाएगी, जो एक स्थूल पार्थिव प्रियतम के लिए अनुभव की जाती है तब उसमें सजीव वास्तविकता जीती-जागती यथार्थता के साथ-साथ कसी भव्यता और दिव्यता होगी। मीरां में इसीलिए मैं 'मजाजी' और 'हकीकी' पार्थिव और अपार्थिव दोनों का मिलन मानता हूँ।'[2]

शुक्लजी का मीरां की वेदनानुभूति को पार्थिव मानने का कारण यह है कि उसमें 'सजीव वास्तविकता जीती-जागती यथार्थता' के साथ 'भव्यता और दिव्यता' है। यह मान्यता उचित नहीं है, इसके तीन कारण हैं। पहला तो यह कि मीरां की भावना इतनी परिष्कृत और उदात्त है कि उसमें पार्थिवता का लेशमात्र भी नहीं है। दूसरा कारण यह है कि जब मन साधारणीकृत हो जाता है—इस लोक-भूमि से ऊपर उठ जाता है—तभी भावों में सजीवता यथार्थता भव्यता और दिव्यता आती है। तीसरा कारण यह है कि पार्थिव वेदनानुभूति में दुःख का योग होता है उसमें आशा के स्थान पर निराशा और उत्साह के स्थान पर अकर्मण्यता की ही प्रधानता होती है किन्तु मीरां की वेदना में न तो निराशा के दर्शन होते हैं और न अकर्मण्यता के।

1 भाव दो प्रकार के माने गये हैं—लोम्यनिष्ठ और बोद्धृनिष्ठ। वर्णनीय विषय में रहने वाले भाव लोम्यनिष्ठ और बोद्धा सामाजिक में रहने वाले भाव बोद्धृनिष्ठ कहलाते हैं।

2 मीरां स्मृति-ग्रन्थ पृष्ठ १२७

मीराँ अपने प्रियतम से वियुक्त हो गई हैं इसका इन्हें अतीव दुःख है। अब इनकी समझ में नहीं आता कि प्रियतम किस प्रकार मिल सकता क्योंकि जब वह आया था तब यह सो गई थीं। इसीलिए इन्हें विरहजन्य दुःख के कारण तनिक भी चैन नहीं मिलता—

> 'आज्यां थे प्रभु मिलण बिध क्यां होय।
> आया म्हारि आगणां फिर गया मैं जाण्या खोय ॥
> जोवतांमग रैण बीतां दिवस बीतां जोय।
> हरि पधारयां आगणां गया मैं अभागण सोय ॥
> बिरह ब्याकुल अनल अन्तर कलणा पड़ता होय।
> दासी मीराँ लाल गिरधर मिल णा बिछड़यां कोय ॥

यही वेदना भिन्न-भिन्न प्रकार के रूपों में फूट पड़ती है। मधुमास में जब कोकिला पंचम स्वर में कूक उठती है तो विरहिणी की वेदना सजग हो जाती है। प्रियतम से मिलने के लिए अनुनय-विनय भी तो आवश्यक है। मीराँ भी कभी उनसे अनुनय विनय करती है तो कभी उपालम्भ देती है—

> 'गिरधर रीसाणा कौन गुणां।
> कछुक औगुण हम में काढ़ो मैं भी कान सुणां ॥
> मैं तो दासी थारो जनम जनम की थें साहब सुगणा।
> मीराँ कहे प्रभु गिरधरनागर थारोई नाम भणा ॥

इस पद में अनन्यभाव और उपालम्भ दोनों ने मिलकर भावों को जो भव्यता दिव्यता तथा यथार्थता प्रदान की है वह मीराँ जैसी सहृदया कवयित्रियों के सरस हृदय के ही उद्‌गार हो सकते हैं।

मीराँ की वेदनानुभूति में दिव्यता और यथार्थता तो है ही आशा का भी अपूर्व समन्वय है। यद्यपि प्रियतम के आने की अवधि को गिनते-गिनते इनकी उँगलियों की रेखा घिस जाती हैं किन्तु फिर भी ये निराश नहीं होतीं। प्रियतम के आने के समाचार की कल्पना से ही इनका मन उमंगित हो उठता है और ज्योतिषी को ये लाख-लाख बधाइयाँ देने लगती हैं—

> 'जातीड़ा जो लाज पधारया आस्यां म्हारो स्याम।
> म्हारे आणंद उमंग भरयारी जीव लह्यां सुखधाम।

पल पल सम्यां मिल पीव रिझावां आणंद ठामूं ठाम ॥
बिसरि जावां दुख निरखां पियारी सुफल मनोरथ काम ।
मीरां रे सुख सागर स्वामी भवण पधारयां स्याम ॥

यद्यपि मीरां का अपने प्रियतम से कभी साक्षात्कार नहीं हुआ मिलन नहीं हुआ तथापि उनकी आशा इतनी बलवती है कि इसीके सम्बल पर वे मिलन की कल्पना करके वास्तविक संयोग की अनुभूति कर लेती हैं और इसी अनुभूति के बल पर वे सावन के बादल का सुखद बना लेती हैं—

'सावण दे रह्या जोहा रे घर आयो जी स्याम मोरा रे ।
उमड़ घुमड़ चहु दिस से आया गरजत है घमघोरा, रे ॥
दादुर मोर पपीहा बोले कोयल कर रही सोरा, रे ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, ज्यो वारूं सोई थोरा, रे ॥'

मीरां की वेदना में अथाह विश्वास समाहित है । चारों ओर प्रकृति का मादक वातावरण छाया हुआ है जो किसी भी विरहिणी के मन को कचोट सकने में समर्थ है किन्तु वही वातावरण मीरां के समक्ष नत-मस्तक हो जाता है—

'नवलेंद मेघन भायाँ बादलाँ रुम छायाँ ।

इत घन गरजाँ उत घन बरजाँ चमका विज्जु डरायाँ ।
उमड़ घुमड़ घण छायाँ, पवण चल्यां पुरवायाँ ॥
दादुर मोर पपीहा बोलाँ, कोयल सबद सुणायाँ ।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, चरण कंवल चित लायाँ ॥'

आत्म-समर्पण की भावना मीरां की वेदनानुभूति की एक और विशेषता है । विरह के काले बादल मीरां के जीवनाकाश पर मंडराते हैं प्रियतम उसकी सुधि नहीं लेते परिजन उसके प्राणों तक को लेने पर उतारू हो जाते हैं किन्तु मीरां की समर्पण-भावना में कोई अन्तर नहीं आता । वह तो उसी रंग का जाने के लिए प्रस्तुत है जिसमें उनका प्रियतम रहता है—

'थारां काहो कैन मोहन चालां चालां काहो देस ।
कहो कसूमल साड़ी रंगावां, कहो तो भगवां भेस ॥
कहो तो मोतियन माँग भरावां कहो छिटकावां केस ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, सुणज्यो विड़द नरेस ॥

मीरां और महादेवी

कितने ही आलोचक मीरां और महादेवी की वेदना की तुलना करके अनेक समानताओं तथा विषमताओं का दिग्दर्शन कराते हैं । दोनों के काव्यों की मूल

प्रेरणा में थोड़ा-सा साम्य होते हुए भी युगों की परिस्थितियों के कारण वेदना-भाव में अनेक अन्तर हैं। मीरां रूप की आराधिका हैं और महादेवी अरूप की। महादेवी में मीरां की-सी आतुरता तन्मयता बेसुधि और अनावृत प्रेमाभिव्यंजना नहीं है। इन्हें तो चिर-विरह-वेदना ही एक-मात्र अवलम्बन है। यही दुलार इन्हें वैयक्तिक सुख-दुःख से आगे बढ़ाकर लोक-सेवा की ओर उन्मुख करता है। मीरां और महादेवी की वेदनानुभूति में केवल प्रतीकात्मक शैली का ही अन्तर नहीं है, बल्कि जीवन-दर्शन एवं भावनाओं के रूप में भी अन्तर है। मीरां का वेदनावाद भक्तिपरक विरहवाद है और महादेवी का सेवावाद।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि मीरां की वेदनानुभूति अत्यन्त उदात्त परिष्कृत और भावमयी है। प्रो॰ रामेश्वरप्रसाद शुक्ल के शब्दों में—

> मीरां की वेदना में एक शोधक प्रभाव (Purifying effect) है। उसके गीतों को पढ़कर सुनकर हम भीतर-भीतर एक मानसिक ठहराव—एक जीवन स्थिरता और प्रवृत्ति का मार्गान्तीकरण अनुभव करते हैं। प्रेम की वेदना हृदय को द्रष्टा और स्रष्टा दोनों बना देती है। श्रीमती ब्राउनिंग के शब्दों में—We learn in suffering what we teach in songs.[1]

सारांश

वेदना शब्द के अनेक अर्थ हैं। चिकित्साशास्त्र में किसी अंग-अंग आघात या रोग-विशेष से उत्पन्न पीड़ा को वेदना कहा जाता है। मनोविज्ञान के अनुसार सुख के प्रतिकूल भाव को वेदना कहते हैं। काव्यशास्त्र में करुणापरक दुःख अनुभूति को वेदना कहा जाता है। इसका जन्म करुणा से होता है। इसे ही काव्य की जननी कहा गया है।

मीरां की वेदनानुभूति हृदयपरक है। उनकी वेदना में तीन प्रेरक तत्त्व हैं—पति तथा माता-पिता आदि की मृत्यु, परिजनों द्वारा दी गई यातनाएं और भक्ति-भावना। मीरां की वेदना का स्वरूप शुद्ध हार्दिक है। जो हृदय लौकिक विषमताओं से जीवना सीखा नहीं अन्तरात्म भावना के कारण अलौकिकता का भाव लेकर फूट उठा। अतः मीरां की वेदना को पार्थिव शरीरी अथवा लौकिक मानना उचित नहीं है। उनकी वेदना दिव्य है जिसमें प्रियतम के प्रति अनन्य भाव तथा गहन आत्म-विश्वास निहित है। उनकी वेदना इतनी सजीव है कि यदि इन्हें करुणा अथवा वेदना की सजीव प्रतिमा माना जाय तो अनुचित न होगा। इस सजीवता में उनके नारी-हृदय की कोमलता एवं स्वाभाविकता का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।

---

1 मीरां स्मृति-ग्रन्थ पृष्ठ ११७

मीराँ की रस-योजना

नीतिविदों का कहना है कि 'अति' सर्वत्र वर्जनीय है क्योंकि यह अपनी पराकाष्ठा पर विपरीत प्रभाव की द्योतिका बन जाती है। मीराँ के विषय में यह उक्ति पूर्णतः सत्य है। मीराँ की अत्यधिक लोक-प्रियता के कारण इनके पदों में इतनी अधिक प्रक्षिप्तता आ गई है कि उन्हें छाँटकर मीरा के यथार्थ पदों को निकाल लेना अभी तक दुस्साध्य ही बना हुआ है। जब तक मीराँ के असली पद नहीं छँट जाते तब तक मीराँ के जीवनवृत्त तथा काव्य के साथ उचित तथा अपेक्षित न्याय नहीं हो सकता।

मीराँ की रस-योजना प्रस्तुत करते समय भी प्रक्षिप्तता की दुर्लभ्य दीवार सामने आ जाती है। मीराँ के नाम पर अनेक ऐसे पद मिलते हैं जिनके आधार पर इन्हें निर्गुणोपासिका कहा जा सकता है, किन्तु अधिकांश विद्वान् इन्हें या तो प्रक्षिप्त मान लेते हैं या केवल प्रभाव के रूप में ग्रहण करते हैं और मीराँ को सगुणोपासिका मान लेते हैं। डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी भी इसी मत के समर्थक हैं—

'मीराँ प्रधानतः साकारोपासक थीं न तो वे योग-साधिका थीं और न थीं निराकार उपासिका। निर्गुण उपासना और योग-सम्बन्धी शब्दावली का उनकी रचनाओं में पाया जाना लोक-प्रचलित एक साहित्यिक प्रणाली का निर्वाह मात्र है।[1]

मीराँ की समस्त पदावली का पर्यवेक्षण कर लेने के पश्चात् यह असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है कि इनकी रस-योजना के अन्तर्गत केवल दो ही रस आते हैं—शृंगार और शान्त रस। अनेक पदों में करुण रस की अभिव्यक्ति की भी अनुभूति होती है, किन्तु वह करुण रस न होकर विप्रलंभ शृंगार की करुणा है। अनेक पदों में वीर, रौद्र भयानक तथा वीभत्स रसों का आभास भी

1 मीराँ स्मृति-ग्रन्थ पृष्ठ २१८

मिलता है, किन्तु ये भक्ति की प्रेरणा के अन्तर्गत ही आये हैं और शुद्ध मनो-भावना पर आश्रित हैं अतः इन्हें रस न मानकर भाव मानना ही उपयुक्त है।

शृंगार रस

मानव-मन में काम भावना का आविर्भाव आदिकाल से ही है और इस भावना का वाचक शृंगार रस है। शृंगार शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—शृंग तथा आर। 'शृंग' का अर्थ है कामोद्रेक या काम की वृद्धि और 'आर' का अर्थ है प्राप्ति। इस प्रकार शृंगार का अर्थ हुआ कामोद्रेक या काम-वृद्धि की प्राप्ति। इसीलिए शृंगार रस को आदि रस या रसराज माना गया है। आचार्य विश्वनाथ ने शृंगार रस के आलम्बन उत्तम प्रकृति के माने हैं—

'उत्तम प्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते।'[1]

शृंगारप्रकाशकार ने भी शृंगार रस की इसी उत्तमता को स्वीकार किया है—

'शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः।'

शृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है। इस रस के देवता विष्णु माने गये हैं जो अपनी समस्त शक्ति रमा के साथ रमण करते हुए लोक का पालन करते हैं और इसीलिए उनका वर्ण श्याम बताया गया है।

साहित्य में शृंगार रस का निरूपण दो प्रकार से हुआ है। पहला प्रकार है लौकिक निरूपण। इसमें पार्थिव नर-नारियों की प्रणय-लीलाओं का चित्रण होता है। दूसरा प्रकार है अलौकिक निरूपण। इस निरूपण में अनुराग का आलम्बन कोई पार्थिव प्राणी न होकर परमात्मा होता है। इसलिए इस प्रकार के शृंगार को आध्यात्मिक शृंगार भी कहते हैं। निर्गुण सन्तों तथा कृष्ण-भक्त-कवियों का शृंगार-निरूपण इसी प्रकार का है।

शृंगार रस के दो भेद होते हैं—विप्रलम्भ और संयोग। इन्हें क्रमशः वियोग और संयोग शृंगार भी कहते हैं। विप्रलम्भ शृंगार में नायक-नायिका का परस्पर प्रगाढ़ अनुराग तो होता है किन्तु उनका मिलन नहीं हो पाता।

---

1 साहित्यदर्पण तृतीय परिच्छेद, श्लोक १८३

इस भेद के चार उपभेद हैं—पूर्वराग मान प्रवास और करुण। पूर्वराग का अभिप्राय है रूप-सौन्दर्य आदि के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा का जो उनके समागम से पूर्व हुआ करती है। इसमें ये दस कामदशाएँ होती हैं—अभिलाषा चिन्ता स्मृति गुणकथन उद्वेग संप्रलाप उन्माद व्याधि जड़ता और मरण। मीरां के पूर्वराग में यह समस्त दशाएँ उपलब्ध होती हैं। यथा—

१ अभिलाषा—इस दशा में विरहिणी की प्रियतम को देखने की तीव्र अभिलाषा जागृत होती है। मीरां की भी अभिलाषा है कि उसका प्रियतम सदैव उसकी आँखों के आगे रहे—

'पिया म्हारे नैणा आगाँ रहज्यो जी।
नैणा आगाँ रहज्यो म्हाणे भूल णा जाज्यो जी॥

२ चिन्ता—जब विरहिणी प्रियतम से मिलने के लिए चिन्तित हो उठती है। मीरां अपने प्रियतम के दर्शनों के लिए इतनी चिन्तित है कि वह चाहती है कि किसी दिन उनका राम उन्हें याद करे—

'कोई दिन याद करो रमता राम अतीत।

३ स्मृति—स्मृति का अर्थ है याद। मीरां अपने प्रियतम को अहर्निश याद करती रहती है और साथ ही अपने नेह की दुहाई देती रहती है—

'रमैया मेरे तोही सूं लागी नेह।
लागी प्रीत जिन तोड़ै रे बाला अधिको कीज्यो नेह।

४ गुण-कथन—मीरां के आराध्य (प्रियतम) साधारण नहीं असाधारण हैं। वे अपने वंशी-वादन से समस्त ब्रज-नारियों को रिझाया करते हैं—

'मोर मुकट माथ्यां तिलक बिराज्यां कुण्डल अलकां कारी जी।
अधर मधुरधर बंसी बजावाँ रीझ रिझावाँ ब्रजनारी जी॥'

५ उद्वेग—इस अवस्था में पहुँचकर विरहिणी को सुन्दर वस्तुएँ भी प्रतिकूल लगने लगती हैं। मीरां को प्रियतम के बिना न तो भवन अच्छा लगता है, न फूलों की सेज—

'प्रीतम बिनि तिम जाइ न सजनी दीपक भवन न भावै हो।
फूलन सेज सूल होई लागी जागत रैण बिहावै हो।

६ संप्रलाप—मीराँ का संप्रलाप निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है—

'हरि बिन क्यूं जिवां री माय।
स्याम बिना बौरी भयां मण काठ ज्यूं घुण खाय ।।

७ उन्माद—'हेरी म्हां दरदे दिवाणी म्हांरा दरद न जाण्यां कोय।'

८ व्याधि—'दुखिया रा दुखिया करो म्हांने दरसण दीज्यो जी।

९ जड़ता—'जाए पाए म्हारे नैंण न भावों नैंणा मूंदा कपाट।'

१० मरण—मूल यौवन का कच्यां म्हाणें प्रेम पीड़ा खाय ।
मीन बल बिछुड़्या रा जीवां तलफ मर मर जाय ।।

मान का अर्थ है कोप या प्रणय-कोप । इसके दो भेद होते हैं—प्रणय-समुद्भव मान और ईर्ष्यासमुद्भव मान। प्रवास में नायक अथवा नायिका किसी कार्यवश अथवा संभ्रमवश विदेश-गमन कर जाते हैं और इस प्रकार एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं । प्रवास-विप्रलम्भ के कारण नायिका में इन दस कामदशाओं का आना स्वाभाविक है—अंगों का असौष्ठव सन्ताप पाण्डुता दुर्बलता अरुचि अधीरता अनावलम्बनता तन्मयता और मूर्च्छा। कुछ आचार्य मरण की ग्यारहवीं दशा भी स्वीकार करते हैं। करुण विप्रलम्भ का वह प्रकार है जिसे प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक के दिवंगत हो जाने किन्तु पुनरुज्जीवित हो सकने की अवस्था में जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोक-संवलित रति भाव का अभिव्यंजन कहा गया है । दूसरे शब्दों में जहां मृत्यु के पश्चात् भी मिलन की आशा बनी रहे वहां करुण विप्रलम्भ होता है।

सम्भोग या संयोग शृंगार में नायक-नायिका परस्पर साथ रहते हुए आनंद लाभ करते हैं। इसके चार भेद माने गये हैं—पूर्वरागान्तर संभोग मानान्तर संभोग प्रवासानन्तर संभोग और करुणान्तर संभोग।

मीराँ का विरह-वर्णन

मीराँ का काव्य विरह-वर्णन से ओतप्रोत है। काव्यमर्मज्ञों की यह मान्यता है, और जीवन में प्रत्यक्ष भी देखा जाता है कि प्रेम की परिपूर्णता तथा परिपक्वता के लिए विरह का होना आवश्यक है । संयोग अवस्था में प्रेमी प्रेमिका के मध्य एक प्रकार का वैषम्य आ जाता है। इस वैषम्य को दूर करने के लिए तथा प्रेम को उद्दीप्त करने के लिए विरह अनिवार्य है। मनस्तत्त्वि

सूरदास ने भी कहा है कि जिस प्रकार माम लगाने से वस्त्र का रंग पक्का हो जाता है, उसी प्रकार विरह के कारण प्रेम में भी परिपक्वता आ जाती है। मीरां में विरह के दो रूप ही दृष्टिगोचर होते हैं—पूर्वराग और प्रवास।

१ पूर्वराग—मीरां के काव्य में पूर्वराग के पर्याप्त पद मिलते हैं। इन्होंने स्वयं अनेक पदों में स्वीकार किया है कि इनका अपने प्रियतम से कोई नवीन परिचय नहीं वरन् जन्म-जन्म का साथ है। यथा—

'माई री म्हां लियां गोविन्दां मोल।
थे कह्यां छाने म्हां कह्यां चोड्डे लियां बजन्तां ढोल।
थे कह्यां मुँहोंघो म्हां कह्यां सस्तो, लियां री तराजां तोल॥
तण वारां म्हां जीवण वारां, वारां अमोलक मोल।
मीरां कूं प्रभु दरसण दीज्यो पूरब जनम को कोल॥'

\+ \+ \+ \+

'अखयां तरसां दरसण प्यासी।
मग जोवां दिण बीतां सजणी णैण पड़्या दुखराती।
डारां बैठ्यां कोयल बोल्यां, बोल सुण्यां री गाती॥
कड़वा बोल लोक जग बोल्यां करस्यां म्हारी हांसी।
मीरां हरि रे हाथ बिकाणी जनम जणम री दासी॥

\+ \+ \+ \+

'लोग कोई कोई बोल सुणावां, म्हां सांवरां गिरधारा।
पूरब जणम री प्रीत पुराणो जावां णा गिरधारी॥
सुन्दर बदन जोवतां साजण, थारी छबि बलिहारी।
म्हारे आंगण स्याम पधारो, मंगल गावां नारी॥
मोती चौक पुरावां नैणां, तण मण डारां वारी।
चरण सरण री दासी मीरां जणम जणम री क्वांरी॥

\+ \+ — \+

'मेरे प्रियतम प्यारे राम कूं लिख भेजूं रे पाती।
स्याम सनेसो कबहुं न दीन्हो जानि बूझ गुझवासी।
डगर बुहारूं पथ निहारूं जोइ जोइ अंखियां राती॥

रातो दिवस मोहि कल न परत है होयो फ्टत मेरी छाती ।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे पूरब जनम का साथी ॥'

इस प्रकार मीराँ का अपने प्रियतम से बहुत पुराना परिचय है और इसी परिचय की बार-बार दुहाई देकर वे विरह-संतप्त हो उठती हैं। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने मीराँ के पूर्वराग का विश्लेषण इन शब्दों में किया है—

'उनके (मीराँ के) पूर्वानुराग में मधुर आकर्षण स्नेह-सिक्त लगाव अपूर्व उत्साह एवं दृढ़ निश्चय के भाव हैं। उनके हृदय में श्री गिरधरलाल के प्रति जो मधुर रति है वही उनके पदों में प्रदर्शित विभाव अनुभावादि द्वारा क्रमशः परिपुष्ट होकर मधुर रस का रूप ग्रहण करती हुई दीख पड़ती है। आलम्बन सर्वत्र वही श्री गिरधरलाल हैं जो गिरधरनागर, नन्दनन्दन मदनमोहन गोविंद, हरि कान्हा रमया जोगिया साँवरो आदि नामों द्वारा भी सम्बोधित किये गये हैं। वे सौन्दर्य के निधान एवं मूर्तिमान शृंगार हैं।'[1]

इन्हीं गिरधर के रूप छवि पर तथा इनकी भक्तवत्सलता पर मीराँ रीझ गई हैं। इनके सिर पर मोर पंखों का मुकुट माथे पर तिलक कुण्डल और काली अलकें तथा वंशी का मधुर-मधुर वादन मीराँ के रोम-रोम में समा गया है नैनों में बस गया है—

'बस्यों म्हाँरे णेणण माँ नंदलाल।
मोर मुगट मकराकृत कुण्डल अरुण तिलक सोहाँ भाल।
मोहण मूरत साँवराँ सूरत णेणा बण्या बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजाँ उर बैजंती माल।
मीराँ प्रभु संताँ सुखदायाँ भक्त बछल गोपाल॥

मीराँ के काव्य में ऐसे अनेक पद मिलते हैं जिनमें कृष्ण की रूप-छवि का वर्णन किया गया है। यह वर्णन पूर्वराग के अन्तर्गत ही समाविष्ट किया जायेगा।

२ प्रवास—इतना सुदृढ़ पूर्वराग होने पर भी मीराँ का प्रियतम उससे बिछुड़ गया है वह परदेश चला गया है। अपनी वियोगावस्था का ध्यान करके मीराँ विरह से व्याकुल हो उठती है। वह अपनी स्थिति उस नौका के समान

---

1 मीराँबाई की पदावली पृष्ठ ४६

समझती है जिसका नाविक उसे बीच समुद्र में छोड़ गया है। उसका प्रियतम विश्वासघाती है, किन्तु फिर भी उसके बिना मीराँ को जीवित रहना कठिन हो रहा है—

'प्रभुजी थें कहाँ गया नेहड़ा लगाय ।
छोड्याँ म्हाँ विस्वास सँगाती प्रेम की बाती बलाय ।
बिरह समंद में छोड़ गया छो, नेह की नाव चलाय ।
मीराँ रे प्रभु कब रे मिलोगे, थें बिण रह्याँ ण जाय ।'

मीराँ का विरह-वर्णन बहुत ही स्वाभाविक और मार्मिक है। काव्य-शास्त्र में प्रवास-विप्रलंभ के अन्तर्गत दस काम-दशाओं का विवेचन किया गया है। अब देखना यह है कि मीराँ के विरह-वर्णन में ये दशाएँ किस सीमा तक उपलब्ध होती हैं। ये दशाएँ दस हैं जिनका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

१ अंगों का असौष्ठव—इस काम-दशा में विरहिणी अपने शरीर की सुधि-बुधि भूल जाती है और शरीरावयवों को स्वच्छ भी नहीं कर पाती। मीराँ में शरीरावयवों की मलीनता तो नहीं मिलती पर शरीर-सज्जा के प्रति अरुचि अवश्य मिलती है। जैसे—

'रहण आभरण भूखण छाड्याँ खोर कियाँ सिर केस ।
भगवाँ भेख धर्‌याँ थें कारण ढूँढ्याँ चार्‌याँ देस ।।

२ सन्ताप—सन्ताप का अर्थ वियोग-ज्वर अथवा वियोग-रोग है। मीराँ भी अपने रोग का वर्णन करती हैं किन्तु इनका रोग तो इतना रहस्य पूर्ण है कि वैद्य भी उसे नहीं जान पाता—

'बावल बैद बुलाइया रे म्हाँरी बाँह दिखाय ।
बैद भरण ण जाणा री म्हाँरो हिवड़ो करकाँ जाय ।।

३ पाण्डता—पाण्डता का अर्थ है पीलापन। मीराँ भी अपने प्रियतम के वियोग में पान की तरह पीली पड़ गई हैं जिसे अन्य लोग भ्रमवश पित्तरोग समझ बैठे हैं—

'पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी रे लोग कह्याँ पिंडबाय ।

४ दुबलता—प्रियतम के वियोग के कारण नायिका इतनी दुर्बल हो

जाती है कि उसे अपना-पराया समझना भी मुश्किल हो जाता है। मीरां के प्राप्त पदों में इस दशा का वर्णन उपलब्ध नहीं होता।

५ अरुचि—अरुचि का अर्थ है विरक्ति। मीरां के पदों में इस भावना का वर्णन पर्याप्त है। प्रियतम-वियोग के कारण इनकी भावनाओं में इतनी अधिक विरक्ति आ जाती है कि इन्हें समूचा देश ही 'रंगरूड़ो' लगने लगता है और यह सब साज-सज्जाओं को तिलांजलि दे देती है—

'नहिं भावै थारो देसड़लो रंगरूड़ो।
थारे देसां में राणा साध नहीं छै लोग बसै सब कूड़ो।।
गहणा गांठी राणा हम सब त्यागा त्याग्यो कर रो चूड़ो।
काजल टीकी हम सब त्यागा त्याग्यो है बांधन जूड़ो।।'

६ अधीरता—अधीरता का अर्थ है धैर्य का अभाव अर्थात् कहीं भी जी न लगना। इस स्थिति में आने से विरहिणी को संसार की समस्त वस्तुएँ नीरस लगने लगती हैं। मीरां के काव्य में भी अनेक पदों में इस दशा के वर्णन उपलब्ध होते हैं। जैसे—

'बिन पीया जोत मंदिर अँधियारो दीपक दाय न आवै।
पिया बिन मेरी सेज अलूनी जागत रैण बिहावै।।

७ अनावलम्बनता—इस दशा में विरहिणी बिल्कुल आश्रयहीन हो जाती है। उसका कोई सहारा नहीं रहता। मीरां भी अपने प्रियतम के वियोग में इतनी निरावलम्ब हो गई हैं कि वे कहाँ जायें किससे अपनी बातें कहें स्वयं उनकी समझ में नहीं आता—

'नैन भर आवै।
कहा करूं कित जाऊं मोरी सजनी वेदन कूण बुझाव।
बिरह नागण मोरी काया डसी है लहर लहर जिव जाय।।

८ तन्मयता—तन्मयता का अर्थ है मन की एकाग्रता। इस दशा में विरहिणी का मन अपने प्रियतम में इस प्रकार रम जाता है कि उसे उसके बिना और कोई अच्छी नहीं लगती। मीरां भी अपने प्रियतम के प्रति इतनी तन्मय हो गई हैं कि अपना समस्त जीवन—जीवन की निखिल इच्छाएँ एवं क्रियाएँ—उसीके प्रति अर्पित कर दी हैं। उनके देखे बिना विरहिणी को क्षणभर भी

चैन नहीं मिलता। मिले भी कैसे? उनके चरणों का आधार ही तो विरहिणी का आधार बन गया है—

'स्याम सुन्दर पर वारों जीवड़ा डारों स्याम।
थारे कारण जग जण त्यागी लोक लाज कुल डारी।
थें देख्यां बिण कल ना पड़ताँ नैणां चलतां धारां॥
क्यासूं कहूँ कोइ बूझां कठण बिरह री भारी।
मीरां रे प्रभु दरसण दीज्यो थें चरणां आधारी॥'

६ उन्माद—उन्माद का अर्थ है पागलपन (दिवानापन)। मीरां अपने प्रियतम के प्रेम में इतनी दिवानी हो गई है कि उसे सब जगह ढूंढती फिरती है—

'जोगी म्हाने दरस दियां सुख होई।
नातर दुख जग मांहि जीवड़ो, निस दिन झूरे तोइ।
दरद दिवानी भई बावरी, डोली सब ही देस।
मीरां दासी भई है पंडर पलट्या काला केस।

मूर्च्छा और मरण की दशाएँ मीरां में प्राप्त नहीं होतीं।

प्रकृति—प्रकृति और काव्य का अटूट सम्बन्ध है। प्राचीन काल से ही शृंगार रस के अन्तर्गत प्रकृति का प्रयोग होता आया है। यह प्रयोग मुख्यत दो रूपों में हुआ है—आलम्बन रूप में और उद्दीपन रूप में। ये रूप संयोग और वियोग दोनों ही अवस्थाओं में प्रयुक्त हुए हैं। संयोग में जो प्रकृति सुख और आनन्द की भावनाओं को उद्दीप्त करती है, वियोग में वही दुःख और सन्ताप को बढ़ाती है। संयोग का समय अधिक होते हुए भी अल्प प्रतीत होता है और वियोग का समय अल्प होते हुए भी अधिक अनुभव होता है। इसीलिए आचार्यों ने संयोग वर्णन प्रकृति को 'षट् ऋतु वर्णन' के अन्तर्गत और वियोग में 'बारह मासा' का समर्थन रखा है।

मीरां ने प्रकृति का प्रयोग वियोग में 'बारह-मासा' के रूप में किया है। सावन के बादलों को देखकर विरहिणी सन्तप्त होकर तड़प उठती है—

'बादल देखां झरी स्याम मैं बादल देखां झरी।
काला पीला घटा उमग्या बरस्यो चार घरी।'

छिन बोल्याँ छिन पाणी पाणी प्यासा घूम हुरी।
म्हारा पिया परदेसाँ बसताँ भीज्याँ बार बरी।
मीराँ रे प्रभु हरि अविनासी करस्याँ प्रीत खरी।

पपीहा को भत्सना देना साहित्य की प्राचीन परम्परा है। मीराँ ने भी निम्नलिखित पद में इसी परम्परा का पालन किया है—

'पपइया रे पिव की वाणी न बोल।
सुणि पावेली बिरहणी रे थारी रालेली पाँख मरोड़॥

इस विवेचन के उपरान्त यह कहना आसान हो जाता है कि मीराँ का विरह-वर्णन शास्त्रीय कसौटी पर भी खरा है और अपनी अभिव्यक्ति में भी।

डॉ० श्रीकृष्णलाल ने मीराँ की विरह-भावना का मूल्यांकन इन शब्दों में किया है—

'हिन्दी के कतिपय समालोचकों ने जायसी के विरह-वर्णन को हिन्दी-काव्य में सर्वोत्कृष्ट ठहराया है परन्तु जायसी का विरह निवेदन मीराँ के गम्भीर पदों के सामने केवल ऊहात्मक और अतिशयोक्ति पूर्ण उक्तियाँ ही जान पड़ती हैं। दादू का विरह-वर्णन अवश्य उत्कृष्ट बन पड़ा है परन्तु जो व्यापकता और गंभीरता मीराँ के पदों में है उसका लेश भी दादू के दोहों और पदों में नहीं।'[1]

मीराँ का विरह-वर्णन अधिकांशतः काव्यशास्त्रानुमोदित होते हुए भी केवल परम्परा का पिष्टपेषण नहीं है। उसमें एक विरहिणी की भावुक तथा अनुराग-मयी आत्मा का यथार्थ आर्तनाद है जो नारी की—विरहिणी नारी की—समस्त विवशताओं को लाँघकर फूट पड़ा है। यही कारण है कि इनके विरह-वर्णन में आन्तरिक वेदना का समावेश होने से मानसिक पक्ष की प्रधानता है। मीराँ का विरह स्वानुभूत होने के कारण मार्मिक वेदना की एक सच्ची हृदयस्पर्शी कहानी है। इनके विरह का सही मूल्यांकन वही हृदय कर सकता है जो स्वयं विरहानल में जल रहा हो—

'घायल की गति घायल जाणै कि जिण लाई होय।'

1 मीराँबाई, पृष्ठ ११६

मीराँ का संयोग-वर्णन

मीराँ के काव्य में संयोग (सम्भोग) शृंगार का भी वर्णन मिलता है। यह वर्णन प्रकाशान्तर संयोग के अन्तर्गत आता है। मीराँ का प्रियतम एक लम्बी अवधि के पश्चात् घर लौट आता है। विरहिणी का मन प्रसन्नता से उत्फुल्ल हो गया है और वह आनन्दातिरेक में गा उठती है—

'साजण म्हारे घरि आया हो।
जुगाँ जुगाँ री जोवती विरहणि पिव पाया हो।
रतन करूँ नेवछावरी ले आरत साजाँ हो॥
प्रीतम दिया सनेसड़ा म्हारे घणो सुभागो हो।
पिय आया म्हारे साँवरा अंग आणन्द साजाँ हो॥
हरि सागर सूँ नेहरो नैणाँ बन्ध्या सनेह हो।
मीराँ रे सुख सागरा म्हारे सीस विराजाँ हो॥

वियोग में जो प्रकृति दुःखों को उद्दीप्त करती थी, संयोग में वही सुख देने लगी है। जिन सावन के बादलों को देखकर विरहिणी झुरने लगती थी अब उन्हें देखकर उसके मन में अत्यधिक उमंग का संचार होता है—

बरसाँ री बदरिया सावन री सावन री मण भावन री।
सावन माँ उमग्यो म्हारो मण री भणक सुण्या हरि आवण री।
उमड़ घुमड़ घण मेघाँ आयाँ, दामण घण झर लावण री॥
बीजाँ बूँदाँ मेहा आयाँ बरसाँ सीतल पवण सुहावण री।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, बेला मंगल गावण री॥

मीराँ के संयोग-वर्णन में सबसे अद्भुत विशेषता जो अन्य भक्त-कवियों में नहीं मिलती यह है कि इन्होंने मिलन के कहीं भी मांसल चित्र प्रस्तुत नहीं किये हैं। इसका कारण सम्भवतः इनका नारीत्व है। यह तो केवल इतना कहकर ही सन्तोष कर लेती है—

'आवत मोरी गलियन में गिरधारी।
मैं तो छुप गई लाज की मारी॥

या, केवल प्रियतम की रूप-छवि का वर्णन करके उसके प्रति अपना आत्मनिवेदन व्यक्त कर देती है—

'म्हारे डेरे आज्यो जी महाराज।
चुणि चुणि कलियाँ सेज बिछायी नखसिख पहर्यो साज॥
जनम जनम की दासी तेरी, तुम मेरे सिरताज।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी दरसण दीज्यो आज॥

मीराँ और शान्त रस

शान्त रस का निरूपण निर्विवाद नहीं है। इसका प्रत्येक पहलू विवादग्र है। कुछ आचार्य तो शान्त रस को मानते ही नहीं और जो मानते भी उनका इसके स्थायी भाव विभाव आदि के विषय में मतैक्य नहीं है। यहाँ प स विवाद का उल्लेख न तो आवश्यक ही है और न इसके लिए यहाँ स्था ही है। अतः अधिकांश आचार्यों द्वारा इसका जो निरूपण किया गया है, उसी आधार पर इसका विवेचन करना उपयुक्त प्रतीत होता है।

सामाजिक के हृदय में संस्कार रूप से स्थित निर्वेद या शम स्थायी भा व संसार की असारता का ज्ञान आदि आलम्बन विभाव ऋषियों के आश्र वित्र तीर्थों की यात्रा सत्संग आदि उद्दीपन-विभाव रोमांच संसार भीरु ास्त्रों का चिन्तन आदि अनुभव और निर्वेद हर्ष स्मृति मति आदि संचा ावों से अभिव्यक्त होकर आस्वाद का विषय बन जाता है, तब उससे जो आनन्द प्राप्त होता है उसे शान्त रस कहते हैं। डॉ० राघवन ने रुद्रभट्ट प्रकाशित ग्रन्थ 'रस-कलिका' के आधार पर लिखा है कि रुद्रभट्ट ने शान्त के भेदों के समान शान्त के भी वैराग्य दोष-निग्रह, सन्तोष तथा तत्त्व-साक्षा कार नामक चार भेद माने हैं। वस्तुतः यह चारों उसके भेद नहीं अपि उसके साधन मात्र हैं।[1]

मीराँ जन्म से भक्त थीं अतः संसार के प्रति इनमें उदासीनता का भाव होना स्वाभाविक है। इनके अनेक पद हैं जिनमें सत्संगति की महिमा और संसार के प्रति विरक्ति दिखाई गई है। यथा—

'स्याम बिन दुख पावाँ सजणी।
दुख म्हा और बेमावाँ॥

[1] रस-सिद्धांत स्वरूप-विश्लेषण (डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित) पृष्ठ २६७

यो संसार कुबधि रो भाँडो साध संगत रा भाजा ।।
साधाँ बसरी निया ठाणाँ करमरा कुगत कुमावाँ ।
राम नाम बिनि मकुति न पावाँ फिर चौरासी जावाँ ।।
साध संगत माँ भूल रा जावाँ, मूरख जणम गमावाँ ।
मीराँ रे प्रभु थारी सरणाँ, जीव परमपद पावाँ ।।'

सारांश

अन्ततः कहा जा सकता है कि मीराँ की रस-योजना बहुत ही सफल और मार्मिक है। यद्यपि मीराँ का ध्यान इस योजना की ओर बिल्कुल नहीं था तथापि यह सत्य है कि महती भावनाएँ स्वतः योजनाबद्ध होती हैं। इसीलिए मीराँ की रस-योजना में जहाँ एक ओर हृदय की सच्ची तथा यथार्थ अनुभूतियाँ मिलती हैं, वहाँ दूसरी ओर यह काव्यशास्त्र के निकष पर भी खरी उतरती है। शृंगार-रस इनका प्रमुख प्रतिपाद्य है। शृंगार के दोनों अंगों का—संयोग और वियोग का—इनके पदों में पूर्ण परिपाक मिलता है, किन्तु संयोग की अपेक्षा वियोग का वर्णन अधिक और सजीव है। इसका कारण यह है कि यह मूलतः विरहिणी हैं। विरह का स्वर इनका अपना है। संयोग की कल्पनाएँ तो विरह भाव को उद्दीप्त करने के लिए की गई हैं। इनका आगमन स्वाभाविक भी था। वस्तुतः विरहिणी मीराँ का स्थान हिन्दी-साहित्य में उपमानहीन है।

मीराँ का दर्शन

मीराँबाई का परिचय देते हुए डॉ॰ ओमप्रकाश ने लिखा है—

'मीरा में दर्शन या विचारों की खोज व्यर्थ है, वह प्रेम दिवानी थी, प्रेम ही उनका दर्शन और प्रेम ही उनका जीवन है।'[1]

ये पंक्तियाँ मीराँ की प्रेम-साधना की द्योतिका अवश्य है किन्तु इससे यह समझना कि मीराँ का कोई दर्शन ही नहीं था अनुचित ही है। इसका कारण यह है कि यदि हम मीराँ के युग पर दृष्टिपात करें तो यह पता चलता है कि उस समय तक दर्शन की नींव पर अनेक भक्ति-सम्प्रदायों का उदय और अस्त हो चुका था। भक्ति की इस लम्बी परम्परा में कोई भी भक्त ऐसा नहीं मिलता जिसका कोई दर्शन न हो। यह बात दूसरी है कि उसका दर्शन-ज्ञान एक दार्शनिक का ज्ञान न होकर भक्तों की सत्संगति की देन हो। इस विषय में दूसरा तर्क यह भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि दर्शन और साहित्य का अटूट सम्बन्ध है। दोनों का लक्ष्य समान है केवल साधन का अन्तर है। दर्शन में ज्ञान की प्रधानता है और साहित्य में भाव की। दर्शनशास्त्र अपने तर्क-वितर्कों के द्वारा जो निष्कर्ष निकालता है, साहित्य उसी निष्कर्ष को काव्यमयी भावना प्रदान करके आनन्द का विषय बना देता है। दूसरे शब्दों कह सकते हैं कि दर्शन ही साहित्य के लिए पथ का निर्माण करता है। डा॰ विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने दर्शन और काव्य का अटूट सम्बन्ध इन शब्दों में स्थापित किया है—

'कवि, दार्शनिक की अपना पथ प्रदर्शन बनाने में ही मानता आया है, आज तक का इतिहास कम से कम यही है। जो कवि स्वयं दार्शनिक थे उनके सिद्धान्तों के लिए उनके प्रवर्तक या प्रचारक किसी बड़े दार्शनिक पर निर्भर रहे हैं—यथा श्री शंकराचार्य पर। अतः कविता और दर्शन का अटूट सम्बन्ध चला आ रहा है।'[2]

---

1 हिन्दी-काव्य और उसका सौन्दर्य पृष्ठ १२७

2 हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ १९

अतः यह कहना कि मीराँ का कोई दर्शन नहीं था उचित नहीं जान पड़ता। यदि मीराँ के काव्य पर तथा इनके जीवनवृत्त पर ध्यान दिया जाये तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि मीराँ का एक दर्शन था—निश्चित दर्शन था और वह था वल्लभीय दर्शन। मीराँ के पितामह राव दूदाजी भी इसी दर्शन से प्रभावित थे और मीराँ पर उनका गहन प्रभाव था।

मीराँ की दार्शनिक विचारधारा से पूर्णतया अवगत होने के लिए वल्लभीय दर्शन पर विहंगम दृष्टिपात अनिवार्य है।

वल्लभीय दर्शन

वल्लभीय दर्शन के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य हैं। इस विचारधारा को भारतीय दर्शन में शुद्धाद्वैत का नाम दिया गया है। इस दर्शन के चार प्रतिपाद्य प्रमुख हैं—

१ ब्रह्म का निरूपण
२ जीव का स्वरूप-निरूपण
३ जगत् का निरूपण
४ भक्ति का निरूपण

१ ब्रह्म का निरूपण—वल्लभाचार्य से पूर्व शंकराचार्य ब्रह्म के निर्गुण रूप का प्रतिपादन कर चुके थे। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों को ग्रहण किया तथा इन दोनों रूपों को ही नित्य बताया। ब्रह्म को माया से असम्पृक्त माना और सिद्ध किया कि माया से ब्रह्म सगुण नहीं होता बल्कि ब्रह्म के दोनों रूप स्वाभाविक हैं। जो ब्रह्म अणोरणीयान् है वही महतो महीयान भी है। ब्रह्म एक भी है और अनेक भी है। वह स्वतन्त्र होकर भी अपने भक्तों के अधीन है। लीला-प्रदर्शन के लिए यही ब्रह्म जीव-रूप में अवतार लेता है और इस प्रकार वह-जगत् के साथ क्रीड़ा करता है। लीला-रूप में वह चार रूपों को धारण करता है—वासुदेव (मुक्तिदाता का रूप) संकर्षण (धर्मनाशक रूप) प्रद्युम्न (जीवनदाता का रूप) और अनिरुद्ध (धर्म रक्षक का रूप)। ब्रह्म इन रूपों का धारण करके भी इनसे अलग बना रहता है ऐसा करने से उसमें कोई विकार नहीं आता। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म के तीन प्रकार माने हैं—आधिदैविक ब्रह्म आध्यात्मिक अर्थात् अक्षर ब्रह्म और

आधिभौतिक अर्थात् जगतरूपी ब्रह्म । यह जगत् सत्य है अतः भगवान् के लीलाधाम को भी सत्य और नित्य माना गया है ।

२ जीव का स्वरूप-निरूपण—वल्लभाचार्य ने जीव की तीन कोटियाँ मानी हैं—पुष्टि जीव मर्यादा जीव और प्रवाह जीव । जिन जीवों पर ईश्वर का अनुग्रह (कृपा) होता है जो ईश्वर से अनन्य प्रेम करते हैं और जिन्हें ईश्वर की शरण में आश्रय मिल जाता है वे पुष्टिजीव कहलाते हैं । जो जीव वेदों का अध्ययन करते हैं सत् को समझते हैं और वेदानुमोदित मार्ग से ईश्वर की पूजा करते हैं वे मर्यादाजीव हैं । जिन जीवों का उद्देश्य नहीं होता जो निरुद्देश्य जीवन बिताते हैं और कभी ईश्वर का चिन्तन नहीं करते वे प्रवाह जीव की कोटि में आते हैं । वल्लभाचार्य का मत है कि जीव में सत् और चित् रहता है आनन्द का अभाव हो जाता है किन्तु भगवान् के अनुग्रह से जीव पुनः आनन्द की प्राप्ति करता है ।

३ जगत् का निरूपण—वल्लभीय दर्शन की यह प्रमुख विशेषता है कि इसमें जगत् और संसार का अलग-अलग निरूपण किया गया है । रामानुजाचार्य की भाँति वल्लभाचार्य भी जगत् की कल्पना में परिणामवाद को मानते हैं इनका यह परिणामवाद रामानुजाचार्य की भाँति विकृत नहीं बल्कि अविकृत है अर्थात् ब्रह्म कारण है और जगत् उसका परिणाम है । ब्रह्म जगत् के रूप में परिवर्तित होते हुए भी अविकृत या अविकारी रहता है । जगत् ईश्वर की इच्छा से ईश्वर के कैवल सत् अंश का विस्तार है । इसके विपरीत संसार अविद्या के कारण ममता रूप पदार्थ है । संसार स्वयं नश्वर है अतः इसका प्रत्येक पदार्थ नश्वर है ।

४ भक्ति का निरूपण—वल्लभाचार्य ने ईश्वरानुग्रह अथवा पुष्टि को सर्वाधिक मान्यता दी है । पुष्टि का अपर नाम ही भगवदनुग्रह है—

पोषणं तदनुग्रहः ।[1]

इसीलिए इस मत को पुष्टिमार्ग भी कहा जाता है । पुष्टिमार्ग का अभिप्राय है समस्त विषयों का त्याग और सम्पूर्णतः समर्पण की भावना—

---

१ भागवत २–१०

'समस्त विषयत्यागः सर्वभावेन यत्र हि ।
समर्पणं च देहादेः पुष्टिमार्गः स उच्यते ॥

पुष्टिमार्ग के द्वारा प्रतिपादित भक्ति के चार भेद हैं—

१ मर्यादापुष्टि भक्ति—इसमें भक्त भगवान् के गुणों से पूर्णतया अवगत होकर उसकी भक्ति करता है ।

२ प्रवाहपुष्टि भक्ति—इसमें भक्त की कर्म में विशेष रुचि होती है ।

३ पुष्टि भक्ति—इस भक्ति में ईश्वर प्रेम ही सकल आध्यात्मिक कार्य-कलापों का पथ और हेतु है । पुष्टि भक्ति के चार प्रकार हैं—प्रवाहपुष्टि भक्ति मर्यादापुष्टि भक्ति पुष्टिपुष्टि भक्ति और शुद्धपुष्टि भक्ति । प्रवाहपुष्टि भक्ति उन लोगों की भक्ति है जो संसार में रहते हुए, गृहस्थ-जीवन बिताते हुए, भगवान् की भक्ति करते हैं । मर्यादापुष्टि भक्ति में वैराग्य की भावना प्रधान होती है । इसमें भक्त भोग विलास से विमुख होकर ईश्वर का गुण-गान चिन्तन तथा कीर्तन आदि करता है । पुष्टिपुष्टि भक्ति में भक्त को पहले ईश्वर-कृपा प्राप्त होती है और तत्पश्चात् ज्ञान-लाभ मिलता है । शुद्धपुष्टि भक्ति उन लोगों की है जो भगवान् से अमित प्रेम करने के अतिरिक्त कुछ नहीं करते । इस भक्ति के तीन सोपान हैं—प्रेम आसक्ति और व्यसन ।

वल्लभाचार्य ने भक्ति नौ मार्ग माने हैं—श्रवण कीर्तन स्मरण पाद सेवा अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्म-निवेदन । इन नौ मार्गों से समन्वित भक्ति को ही नवधा भक्ति कहा जाता है ।

पुष्टिमार्ग में ब्रह्म के मर्यादावादी अवतार को स्वीकृत तो किया गया है, किन्तु प्रधानता भगवान् के रस-रूप अवतार को दी गई है मर्यादा ब्रह्म कृष्ण के रूप में अवतार लेकर एक ओर तो दुष्टों का संहार करता है और दूसरी ओर वह अपनी मधुर लीलाएँ दिखाता है । कृष्ण-भक्तों ने कृष्ण के इन दोनों रूपों की अर्चना की है किन्तु प्रधानता माधुर्य भाव की है ।

मीराँ का ब्रह्म-निरूपण

शुद्धाद्वैतवाद में ब्रह्म को निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपों में स्वीकार किया गया है । मीराँ के पदों में इन दोनों रूपों का उल्लेख मिलता है । एक ओर वह निर्गुण अथवा निराकार की आराधिका है । इनका पति सन्त-मत में

प्रतिपादित ब्रह्म का ही स्वरूप है। इस स्वरूप का प्रतिपादन इतने अधिक पदों में हुआ है कि कुछ आलोचक मीरों को निर्गुणिये सन्त-परम्परा में ही समाविष्ट कर देते हैं। जिस प्रकार कबीर का ब्रह्म घट-घट व्यापी है और उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं उसी प्रकार मीराँ का प्रियतम भी उनके हृदय में ही बसा हुआ है—

'जिणरो पियाँ परदेस बस्याँरी, लिख लिख भेज्याँ पाती।
म्हाँरा पियाँ म्हारे हीयड़े बसताँ णा आवाँ णा जाती॥'

इस प्रियतम से मीराँ का सम्बन्ध अद्वैत भाव का है। जिस प्रकार 'सूरज घामाँ' एक ही शक्ति के दो रूप भासित होते हैं पर वस्तुतः हैं एक ही उसी प्रकार मीराँ भी अपने प्रियतम का एक अंश है उसीका स्वरूप है, केवल माया के आवरण के कारण वह भिन्न प्रतीत होती है—

'तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज घामा।
मीराँ के मन अवर न मानै चाहे सुन्दर स्यामाँ॥'

यही नहीं मीराँ में यत्र-तत्र निर्गुण सन्तों की प्रतीकात्मक शब्दावली भी मिलती है। वह 'पंचरंग' का 'चोला' पहनकर अपने प्रियतम के साथ 'झिरमिट' खेलने जाती है और उसके रूप को निहार कर प्रसन्नता से प्रफुल्लित हो उठती है—

'म्हाँ गिरधर रँग राती सैयाँ म्हाँ।
पंचरँग चोला पहर्या सखी म्हाँ, झिरमिट खेलण जाती।
वा झिरमिट माँ मिल्यो साँवरो, देख्याँ तण मण राती॥

यत्र-तत्र 'राम' और 'जोगी' शब्दों के सम्बोधन भी मिलते हैं जो निर्गुण सन्तों के प्रिय और साम्प्रदायिक शब्द हैं यथा—

'राम नाम रस पीजै मनुआँ राम नाम रस पीजै।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित, हरि चरचाँ सुण लीजै॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ बहा चित्त से दीजै।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, ताहि के रँग में भीजै॥

× × ×

'जोगी म्हाँने दरस दियाँ सुख होई।
नातिर दुख जग माँहि जीवड़ो, निसदिन झूर रोई॥

बरद बिकानी भई बावरी डोली सबही देस।
मीराँ दासी भई है पंडर पलट्या काला केस॥

जहाँ तक सगुण ब्रह्म के निरूपण का सम्बन्ध है मीराँ को सम्भवतः यही रूप अधिक मान्य रहा है, क्योंकि दाम्पत्य भाव से भक्ति के लिए यही रूप आवश्यक था और मीराँ पर कृष्ण-भक्ति का प्रभाव भी अमित था। बल्कि मीराँ कृष्ण-भक्त थीं। कृष्ण भक्तों ने ब्रह्म के दो रूपों को प्रधानता से चित्रित किया है—कृष्ण का रसिक रूप और कृष्ण का लोक-रक्षक रूप। रसिक रूप के अन्तर्गत कृष्ण की रूप-छवि चीरहरण-लीला पनघट-लीला आदि आती हैं और लोक-रक्षक रूप में कृष्ण के भक्त-उद्धारक-रूप का वर्णन किया जाता है। मीराँ के पदों में ये दोनों रूप मिलते हैं।

मीराँ जब अपने 'बाँके बिहारी' को प्रणाम भेजती है, तो साथ ही उसकी रूप-छवि का भी वर्णन करती है जो ब्रज-नारियों को रिझाने वाली है—

'म्हाँरो प्रणाम बाँके बिहारी को।
मोर मुगट माथ्याँ तिलक बिराज्याँ कुण्डल अलकाँ कारी जी।
अधर मधुर रस बसी बजावाँ रीझ रिझावाँ ब्रजनारी जी।
या छब देख्याँ मोह्याँ मीराँ मोहन गिरधारी जी॥'

इसी छवि ने मीरा के हृदय पर भी ऐसा जादू डाला कि इनके नेत्र भी इससे ऐसे अटके कि छुड़ाये नहीं छूटे—

'निपट बँकट छब अटके,
म्हारे नैणा निपट बँकट छब अटके॥
देख्या रूप मदन मोहन री पियत पियूख न मटके।
बारिज भवाँ अलक मतवारी, नैण रूप रस अटके॥
टेढ्याँ कट टेढ़े करि मुरली टेढ्याँ पाग लर लटके।
मीराँ प्रभु के रूप लुभाणी, गिरधर नागर नट के॥'

चीरहरण-लीला का सभी कृष्ण-भक्तों ने वर्णन किया है। इस लीला का वर्णन करती हुई मीराँ अपनी सखी से बताती है कि वह रसिक कृष्ण कदम्ब की शाखा पर बैठा हुआ था। मैं जैसे ही पानी भरने के लिए यमुना में घुसी कि वह उतरकर नीचे आया और मेरी साड़ी उठाकर ले गया। मैं वस्त्रहीन

होकर बस में खड़ी की खड़ी रह गई। इस घटना की प्रतिक्रिया यह हुई कि मेरी सारी सखियाँ मेरा परिहास करती हैं सास और ननद गालियाँ देती हैं किन्तु मेरा मन फिर भी कृष्ण के चरण-कमल पर न्यौछावर है—

'म्हाज पनारी ले गयो सारी खड़ी कदम की डारी हे माय।
म्हारे गैल पड्यो गिरधारी, हे माय म्हाज पनारी०।
मैं जल जमुना भरन गई थी आ गयो कृष्ण मुरारी हे माय॥
ले गयो सारी पनारी म्हारी जल में ऊभी उघारी हे माय।
सखी साहेलि मोरी हँसत हैं, हँसि हँसि दे मोहि तारी हे माय॥
सास बुरी घर ननद हठीली, लरि लरि दें मोहिं गारी हे माय।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर चरण कमल बलिहारी हे माय॥'

पनघट-लीला के अन्तर्गत कृष्ण का नटखटपन वर्णित है। जैसे ही कोई गोपी जल भरने के लिए कलस लेकर चली कि रास्ते में कृष्ण मिल गया और उस गोपी के मन को अपने वश में करके ले गया—

'माई मेरो मोहने मन हर्यो।
कहा करूं कित जाऊं सजनी प्राण पुरुष सूं बर्यो॥
हूं जल भरने जात थी सजनी कलस माथे धर्यो।
साँवरी सो किसोर मूरत कछुक टोनो कर्यो॥
लोक लाज बिसारि डारी तबही कारज सर्यो।
दासि मीराँ लाल गिरधर, छान ये बर बर्यो॥

मीराँ ने कृष्ण के उद्धारक रूप का भी काफी वर्णन किया है। वह अपने मन से कृष्ण के उन चरणों का स्पर्श करने का अनुरोध करती है जो भक्तों का उद्धार करने वाले हैं और 'जगत ज्वाला' का हरण करने वाले हैं—

'मन थें परस हरि रे चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल जगत ज्वाला हरण॥
इण चरण प्रहलाद परस्यां इन्द्र पदवी धरण।
इण चरण ध्रुव अटल करस्यां सरण असरण सरण॥

मीराँ का जीव निरूपण

वल्लभीय दर्शन में जीव को ब्रह्म का एक अंश माना गया है। अपनी

लीलाओं का प्रदर्शन करने के लिए ब्रह्म ही जीव-रूप में अवतरित होता है अर्थात् जीव ब्रह्म है जो जन्म धारण करके कुछ काल के लिए पृथक आभासित होने लगता है। मीराँ ने भी इसी प्रकार का निरूपण किया है। वह मानती हैं कि ब्रह्म और जीव की स्थिति 'सूरज' तथा 'घाम' के सदृश है। जैसे घाम सूर्य का ही रूप होकर उससे पृथक परिलक्षित होता है उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म का रूप है। माया के आवरण के कारण ही यह प्रसग अथवा अन्य रूप में भासित होता है—

'तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं, जैसे सूरज घामा।
मीराँ के मन अवर न माने चाहे सुन्दर स्यामा॥

ईश्वरानुग्रह ही जीवन की मुक्ति का कारण है। भगवत्कृपा से ही जीव को अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है। मीराँ इसी कृपा के लिए याचना करती हुई कहती हैं—

'तनक हरि चितवाँ म्हारी ओर।
हम चितवाँ थें चितवो ना हरि, हिवड़ो बड़ो कठोर।
म्हाँरी आसा चितवनि थारी, और ना दूजा दोर॥
ऊभ्यां ठाढ़ी अरज करूं छूं करता करता भोर।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी देस्यूँ प्राण अँकोर॥'

मीराँ का जगत्-निरूपण

बताया जा चुका है कि जगत् और संसार में अन्तर स्थापित करने का सर्वप्रथम श्रेय वल्लभीय दर्शन को है। वल्लभाचार्य के अनुसार जगत् नित्य है संसार अनित्य। मीराँ में इस प्रकार का कोई अन्तर नहीं मिलता। व संसार और जगत् में किसी प्रकार का भेद स्थापित नहीं करती। जहाँ एक ओर वे संसार को 'चहर रो बाजी' बताती हैं वहाँ दूसरी ओर कृष्ण-चरणों में 'जगत् ज्वाला हरण' की शक्ति का भी उल्लेख करती हैं—

यो संसार चहर रो बाजी साँझ पड्याँ उठ जासी '

\+ \+ \+ \+

मन थें परस हरि रे चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल जगत ज्वाला हरण॥,

मीराँ का भक्ति-निरूपण

इसमें दो मत नहीं हो सकते कि मीराँ की भक्ति दाम्पत्य भाव की है। इस भाव की भक्ति निर्गुणिये सन्तों में भी मिलती है किन्तु मीराँ की भक्ति वल्लभ-दर्शन अथवा वैष्णव-भक्ति-पद्धति के अधिक निकट है। वल्लभाचार्य ने भक्ति के नौ सोपान माने हैं—श्रवण कीर्तन स्मरण पाद-सेवा अर्चन, वन्दन दास्य सख्य और आत्म-निवेदन। मीराँ की भक्ति में ये सभी सोपान उपलब्ध होते हैं। वैष्णव कवियों ने ज्ञान और भक्ति में भक्ति को ही उच्च स्थान दिया है। उनके अनुसार भक्ति तर्क का नहीं श्रद्धा का विषय है।

जैसा कि बताया जा चुका है कि पुष्टिमार्गीय भक्ति में ब्रह्म के मर्यादावादी अवतार को स्वीकृत करके भी उसके रस-रूप को अधिक प्रधानता दी गई है। मीराँ की भक्ति में भी ये दोनों रूप मिलते हैं। एक ओर ब्रह्म (कृष्ण) का वह रूप है जो भक्त-वत्सलता तथा लोक रक्षा से परिपूर्ण है। जब-जब भी भक्तों पर भीड़ पड़ती है वे नंगे पैरों दौड़ते हैं। उन्होंने प्रह्लाद को इन्द्र के समान उच्च पदवी प्रदान की ध्रुव को शरण दी और उसे अटल बनाया कालिय नाग का मान-मर्दन किया इन्द्र का गर्व हरण किया गज की ग्राह से रक्षा की द्रौपदी की सभा में लज्जा बचाई। दूसरी ओर ब्रह्म (कृष्ण) का वह रस-रूप वर्णित है जो समस्त जगत् को अपनी रूप-छवि में बाँध लेता है। मीराँ के अधिकांश पद इसी रूप का वर्णन करते हैं। मीराँ की भक्ति का माधुर्य भाव अन्य कृष्ण-भक्तों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक और मार्मिक है। इसका कारण यह है कि अन्य भक्तों ने स्वयं पर नारीत्व का आरोप किया और मीराँ स्वयं नारी थी। पुरुष-भक्तों की अभिव्यक्ति पर आरोपण का प्रभाव है मीराँ की अभिव्यक्ति पर इस प्रकार का कोई आरोप नहीं है। यही कारण है कि मीराँ की भक्ति अपेक्षाकृत अधिक सहज और स्वाभाविक है।

सारांश

अतः यह स्पष्ट है कि मीराँ के काव्य में वल्लभीय दर्शन का अधिकांशतः निर्वाह हुआ है किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मीराँ को दर्शनों का ज्ञान था या अपने पदों में दर्शन-संयोजना की उनकी कोई सुनिश्चित योजना थी। वह तो मूलतः भक्त थी और अपनी भक्ति भावनाओं को अभिव्यक्ति देना ही उनका एकमात्र उद्देश्य था। इनके द्वारा वल्लभीय दर्शन का ग्रहण तो कृष्ण भक्तों की परम्परा का केवल पालन है।

मीराँ की भक्ति-पद्धति

भक्ति शब्द की उत्पत्ति भज् धातु से हुई है जिसका अर्थ है भजन। इसलिए भक्ति का अर्थ हुआ भगवान् का भजन अथवा स्मरण। मनुष्य आनन्द प्राप्त करने का अनादिकाल से ही इच्छुक रहा है और इसके लिए सर्वदा विविध प्रयत्न करता रहा है। इन्द्रियों के सहयोग से भी सांसारिक आनन्द प्राप्त होता है किन्तु यह वास्तविक नहीं बल्कि क्षणिक और दुःख-पर्यवसायी है। इसी सत्य को गीता में इन शब्दों में व्यक्त किया गया है—

> 'ये हि संस्पर्शजाभोगा दुःखयोनय एव ते।
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥'[1]

महर्षि पतंजलि ने भी विवेकी के लिए संसार के समस्त भोगों को दुःख का कारण बताया है—

'परिणामताप संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च सर्वमेवदुःख विवेकिनः।'[2]

सभी शास्त्राचार्यों ने एक मत से इस बात को स्वीकार किया है कि वास्तविक आनन्द तो भगवत्सान्निध्य से ही प्राप्त हो सकता है। इसी सान्निध्य के सान्निध्य का प्रयास भक्ति है। इस सान्निध्य को प्राप्त करने के लिए दो मार्ग प्रमुख हैं—प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्ग। प्रवृत्तिमार्ग का अर्थ है शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा परमेश्वर को प्राप्त करना अर्थात् विषयों को भगवदोन्मुख कर देना। इस मार्ग के दो भेद हैं—कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग। निवृत्ति मार्ग का अर्थ है प्रतिकूल वृत्तियों की निवृत्ति करके विवेक द्वारा अनात्म को त्यागते हुए भगवान् का साक्षात्कार। इस मार्ग के भी दो भेद हैं—योगमार्ग और ज्ञानमार्ग। योगमार्ग का अर्थ है विषयों से चित्त-वृत्तियों का निरोध करके ईश्वर में संगमन करना और ज्ञानमार्ग का अर्थ है आत्म अनात्म का भेद करना। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि भगवत्प्राप्ति के

---

1 गीता

2. योगसूत्र ८

चार मार्ग हैं—कर्म भक्ति योग तथा कर्म मार्ग। इनमें भक्तिमार्ग को ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है क्योंकि यह सहज साध्य है—

'अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ।'[1]

इसी मत की व्याख्या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस प्रकार की है—

'नियमों से निराश होकर कर्मकांड की कठोरता से घबड़ाकर परोक्ष ज्ञान और परोक्ष शक्ति मात्र से पूरा पड़ता न देखकर ही तो मनुष्य हृदय की खोज में लगा और अन्त में भक्तिमार्ग में आकर इस परोक्ष हृदय को उसने पाया।'[2]

भक्ति का स्वरूप

भिन्न-भिन्न ऋषियों तथा आचार्यों ने भक्ति की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं। *महर्षि नारद के अनुसार भक्ति परमप्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा है जिसे* प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध अमर तथा तृप्त हो जाता है—

'त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा अमृतरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति, तृप्तो भवति।'[3]

भक्तराज शांडिल्य ने ईश्वर में प्रगाढ़ अनुरक्ति को भक्ति कहा है—

✓ 'सापरानुरक्तिरीश्वरे।'[4]

भागवतकार के अनुसार सांसारिक विषयों का ज्ञान देने वाली इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्काम रूप से जब भगवदोन्मुख होती है तो उसे भक्ति कहते हैं—

देवानां गुणलिंगानामानुश्रविक कर्मणाम् सत्व एवैक मनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तुयाऽनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।[5]

रूपगोस्वामी के मत से श्रीकृष्ण का अनुकूल रूप में अनुशीलन जिसमें

1 भक्तिसूत्र ५८
2 त्रिवेणी पृष्ठ ११३
3 नारद भक्ति सूत्र २ ३ ४
4 शांडिल्य भक्ति सूत्र १
भागवत ३ २५ ३२ ३३

अन्य किसी प्रकार की अभिलाषा न हो और जिस पर ज्ञान कर्म आदि का आवरण न हो भक्ति कहलाती है —

'अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान कर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ॥'[1]

वल्लभाचार्य के अनुसार, भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान रखते हुए उनमें सबसे अधिक दृढ़ स्नेह करना ही भक्ति है—

'माहात्म्य ज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ़ः सर्वतोऽधिकः ।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्न चान्यथा ।'[2]

इन सभी परिभाषाओं में एक तत्व सवथा विद्यमान है। वह है ईश्वर के प्रति अनुराग। प्राय सभी भक्ति-सम्प्रदायों ने अनुराग को भक्ति का अनिवार्य अंग माना है। वल्लभीय सम्प्रदायी हरिराय अनुराग की महत्ता इन शब्दों में प्रतिपादित करते हैं—

'सो ठाकुरजी भक्त के स्नेहवश होय भक्त के पाछे-पाछे डोलत हैं। सो जहाँ ताईं ऐसो स्नेह नहीं होय तहाँ ताईं माहात्म्य रखनो 'तासो माहात्म्य विचारे और अपराध सौं डरपै तो कृपा होय। जब सर्वोपरि स्नेह होयगो तब आपही ते स्नेह ऐसो पदार्थ जो माहात्म्य कू भुलाय देयगो।'[3]

भक्ति के भेद—

भक्ति-विभाजन के प्रमुख चार आधार हैं—

१ साधना की दृष्टि से
२ अधिकारी की दृष्टि से
३ प्रस्थानों के भेद से
४ विकास की दृष्टि से

१ साधना की दृष्टि से—साधना की दृष्टि से भागवतकार ने भक्ति के नौ भेद किये हैं— श्रवण कीर्तन स्मरण पाद-सेवा अर्चन वन्दन दास्य

1 हरिभक्ति रसामृतसिन्धु, पूर्वविभाग लहरी १ श्लोक ११
2. तत्वदीप निबन्ध शास्त्रार्थ प्रकरण श्लोक ४६
3 अष्टछाप वार्ता (कांकरोली) पृष्ठ १८

सख्य और आत्म निवेदन। अष्टछाप के प्रमुख कवि नंददास ने इन पहले छः भेदों को दो भागों के अन्तर्गत समाहित किया है—नावमार्ग और रसमार्ग। पहले तीन प्रकार श्रवण कीर्तन और स्मरण नावमार्ग के और पाद-सेवा अर्चन और वन्दन रसमार्ग के अन्तर्गत माने हैं। शेष तीन प्रकार दास्य सख्य और आत्मनिवेदन माना गया है।

२. अधिकारी की दृष्टि से—अधिकारी की दृष्टि से भक्ति के चार भेद माने गये हैं—सात्विकी राजसी तामसी और निर्गुण। जो भक्त पापों के नाश के लिए अपने पाप-पुण्य सब भगवदर्पित कर देता है और अनन्य भाव से ईश्वर में आसक्ति रखता है उसकी भक्ति सात्विकी कहलाती है। राजसी भक्ति लौकिक विषय यश ऐश्वर्य आदि को दृष्टि में रखकर की जाती है। तामसी भक्ति में हिंसा दम्भ क्रोधादि के वशीभूत होकर इच्छाओं की पूर्ति के लिए भगवद् उपासना की जाती है। निर्गुण भक्ति में परमेश्वर को सब में सम भाव से व्याप्त जानते हुए अपने कर्म परमेश्वर को समर्पित किये जाते हैं। इसमें निष्काम आसक्ति रहती है।

३ प्रेरणाओं के भेद से—गीता में चार प्रकार के भक्त बताये गये हैं—आर्त जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी—

'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥'[1]

इन्हीं भक्तों के आधार पर भक्ति के भी चार भेद किये जा सकते हैं। आर्त भक्त की भक्ति तामसी जिज्ञासु की सात्विकी अर्थार्थी की राजसी और ज्ञानी की निर्गुण होती है।

४ विकास की दृष्टि से—रूपगोस्वामी ने विकास की दृष्टि से भक्ति के तीन भेद माने हैं—साधनरूपा भावरूपा और प्रेमरूपा। साधनरूपा भक्त की प्रथम अवस्था की द्योतिका है। इसमें भक्त का परमेश्वर से पूर्ण राग तो नहीं होता किन्तु अर्चना आदि कर्मों के द्वारा वह उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है। भावरूपा भक्ति उसका साध्य होती है। भावरूपा के दो भेद हैं—वैधी और रागानुगा। जब परमेश्वर में स्वतः राग नहीं होता बल्कि

1 गीता ७-१६

शास्त्रों के शासन से भजित किया जाता है तो उसे वैधी भक्ति कहते हैं।[1] वधी भक्ति में शास्त्रज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान होता है। रागानुगा भक्ति में अनुराग का प्राधान्य होता है। इसमें शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती भावना का अतिरेक आवश्यक है। परमेश्वर की ह्लादिनी संधिनी और संवित् नाम की जो तीन शक्तियाँ हैं उनमें से पहली का ओरों में प्रेमरूप से प्रकट होने वाला अंश शुद्ध तत्व कहलाता है। यही भाव है। इसी भाव की भक्ति को भावरूप भक्ति कहते हैं। हृदय जब भाव में अत्यन्त द्रवीभूत और प्रेमाड्सिमतामेंसंयुक्त हो जाता है तो यही प्रगाढ़ावस्था प्रेम कहलाती है। इस भाव की भक्ति प्रेमरूपा कही जाती है। साधनरूपा भक्ति स प्रेमरूपा भक्ति तक आने के लिए भक्त को भक्ति-विकास से अनेक सोपानों को पार करना पड़ता है।

विविध सम्प्रदाय –

भक्ति के स्वरूप पर विहंगम दृष्टिपात करने के पश्चात् अब हम कृष्ण-भक्ति के सम्प्रदायों का भी संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है जिन्होंने भक्ति-जगत् एवं साहित्य को प्रभावित किया। इस प्रकार के अनेक सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ जिनमें से मुख्य सम्प्रदाय ये हैं—

१ वल्लभ सम्प्रदाय
२ गौड़ीय सम्प्रदाय
३ राधावल्लभीय सम्प्रदाय
४ सखी सम्प्रदाय
५ निम्बार्क सम्प्रदाय

१ वल्लभ सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक वल्लभाचार्य हैं जिनका परिचय डॉ० दीनदयालु गुप्त ने इन शब्दों में दिया है—

"विक्रम की सोलहवीं शताब्दी में विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की परिच्छिन्न गद्दी पर श्री वल्लभाचार्य जी बैठे और उन्होंने श्री विष्णुस्वामी के सिद्धान्तों से

1 यत्र रागा नवाप्तत्वात् प्रवृत्ति रूप जायते शासने नैव शास्त्रस्य सा वधी भक्तिरुच्यते।

प्रेरणा लेकर शुद्धाद्वैत सिद्धान्त तथा भगवद् अनुग्रह अथवा पुष्टि द्वारा प्राप्त प्रेम-भक्ति के मार्ग की स्थापना की।'[1]

वल्लभाचार्य ने प्रेम-लक्षणा भक्ति को महत्ता प्रदान की और नवधा भक्ति का प्रतिपादन किया। इस सम्प्रदाय में कृष्ण-भक्ति को प्रधानता दी गई और राधा को भगवान् की आह्लादिनी शक्ति अथवा रस शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया। कृष्ण भक्ति-साहित्य में इसी सम्प्रदाय को सर्वाधिक मान्यता मिली।

२ गौड़ीय सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु हैं। इस सम्प्रदाय में राधा और कृष्ण की पूजा समान रूप से स्वीकार की गई है। इसमें सत्संग नाम तथा लीला-कीर्तन ब्रज-वृन्दावन कृष्ण-मूर्ति की सेवा-पूजा आदि भक्ति के साधनों को विशेष महत्त्व दिया गया है।

३ राधावल्लभीय सम्प्रदाय—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हित हरिवंश हैं। इस सम्प्रदाय में राधा की पूजा को प्राधान्य दिया गया है, यद्यपि कृष्ण-पूजा की भी उपेक्षा नहीं की गई। इसमें राधा-कृष्ण की कुंज-लीला तथा शृंगार-केलि को प्रधानता देने के कारण रति-क्रीड़ा का ही एकमात्र अवलम्बन लिया गया है। इसमें शृंगार के विप्रलम्भ (वियोग) पक्ष का अभाव तो है, किन्तु सूक्ष्म-विरह की अनोखी सृष्टि की गई है। डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में—

'राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम की वही स्थिति श्लाघ्य और स्पृहणीय मानी जाती है जिसमें प्रिया-प्रियतम (राधा-कृष्ण) एक पल को भी एक-दूसरे से वियुक्त नहीं होते किन्तु साथ रहते हुए भी विरह-सदृश अतृप्ति का अनुभव करते हुए और अधिक सामीप्य की कामना से आनन्द-मग्नकपूर्ण बने रहते हैं। मिलन में भी विरह की मानसिक भावना की कल्पना का प्रयोजन यह है कि श्री हरिवंश जी के मन में नित्य मिलन की स्वीकृति होने के कारण कोई यह न समझ ले कि उनके प्रेम-भाव में विरह-सहस उद्वेग उत्कर्ष उन्माद उद्दीपन और उत्साह कभी होता ही नहीं। प्रेम की नित्य नूतनता और आस्वाद्यता बनाये रखने के लिए सूक्ष्म विरह की अनोखी सृष्टि की गई।'[2]

1 अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १ पृष्ठ ७०
2. राधावल्लभ सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य पृष्ठ ११६

४ सखी सम्प्रदाय—इसका दूसरा नाम हरिदासी सम्प्रदाय भी है, क्योंकि हरिदास इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं।। इस सम्प्रदाय में राधाकृष्ण की युगल उपासना का विधान सखी भाव से किया गया है।

५. निम्बार्क सम्प्रदाय—निम्बार्काचार्य इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। वल्लभ और गौड़ीय सम्प्रदायों की भाँति इसमें भी मधुर भाव की उत्कृष्टता स्वीकार की गई है। इस सम्प्रदाय के आराध्य कृष्ण हैं जो अपनी प्रेम और माधुर्य की अभिव्यक्ति भक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी गोपी-स्वरूपा शक्तियों से घिरे रहते हैं। इस सम्प्रदाय में कृष्णोपासना के साथ-साथ राधा की उपासना का भी विशेष महत्व माना गया है।

मीराँ की भक्ति-पद्धति

उपर्युक्त सम्प्रदायों के प्रकाश में यदि मीराँ की भक्ति-पद्धति का अध्ययन किया जावे तो सहज ही यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि मीराँ किसी भी सम्प्रदाय की पूर्णत अनुयायिनी नहीं है। इनकी भक्ति पर यदि एक ओर निर्गुणिये सन्तों की भक्ति-पद्धति की स्पष्ट छाप है तो दूसरी ओर वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित नवधा भक्ति का रूप भी देखने में आता है और तीसरी ओर महाप्रभु चैतन्य के गौड़ीय सम्प्रदाय की मधुर भावना को भी पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है। अध्ययन की सुविधा के लिए इनकी भक्ति-पद्धति को दो वर्गों के अन्तर्गत रखना ही उचित रहेगा—निर्गुण भक्ति-पद्धति और वैष्णव भक्ति-पद्धति।

निर्गुण भक्ति-पद्धति

निर्गुण भक्ति-पद्धति का मूलाधार भी रामानुजाचार्य द्वारा प्रचारित प्रपत्तिपरकता है। यों तो प्रपत्ति भाव का वर्णन गीता तथा उपनिषदों में भी मिलता है किन्तु भक्ति-क्षेत्र में इस लाने का सर्वाधिक श्रेय स्वामी रामानुजाचार्य को ही है। प्रपत्ति का अर्थ है आत्म-निवेदन। भक्ति-क्षेत्र में प्रपत्ति शब्द शरणागति के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भक्त का सब धर्म और समस्त साधनों का परित्याग करके भगवान् की शरण में जाना ही प्रपत्ति है। वायुपुराण में प्रपत्ति के छः अंग माने गये हैं।

'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ।
आत्मनिक्षेप कार्पण्यो षड्विधा शरणागतिः ।

इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—

१ आनुकूल्यस्य संकल्प—वे बातें करना जो भगवान् के अनुकूल हों और उन्हें अच्छी लगें।

२ प्रतिकूलस्य वर्जन—उन बातों का परित्याग करना जो भगवान् को अच्छी न लगें अर्थात् असद् कार्यों से दूर रहना।

३ रक्षिष्यतीति विश्वास—भगवान् रक्षा करेंगे यह विश्वास रखना। इस गुण के बिना प्रपत्ति हो ही नहीं सकती। यही तत्व है जो प्रपन्न साधक में पूर्ण आस्तिकता का बीज वपन करता है।

४ गोप्तृत्वे वरण—भगवान् के गुणों का वर्णन करना एकता रूप से उनका ध्यान करना और उनकी महिमा का बखान करना।

५ आत्मनिक्षेप—भगवान् के समक्ष अपने को पूर्णतया समर्पित कर देना पूर्णतः उनके आधीन होना।

६ कार्पण्य—कार्पण्य का अर्थ है दीनता दैन्य भाव से भगवान् की स्तुति करना।

मीराँ की भक्ति में ये सभी अंग उपलब्ध हो जाते हैं। यथा—

'माई म्हाँ गोविन्द गुण गास्याँ।
चरणाम्रित रो नेम सकारे नित उठ दरसण जास्याँ।
हरि मन्दिर माँ निरत करावाँ घुंघर्‌या घमकास्याँ।
स्याम नाम रो झाँझ चलास्याँ भोसागर तर जास्याँ॥

इस पद में नित्य उठकर मन्दिर में भगवान् के दर्शन-हेतु जाना नृत्य करना आदि कर्म भगवदानुकूल हैं।

'राम नाम रस पीजै मनुआँ राम नाम रस पीजै।
तज कुसंग सतसंग बैठ नित हरि चरचा सुण लीजै॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ बहा चित से दीजै।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, ताहि के रंग में भीजै॥

इस पद में प्रतिकूल काम क्रोध आदि भावों के परित्याग की बात कही गई है कुसंग को छोड़ने का विचार प्रकट किया गया है। ये बातें 'प्रतिकूलस्य वर्जन' के अन्तर्गत आती हैं। साथ ही इसमें राम-नाम का रस पीना सत्संग में बठना हरि कथा सुनना आदि बातें अनुकूल संकल्प की भी हैं।

'मण थे परस हरि रे चरण।
सुभग सीतल कँवल कोमल जगत ज्वाला हरण।।
इण चरण प्रहलाद परस्यां इन्द्र पदवी धरण।
इण चरण ध्रुव अटल करस्यां सरण असरण सरण।।

इस पद में मीरां ने भगवान् की कृपा के प्रति अपना अटूट विश्वास प्रकट किया है। जिन चरणों से प्रह्लाद को इन्द्र का पद मिला ध्रुव को अटलता मिली वे चरण अवश्य ही एक न एक दिन मीरां का भी उद्धार करेंगे ऐसा इनका विश्वास है।

मीरां ने भगवान् की महिमा आदि से अन्त तक गाई है। यह महिमा मुख्यतः दो वर्गों में रखी जा सकती है—रूप-महिमा और कृपा-महिमा। रूप-महिमा में भगवान् की रूप-छवि का वर्णन किया गया है—

'निपट बँकट छब अटके
म्हारे नेणा निपट बँकट छब अँटके।
देख्या रूप मदन मोहन री पियत पियूख न मटके।
बारिज भवां अलक मतवारी थण रूप रस अँटके।'

और कृपा-महिमा में भगवान् की सर्वशक्तिमत्ता का—

'स्याम बिण दुख पावाँ सजणी
कुण म्हाँ धीर बँधावाँ।

मीरां ने स्वयं को अपने आराध्य के प्रति इतना अधिक समर्पित कर दिया है कि स्वयं उनकी कोई इच्छा शेष नहीं रह गई है—

'मेरे मन भावौ सुन्दर स्याम।
तुम आया बिन सुख नहीं मेरे, मीरी परो अबे पाम।।
मेरे आसा और न स्वामी एक तिहारो ध्यान।
मीरां के प्रभु वेग मिलौ अब राखो जी मेरो मान।।

प्रपत्ति-भक्ति का छठा अंग है कार्पण्य दीनता। मीराँ में भी यह भावना पाई जाती है। वह अपने अवगुणों का बखान अपने प्रियतम के सामने निस्संकोच कर देती हैं—

'तुम पुलबत बड़े पुल सागर मैं हूँ जी औगणहारा।
मैं निरगुणी गुण एको नाहीं तुम हो बकसणहारा ॥'

निर्गुण सन्तों के अनुसार ही इनका प्रियतम भी निखिल विश्व में समाया हुआ है सब के घट-घट में व्याप्त है, केवल सुरत-निरत का दिवला संजोकर उसे देखने की आवश्यकता है। यही नहीं सन्तों के प्रतीक भी मीराँ ने अपनाए हैं। यथा—पंचरंग का चोला पहन कर झिरमिट खेलने जाना अपने प्रियतम से प्रेम की पाती खोलकर मिलना गगन-मंडल पर पिया की सेज बिछाना शून्य महल के झरोखे से उसकी सुरत लगाना आदि। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर की भक्ति भावना का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

'कबीर की भक्ति के उपास्य निर्गुण 'सुन्नि मंडल वासी पुरुष के होते हुए भी सगुण और साकार हो गये हैं। ज्ञान क्षेत्र में जो परात्पर हैं, वे ही भक्ति-क्षेत्र में 'तीन लोक की पीर जानने वाले गरीब निवाज' बन जाते हैं। कबीर का यह उपास्य 'भगतबिनोदी ठाकुर' है। वे जातिगत भक्ति-भावना में विश्वास नहीं करते उनकी भक्ति की इस विशेषता ने उसके प्रचार और प्रसार में बड़ी सहायता पहुँचाई है।'[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सब्द मीराँ की भक्ति-पद्धति पर भी उसी प्रकार लागू होते हैं जिस प्रकार कबीर की भक्ति-पद्धति पर।

एक बात और, निर्गुणिये सन्तों की भक्ति कान्ताभाव की है। जिसमें विरह का प्राधान्य है। मीराँ की भक्ति भी इस भाव की है। निर्गुणिये सन्तों ने स्वयं पर कान्ता का आरोप किया था और मीराँ को इस आरोप की आवश्यकता नहीं थी। अतः मीराँ इस भाव को लेकर सन्तों से बहुत आगे बढ़ गई हैं।

वैष्णव भक्ति-पद्धति

वैष्णव भक्ति-पद्धति में नवधा भक्ति को पूर्ण महत्त्व दिया गया है। नवधा

१ कबीर की विचारधारा पृष्ठ ११४

भक्ति के नौ सोपान हैं—श्रवण कीर्तन स्मरण पद-सेवा अर्चन वन्दन दास्य सख्य और आत्म-निवेदन। श्रवण में भक्त अपने आराध्य के गुणों को सुनता है कीर्तन के द्वारा उन्हें प्रकट करता है गाकर तथा गाकर सुनाता है, पद सेवा का अर्थ है — अपने भगवान् के चरणों की पूजा करना उनका गुण-गान करना अर्चन का अर्थ है पूजा करना वन्दन का अर्थ है वन्दना करना स्तुति करना दास्य का अर्थ है दास अथवा दासी भाव से भगवान् की सेवा करना सख्य का अर्थ है सखा या सखी या साथी के भाव से पूजा करना और आत्म-निवेदन का अर्थ है—अपने प्रियतम के समक्ष अपना हृदय खोलकर रख देना। मीरां में ये अधिकांश भाव मिल जाते हैं) जैसे—

कीर्तनः—

'माई म्हां गोविन्द गुण गास्यां।
राणा रूठ्यां नगरी त्यागां हरि रूठ्यां कहं जास्यां॥'

स्मरण—

'रमईया मेरे तोही सूं लागी नेह।
लागी प्रीत जिन तोई रे बाला अधिकौ कीजै नेह॥

पद-सेवा—

'मण थें परस हरि रे चरण।
सुभग सीतल कंवल कोमल जगत ज्वाला हरण॥'

वन्दनः—

'म्हां गिरधर आगां नाच्यारी।
णाच णाच म्हां रसिक रिझावां प्रीत पुरातन जांच्यां री॥

दास्यः—

'थारा करा अबला कर जोर्‌या स्याम तुम्हारी दासी।
मीरां रे प्रभु गिरधरनागर, काट्यां म्हारो गांसी॥

सख्य —

'राति दिवस मोहि कल न परत है हीयो फटत मेरी छाती।
मीरां के प्रभु कब रे मिलोगे पूरब जनम का साथी॥'

आत्म-निवेदन—

'मैं तो तेरी सरण परी रे रामा ज्यूं जाणे त्यूं तार।
अड़सठ तीरथ भ्रमि भ्रमि आयो, मन नाहीं मानी हार॥
या जग में कोई नहिं अपणा सुणियो श्रवण मुरार।
मीराँ दासी राम भरोसे जम का फंदा निवार॥

वल्लभीय भक्ति-पद्धति की एक और विशेषता है—भगवान् का अनुग्रह। भगवान् की कृपा से ही भक्त का उद्धार हो सकता है वल्लभ-सम्प्रदाय की यह दृढ़ आस्था है। मीराँ में भी यह आस्था पूर्णतया मिलती है। एक अन्य विशेषता है अनन्य भाव की। अष्टछाप के सभी कवियों में यह भावना मिलती है। सूरदासजी तो यहाँ तक कहते हैं कि कृष्ण को छोड़कर इतर देव की पूजा करना कामधेनु को छोड़कर छेरी को दुहना है। मीराँ भी कृष्ण को त्यागकर अन्य देव की पूजा करना हाथी से उतरकर गधे पर चढ़ने के समान मानती हैं—

'चोरी न करस्याँ जिव न सतास्याँ काँई करसी म्हाँरो कोई।
गज से उतर के खर नहिं चढ़स्याँ ये तो बात न होई॥

माधुर्य भक्ति

मीराँ की भक्ति पर उपर्युक्त दोनों पद्धतियाँ तो केवल समय का प्रभाव है अन्यथा इनकी भक्ति की पूर्णता तो इन दोनों पद्धतियों से पृथक है। महाप्रभु चैतन्य के कंठ से जो मधुर रस का स्वर निकला था वह मीराँ के कंठ में आकर अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ। मधुर रस के सम्बन्ध में उपनिषदों में यत्र-तत्र संक्षिप्त रूप में उल्लेख मिलता है। पुराणों में श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त में इसका बड़ा ही भव्य एवं दिव्य वर्णन है। बृहद् गौतमीय तन्त्र ब्रह्म संहिता सम्मोहनतन्त्र आदि ग्रन्थों में भी इसकी विशद व्याख्या की गई है परन्तु इसका जैसा सांगोपांग मार्मिक वैज्ञानिक और सूक्ष्म विवेचन गौड़ीय सम्प्रदाय में हुआ वैसा किसी अन्य सम्प्रदाय में नहीं हुआ। मधुर रस भक्ति की अन्य धाराओं—जैसे शान्त दास्य सख्य वात्सल्य आदि—से भिन्न है। शान्त के अनुसार भक्त भगवान् के सगुण रूप का अनुभव कर उसका चिन्तन करता है। दास्य के अनुसार भक्त अपने आराध्य के ऐश्वर्य-चिन्तन में मग्न रहकर

उसका गौरव-गान किया करता है। सख्य के अनुसार वह भगवान् को किशोरावस्था का सखा मानकर उससे प्रेम करता है और वात्सल्य के अनुसार भक्त अपने भगवान् की बाल-छवि पर ही अधिक मुग्ध होता है। उसे अपने भगवान् की बाल-लीलाओं से सहज ही में जो अलौकिक आनन्द प्राप्त हो जाता है, वह देव और मुनियों को भी दुर्लभ होता है।

मधुर रस के अनुसार भक्त अपने भगवान् को पति-रूप में देखता है और इसी भाव के कारण उसका अपने आराध्य के प्रति इतना घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है कि 'पुरुष-वामा' की भाँति दोनों में कोई अन्तर नहीं रहता। मीराँ नारी थीं इसीलिए इनका माधुर्य भाव अत्यन्त सहज स्वाभाविक और मार्मिक है। जिस प्रकार ब्रज की गोपियाँ मधुर भाव स कृष्ण को अपना सर्वस्व न्योछावर कर चुकी थीं उसी प्रकार उसी गोपी-भाव से मीराँ ने भी स्वयं को उसी गिरिधर नागर के हाथों बेमोल बेच दिया है। यह प्रसिद्ध है कि मीराँ स्वयं को ललिता गोपी का अवतार मानती थीं और इसीलिए वह कृष्ण के साथ अपना जन्म-जन्म का सम्बन्ध घोषित करती हैं —

'मेरी उणकी प्रीत पुराणी उण बिनि पल न रहाऊँ।
जहाँ बैठावे तितही बैठूँ बेचें तो बिक जाऊँ॥

\+ + +

'मीराँ कूँ प्रभु दरसण दीज्यौ पूरब जनम का कोल।

\+ + +

'स्याम बिना बिरहणी मुरझावे जैसे जल बिन बेलो।
मीराँ कूँ प्रभु दरसण दीज्यो जनम जनम की चेलो॥

\+ + +

'म्हैं तो जनम जनम की दासी थें म्हारा सिरताज।

अपने इसी चिर-परिचित सम्बन्ध के बल पर मीराँ सारी लोक-लाज को ठोकर लगाकर अपने गिरिधर के समक्ष निस्संकोच भाव स घुंघरू बाँधकर नाचने लगती है। मीराँ ने जिस प्रकार अपने इस सम्बन्ध की अभिव्यक्ति की है, इससे इन्हें स्वकीया कहना ही अधिक समीचीन जान पड़ता है। वे माधुर्य भाव की सभी नारी-सुलभ बातों को करती चली जाती हैं यहाँ तक कि सेज

का वर्णन करने से भी नहीं हिचकिचातीं। यहां पर यह बता देना भी आवश्यक है कि इसमें किसी प्रकार की अश्लीलता को पन्थ नहीं क्योंकि एक तो मीरां का शृंगार-वर्णन अत्यन्त मर्यादित है। पं परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में—

'मीरां की प्रेम-साधना में देश काल का अन्य परिस्थितियों के अनुसार, उक्त भक्त-सुन्दरियों के गोपी भाव से बहुत कुछ अन्तर तो था ही वह अपने मौलिक सिद्धान्तों एवं उच्च नैतिक भावों के कारण तांत्रिक साधनाओं से भी नितांत भिन्न थी जिनके भ्रष्ट परिणामों से व्यथित-हृदय होकर उससे लोग अथवा साहित्य में अश्लीलता एवं सामाजिक रूढ़ियों के दृष्टिकोण से किसीको हानि कारक दीख पड़ने से ही हम उक्त प्रेम-साधना को मीरांनुमोदित उच्च दार्शनिक एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों के अनुसार सहसा दूषित नहीं ठहरा सकते।'[1]

दूसरे, मधुर रस शृंगार प्रधान होते हुए भी लौकिक शृंगार से सर्वथा भिन्न होता है। शृंगार रस का विषय सांसारिक होने से वह मूर्तिरूप है, किन्तु मधुर रस का विषय अलौकिक है क्योंकि इसमें आलम्बन स्वयं भगवान् होते हैं। शृंगार रस के स्थायी भाव रति का सम्बन्ध स्थूल या व्यक्त शरीर है तो मधुर रस स्वयं आत्मा का ही धर्म है। इसीलिए माधुर्य भावना में किसी प्रकार की अश्लीलता देखना स्वयं अपनी वृत्तियों की ही कमजोरी प्रकट करना है।

माधुर्य भक्ति के अंग

माधुर्य भक्ति के तीन अंग प्रमुख हैं—रूप-वर्णन विरह-वर्णन और पूर्ण तथा आत्मसमर्पण। मीरां के पदों में इन तीनों अंगों का निर्वाह समुचित रीति से हुआ है।

१ रूप-वर्णन—मीरां का प्रियतम भी कृष्ण भक्तों का वही आराध्य है जिसके सिर पर मोर-पंखों का मुकुट है, कानों में मकराकृत कुण्डल हैं मस्तक पर तिलक शोभायमान है जो सांवरा होते हुए भी मनोहर है जिसके विशाल नेत्र हैं, अधर पर वंशी है और गले में वैजन्तीमाला सुशोभित है—

1 मीरांबाई की पदावली पृष्ठ ४५ ४६

'बस्याँ म्हारे णेणण मों नंदलाल।
मोर मुगट मकराकृत कुण्डल अरुण तिलक सोहाँ भाल ॥
मोहण मूरत साँवराँ सूरत णेणा बण्या बिसाल।
अघर सुधारस मुरली राजाँ उर बजंती माल ॥

मीराँ इस रूप-माधुरी को देखकर अपनापन भूल जाती हैं, उनका हृदय 'रेजा रेजा' हो जाता है और वह तड़पकर कह उठती हैं—

'थारो रूप देख्याँ अटकी।
कुल कुटम्ब सजण सकल बार बार हटकी।
बिसर्‌याँ ना लगण लगाँ मोर मुगट नट की ॥

और फिर तो वह लोक-लाज को तिलांजलि देकर इसी छवि-सागर में डूब जाती हैं—

'साँवरो नन्द नन्दन दीठ पड़्याँ माई।
डार्‌याँ सब लोक-लाज सुध बुध बिसराई ॥'

यद्यपि मीराँ का रूप-वर्णन परम्परागत है, उपमान भी चिर-परिचित है, तथापि इनके हृदय की सहजता परम्पराओं के मध्य भी एकदम नवीन-सी प्रतीत होती है।

२ विरह-वर्णन—रूपासक्ति प्रेम की जननी होती है, और प्रेम वह पीर है जिसे वही व्यक्ति अनुभव कर सकता है जिसे पीड़ा से वास्ता पड़ा हो। यह वह भाव है जो बाहर से तो कुछ भी दिखाई नहीं देता, पर अन्दर ही अन्दर रोम रोम में रिसता रहता है—

'लागी सोही जाणें कठण लगण री पीर।
बिपत पड्याँ कोई निकटि न आव सुख में सबको सीर ॥
बाहरि घाव कछू नहिं दीसै, रोम रोम री पीर।
जन मीराँ गिरधर के ऊपर, सदकै करूँ सरीर ॥

इस सत्य का पता मीराँ को तब चलता है जब इनके 'प्रभुजी मेहड़ा' लगा-कर कहीं चले जाते हैं, इनसे दूर हो जाते हैं। तब तो इनकी विरहानुभूति में ऐसा ज्वार आता है कि वह दबाये नहीं दबता तथा केवलमात्र एक ही उपचार रह जाता है—प्राणों का त्याग। पर यह उपचार भी तो पूर्ण नहीं हो पाता क्योंकि विरहिणी के प्राण निकल जाना आसान बात नहीं है—

'माई म्हारी हरिहूँ न बूझ्यां बात ।
पंड मांसूं प्राण पापी निकसि क्यूं णा जात ।।
चढा णा बोल्या मुखां णा बोल्या साँझ भयां परभात ।।
अबोलणां जुग बीतण लागा कायाँरी कुसलात ।।

फिर तो 'दरद दिवाणी' मीरां का दर्द असीम हो जाता है । वह लोक-लाज की सीमाएं और सामाजिक परिधियों को लाँघकर उफनने लगता है । उसका कथन भी तो नहीं किया जा सकता क्योंकि वह तो केवल अनुभूतिगम्य है—

को बिरहिणी को दुख जाणै हो ।
जा घट बिरहा सोइ लखिहै कै कोई हरिजन मानै हो ।।'

कहने का अभिप्राय यह है कि मीरां-काव्य में विरह की जो स्वाभाविकता तथा मार्मिकता उपलब्ध होती है वह मीरां जैसे सरस भावपूर्ण तथा कसक-पूर्ण हृदय से ही संभव है । अन्य कवियों के विरह-वर्णन में ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त नहीं होती । इस प्रसंग में प्रो० रामेश्वरप्रसाद शुक्ल के ये शब्द उल्लेख्य हैं—

मीरां की वेदना युग-युग से प्रियतम से बिछुड़ी हुई प्रीतिदग्ध-प्रणयाकुल आत्मा की वेदना है । वह अपने को आराध्य की जन्म-जन्म की दासी समझती है । और सर्वस्व-समर्पण जो प्रेम का प्राण है उसके गीत-गीत में मन के संपूर्ण आवेग के द्वारा उपवर्णित हुआ है । प्रत्येक घड़ी, प्रत्येक क्षण उसके सामने प्रिय का रूप मंडराया करता है । इष्टदेव के दर्शन की ऐसी तीव्र लालसा, मिलन की ऐसी परिपूत तृष्णा कामना की ऐसी अभिव्यक्ति बहुत कम से कम हिन्दी के अन्य किसी कवि में नहीं पाई जाती । भारतीय नारीत्व अपनी सारी भावनात्मक ऐश्वर्य और रोम-प्रतिरोम में कसकती पिपासा को लेकर वंचित आत्मा के एकनिष्ठ तन्मय जीवन-निवेदन को लेकर इस प्रेम-पुजारिनी की प्रीति-भीनी कड़ियों में मुखरित हुआ है ।[1]

३ आत्म-समर्पण—जिस प्रकार रूपासक्ति की परिणति प्रेमासक्ति में होती है और प्रेम की विरह-व्यथा में होती है, उसी प्रकार विरह का छोर आत्म-समर्पण है । विरही अथवा विरहिणी को इस समर्पण-भावना के प्रति

1 मीरां स्मृति-ग्रन्थ पृष्ठ १२४

रिक्त और कोई चारा भी तो नहीं रह जाता। मीराँ ने स्वयं को अपने अमिताम् के प्रति इस प्रकार अर्पित कर दिया है कि उसके बिना इनका जीवित रहना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार मछली का पानी से बिछुड़ने पर—

'हरि बिण क्यूँ जिवाँ री माय।
स्याम बिना बौराँ भयाँ, मरण काठ ज्यूँ घुण खाय ॥
मूल ओषद ण लग्याँ म्हाँरे प्रेम पीड़ा खाय।
मीन जल बिछुड्या णा जीवाँ तलफ मर मर जाय ॥'

इसी समर्पण-भावना के कारण मीराँ अपने आराध्य की 'चाकर' तक बनने के लिए तैयार हैं—

'म्हाँने चाकर राखोंजी गिरधारी लाला चाकर राखोंजी।

और इस भावना की चरम परिणति परिलक्षित होती है अद्वैत भावना में जहाँ 'मैं' और 'तू' का अन्तर समाप्त हो जाता है, दोनों का व्यवधान मिट जाता है—

'तुम बिच हम बिच अंतर नाहीं जैसे सूरज घामा।
मीराँ के मन अवर न माने, चाहे सुन्दर स्यामाँ।

सारांश

इस विवेचना से यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि मीराँ की माधुर्य भावना सभी दृष्टियों से पूर्ण है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि यह इनकी कोई सुनिश्चित योजना है। मीराँ की भक्ति हृदय की है ज्ञान से उसका कोई सम्बंध नहीं। इनकी भक्ति-पद्धति किसी परम्परा अथवा सम्प्रदाय का अनुसरण नहीं बल्कि यह तो एक ऐसे हृदय का सहज उद्‌गार है जो न तो सामाजिक बन्धनों को स्वीकार करता है और न धार्मिक मर्यादाओं को मानता है। इनकी भक्ति-पद्धति में जहाँ *निर्गुणिये सन्तों की शब्दावली* मिलती है वहाँ सगुण कृष्ण भक्ति की मधुर भावना भी प्राप्त होती है। आँसुओं के जल से सींच-सींचकर प्रेम बेलि बोनेवाली मीराँ का किसी सम्प्रदाय विशेष में आबद्ध होजाना सम्भव भी तो नहीं था और फिर प्रेम तथा भक्ति का मार्ग भी इनके लिए न्यारा था—

'प्रेम भगति को पैंडो ही न्यारा हमकू गैल बता जा ॥'

मीरों की गीति-कला

जब मानव-हृदय भावों से परिपूर्ण होकर छलकने लगता है तो भावों की इसी छलकन से काव्य का जन्म होता है। काव्य-प्रणयन के समय कवि की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। पहली अवस्था में वह विषय से स्वयं तादात्म्य कर लेता है अर्थात् अपने ही माध्यम से वह अपनी बात कहता है। इस प्रकार का काव्य *अन्तर्वादी काव्य (Personal or Subjective Poetry)* कहलाता है। दूसरी अवस्था में कवि किसी तटस्थ दर्शक की भाँति दूसरे के माध्यम से अपने विषय का वर्णन करता है। इस प्रकार का काव्य बाह्यवादी (Impersonal or objective Poetry) होता है। तीसरी अवस्था में कवि न तो पूर्ण रूप से अन्तर्वादी ही रह पाता है न बाह्यवादी बल्कि इन दोनों का वह समन्वय कर लेता है। इस प्रकार का काव्य नाटक काव्य (Dramatic Poetry) कहलाता है। गीति-काव्य अन्तर्वादी काव्य के अन्तर्गत आता है अतः इस पर कुछ विचार करना अपेक्षित है।

अन्तर्वादी काव्य में कवि आत्मनिष्ठ होता है अर्थात् अपने ही माध्यम से अपनी बात कहता है इसीलिए इसमें भावतत्व का प्राधान्य होता है और कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से मुखरित होता है। भावों की प्रबलता, व्यक्तित्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति और भाषा की विशदता आदि अन्तर्वादी काव्य की प्रमुख विशेषताएँ होती हैं। हडसन ने अन्तर्वादी काव्य की व्याख्या इन शब्दों में की है—

There is the Poetry in which the poet goes down in to himself and finds his inspiration and his subjects in his own experience, thoughts and feelings.[1]

गीति का स्वरूप

गीति हिन्दी का ही नहीं विश्व-साहित्य का प्रियतम काव्य-रूप है। इसी-लिए इसकी परम्परा किसी न किसी रूप में अनादिकाल से चली आ

1 An Introduction to the study of literature *page 96*

रही है। संस्कृत-साहित्य में गीति की यह परम्परा काफी पुरानी है। गीति का विवेचन भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों काव्यशास्त्रों में मिलता है, किन्तु पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। पाश्चात्य साहित्य में हेगल (Hegal) अर्नेस्ट रिस (Ernest Rhys) जॉन ड्रिंक वाटर (John Drink Water) गमर (Gummere) और हडसन (Hudson) आदि प्रमुख हैं। इन्होंने गीति की परिभाषा इन शब्दों में की है—

१ 'गीति-काव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं ऐश्वर्य का उद्घाटन हो। इसमें तो कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक रूप-विशेष के प्रतिबिम्ब का चित्रण होता है। इसका एकमात्र उद्देश्य शुद्ध कलात्मक वाणी में आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं उसकी भावनाओं उसके आह्लाद की तरंगों और उसकी वेदना की चीत्कारों का उद्घाटन करना ही है। —हेगल

२ 'गीति-काव्य एक ऐसी संगीतमय अभिव्यक्ति है जिसके शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य होता है किन्तु जिसकी प्रभावशालिता लय में सतत उन्मुक्तता रहती है। —अर्नेस्ट रिस

३ 'गीति-काव्य एक ऐसी अभिव्यंजना है जो विशुद्ध काव्यात्मक (भावात्मक) प्रेरणा से व्यक्त होती है तथा जिसमें किसी अन्य प्रेरणा के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। —जॉन ड्रिंक वाटर

४ 'गीति-काव्य वह अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी कविता है जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होती है तथा जिसका सम्बन्ध घटनाओं से नहीं अपितु भावनाओं से होता है और जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होती है। —गमर

५. 'वैयक्तिकता की छाप गीति-काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है किन्तु वह व्यक्ति-वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होता है जिससे प्रत्येक पाठक इसमें अभिव्यक्त भावनाओं एवं अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके। —हडसन

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने से गीति-काव्य के निम्नलिखित तत्त्व प्राप्त होते हैं—

मीराँ की गीति-कला

जब मानव-हृदय भावों से परिपूर्ण होकर छलकने लगता है तो भावों की इसी छलकन से काव्य का जन्म होता है। काव्य-प्रणयन के समय कवि की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। पहली अवस्था में वह विषय से स्वयं तादात्म्य कर लेता है अर्थात् अपने ही माध्यम से वह अपनी बात कहता है। इस प्रकार का काव्य अन्तर्वादी काव्य (Personal or Subjective Poetry) कहलाता है। दूसरी अवस्था में कवि किसी तटस्थ दर्शक की भाँति दूसरे के माध्यम से अपने विषय का वर्णन करता है। इस प्रकार का काव्य बाह्यवादी (Impersonal or objective Poetry) होता है। तीसरी अवस्था में कवि न तो पूर्ण रूप से अन्तर्वादी ही रह पाता है न बाह्यवादी बल्कि इन दोनों का वह समन्वय कर लेता है। इस प्रकार का काव्य नाटक काव्य (Dramatic Poetry) कहलाता है। गीति-काव्य अन्तर्वादी काव्य के अन्तर्गत आता है अतः इस पर कुछ विचार करना अपेक्षित है।

अन्तर्वादी काव्य में कवि आत्मनिष्ठ होता है अर्थात् अपने ही माध्यम से अपनी बात कहता है इसीलिए इसमें भावतत्त्व का प्राधान्य होता है और कवि का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप में मुखरित होता है। भावों की प्रबलता व्यक्तित्व की स्पष्ट अभिव्यक्ति और भाषा की विशदता आदि अन्तर्वादी काव्य की प्रमुख विशेषताएँ होती हैं। हडसन ने अन्तर्वादी काव्य की व्याख्या इन शब्दों में की है—

'There is the Poetry in which the poet goes down in to himself and finds his inspiration and his subjects in his own experiences, thoughts and feelings.[1]

गीति का स्वरूप

गीति हिन्दी का ही नहीं विश्व-साहित्य का प्रियतम काव्य-रूप है इसी-लिए इसकी परम्परा किसी न किसी रूप में अनादिकाल से चली आ

1 An Introduction to the study of literature, page 96

रही है। संस्कृत-साहित्य में गीति की यह परम्परा काफ़ी पुरानी है। गीति का विवेचन भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों काव्यशास्त्रों में मिलता है किन्तु पाश्चात्य काव्यशास्त्र में अपेक्षाकृत अधिक हुआ है। पाश्चात्य साहित्य में हेगल (Hegal) अर्नेस्ट रिस (Ernest Rhys) जॉन ड्रिंक वाटर (John Drink Water) गमर (Gummere) और हडसन (Hudson) आदि प्रमुख हैं। इन्होंने गीति की परिभाषा इन शब्दों में की है—

१ 'गीति-काव्य में किसी ऐसे व्यापक कार्य का चित्रण नहीं होता जिससे बाह्य संसार के विभिन्न रूपों एवं वैभव का उद्घाटन हो। इसमें तो कवि की निजी आत्मा के ही किसी एक रूप-विशेष के प्रतिबिम्ब का चित्रण होता है। इसका एकमात्र उद्देश्य युक्त कलात्मक शैली में आन्तरिक जीवन की विभिन्न अवस्थाओं उसकी आशाओं उसके आह्लाद की तरंगों और उसकी वेदना की चीत्कारों का उद्घाटन करना ही है। —हेगल

२ 'गीति-काव्य एक ऐसी संगीतमय अभिव्यक्ति है जिसमें शब्दों पर भावों का पूर्ण आधिपत्य होता है किन्तु जिसकी प्रभावशालिनी लय में सहज उन्मुक्तता रहती है। —अर्नेस्ट रिस

३ 'गीति-काव्य एक ऐसी अभिव्यंजना है जो विशुद्ध काव्यात्मक (भावात्मक) प्रेरणा से व्यक्त होती है तथा जिसमें किसी अन्य प्रेरणा के सहयोग की अपेक्षा नहीं रहती। —जॉन ड्रिंक वाटर

४ 'गीति-काव्य वह अन्तर्वृत्ति निरूपिणी कविता है जो वैयक्तिक अनुभूतियों से पोषित होती है तथा जिसका सम्बन्ध घटनाओं से नहीं अपितु भावनाओं से होता है और जो किसी समाज की परिष्कृत अवस्था में निर्मित होती है। —गमर

५. 'वैयक्तिकता की छाप गीति-काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है, किन्तु वह वैयक्तिक-वैचित्र्य में सीमित न रहकर व्यापक मानवीय भावनाओं पर आधारित होता है जिससे प्रत्येक पाठक इसमें अभिव्यक्त भावनाओं एवं अनुभूतियों से तादात्म्य स्थापित कर सके। —हडसन

इन परिभाषाओं का विश्लेषण करने से गीति-काव्य के निम्नलिखित तत्त्व प्राप्त होते हैं—

१ आत्माभिव्यंजन
२ संगीतात्मकता
३ अनुभूति की पूर्णता अथवा भाव-प्रवणता
४ भावों का ऐक्य

इन सभी तत्वों का समन्वय करके गीति की यह परिभाषा दी सकती है—

गीतिकाव्य कवि के अन्तर्गत की वह रचना प्रसित तीव्रतम भावाभिव्यं है जिसमें विशिष्ट पदावली का सौन्दर्य अनुभूति के ऐक्य एवं संगीतात्मक के योग से द्विगुणित होता है।

मीरों की गीति-कला

मीरों की गीति-कला का सही मूल्यांकन करने के लिए उपयुक्त तत्वों इनके गीतों का परखना अपेक्षित है और आवश्यक भी। अतः हम संक्षिप्त में इन तत्वों का परिचय देकर इनके आधार पर मीरों की गीति-कला विश्लेषण करेंगे।

आत्माभिव्यंजना—यह कहा जा सकता है कि जब सम्पूर्ण काव्य ही आत्माभिव्यंजन है तो उसका 'गीति' यह भेद क्यों किया जाय ? इस प्रश्न का सीधा सा उत्तर यह है कि काव्य एक विकास पूर्ण है और गीति उसका एक अंग। काव्य में सम्पूर्ण जीवन का अंकन होता है, जिसमें अन्तः और बाह्य दोनों पक्ष समाहित हो जाते हैं, किन्तु गीति में केवल अन्तःपक्ष का ही समावेश होता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि अन्य काव्य-रूपों में जीवन के बाह्य और आन्तरिक दोनों पक्षों को व्यक्त किया जाता है और कवि अन्य पात्रों माध्यम से परोक्ष रूप में अपने व्यक्तित्व का प्रस्फुटन करता है, किन्तु गीति में उसे किसी भी प्रकार के माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। वह अप पाठकों के समक्ष अपरोक्ष या प्रत्यक्ष रूप से आता है। अतः कह सकते हैं कि गीतिकाव्य केवल कवि के आन्तरिक विश्व की प्रत्यक्ष रूप से बाह्याभिव्यंजना है।

यों तो कवि की इस आत्माभिव्यक्ति में उसकी अपनी ही निजी भावना होती है, किन्तु काव्य-कला के कारण ये भावनाएँ उसकी न रहकर सबकी

जाती हैं। यदि ये केवल कवि के व्यक्तित्व तक ही सीमित रह जायेंगी तो पाठकों का उनके साथ साधारणीकरण न हो सकेगा और तब वह गीति-काव्य न बनकर निरा अपना लेखा-जोखा रह जायगा। इसीलिए कवि को अपने गीतों में अपनी ऐसी-ऐसी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करनी चाहिए जो सार्वकालिक और सार्वभौमिक हों।

मीरां के गीतों में इनकी अपने ही जीवन की परिस्थितियाँ मुखरित हुई हैं। इनके गीतों में इनकी दो प्रकार की भावनाएं मिलती हैं—अनुरागमयी और विषादमयी। इनका कृष्ण के प्रति अटूट और अपार अनुराग है इसलिए इन्होंने किसी बन्धन को नहीं स्वीकार किया। विष का प्याला हँसते हँसते पी लिया भुजंग को गले में माला की तरह धारण कर लिया राजप्रसाद का परित्याग करके साधु-संगति को अपनाया किन्तु फिर भी इनके अनुराग में कोई अन्तर नहीं आया बल्कि वह तो और बढ़ता ही गया। मीरां ने स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी कि उनका पति वही है जिसके सिर पर मोर-मुकुट है।

मीरां का हृदय सरल और निष्कपट था इसीलिए इनके गीतों में प्रसाद गुण का प्राधान्य है। ये अपना अनुराग और विषाद सरलतम भाषा में व्यक्त करती हैं, किन्तु उसका प्रभाव मानस-स्पर्शी होता है। यथा—

'आली री म्हारे नैणां बाण पड़ी।
चित्त चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत, हिवड़ा अणी गड़ी।
कबरो ठाढ़ी पंथ निहारूँ अपने भवण खड़ी।।
अटक्यां प्राण साँवरो प्यारो जीवन मूर जड़ी।
मीरां गिरधर हाथ बिकाणी लोग कह्यां बिगड़ी।।'

इन कतिपय पंक्तियों में मीरां ने अपने जीवन का समग्र चित्रण कर दिया है। इनका कृष्ण से अनुराग हो गया है और वह अनुराग विरह की बाधा से विषादमय भी बन गया है। एक विरहिणी की भाँति ये अपने प्रियतम का पथ निहार रही हैं किन्तु इनके इस अनुराग के कारण समस्त समाज इनके विरुद्ध है। सब कहते हैं कि मीरां बिगड़ गई है—पथ भ्रष्ट हो गई है। कितने सरल और सीमित शब्दों में मीरां ने अपने जीवन की विषमता सरल और सूक्ष्म ढंग से व्यक्त की है।

इसी प्रकार विरह के पदों में मीराँ का अपना विषाद है अपनी विरहिणी आत्मा का चीत्कार है—

'बारि भयो मनमोहन पासी ।
आँबा की डालि कोइल इक बोलै मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी ।
विरह की मारी मैं बन बन डोलूँ प्राण तजूँ करवत ल्यूँ कासी ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी तुम मेरे ठाकुर मैं तेरी दासी ।

कितनी विवशता है एक विरहिणी की ! 'अपना मरण जगत की हाँसी' कहकर मीराँ ने जहाँ एक ओर अपनी असीम व्यथा का परिचय दिया है वहाँ दूसरी ओर जग की निष्ठुरता का भी अनावरण कर दिया है ।

इसमें किसीको भी सन्देह नहीं कि मीराँ ने अपने गीतों में अपनी ही बातें कही हैं किन्तु फिर भी ये बातें किसी एक व्यक्ति-विशेष अथवा काल विशेष की सीमा में आबद्ध नहीं बल्कि शाश्वत और सार्वकालिक हैं इसीलिए मीराँ की बातें प्रत्येक पाठक को अपनी ही बातें लगती हैं और इसीलिए वह उनके साथ तादात्म्य करने में सफल होता है ।

२ संगीतात्मकता—गीति-काव्य का दूसरा तत्त्व है संगीत । यह कहना कि संगीत गीति का प्राण है अनुचित नहीं क्योंकि जिस प्रकार गीति-काव्य मानव की रागात्मिका वृत्ति से उद्भूत होता है उसी प्रकार संगीत का भी उस वृत्ति से निकटतम सम्बन्ध है । भाव और संगीत दोनों के मूल में ही हृदय के मनोवेगों की तीव्रता रहती है । यदि गीति काव्य की रचना के लिए भाव अनिवार्य है तो उसकी प्रभावोत्पादकता के लिए संगीत भी उतना ही आवश्यक है । पाश्चात्य विद्वान् आस्कर ब्राउनिंग ने गीति-काव्य में संगीत की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए कहा है कि किसी भी संगीत-विहीन कविता को कविता नहीं कहा सकता चाहे उसमें अन्य कितनी ही विशेषताएँ हों—

No verse which is unmusical or obscure can be regarded as poetry whatever other qualities it may possess.

इसके विरुद्ध पं रामसेवक पाण्डेय का मत है । वे लिखते हैं—

संगीतमय अथवा संगीतात्मक होना गीति-काव्य की अन्यतम कसौटी नहीं ।[1]

---

1 गीति-काव्य पृष्ठ ५७

हमारे मत में गीति-काव्य में संगीत का होना अनिवार्य है भले ही वह किसी प्रकार का संगीत हो—चाहे वर्णों का हो चाहे स्वरों का और चाहे भाव का।

मीराँ के गीतों में संगीतात्मकता का पूर्णरूप से समावेश है। भावों के अनुरूप ही संगीत की योजना है। मीराँ का प्रत्येक पद किसी न किसी राग से सम्बद्ध है। उदाहरणार्थ—

'बस्यां म्हारे णेणण मां नंदलाल।
मोर मुगट मकराकत कुडल अरुण तिलक सोहां भाल
मोहण मूरत साँवरा सूरत णेणा बण्यां बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजां उर बैजन्ती माल
मीरां प्रभु सन्तां सुखदायां भक्त बछल गोपाल।

इस पद में 'राग हमीर है और—

'म्हा मोहण री रूप लुभाणी।
सुन्दर बदन कमल दल लोचन बाँका चितवण णेणा समाणी।
जमणा किणारे कान्हा धेनु चरावां बंसी बजावां मीठां बाणी।
तन मन धन गिरधर पर वारां चरण कँवल मीरां बिलमाणी॥

इस पद में 'राग गूजरी है। इसी प्रकार इनके अन्य पदों में त्रिवेणी राग कमोद राग नीलाम्बरी राग मुल्तानी राग मालकोस राग झिंझौटी राग पट मंजरी राग तुलसी राग धानी राग पीलू बरवा राग खम्भात राग पहाड़ी आदि-आदि अनेक राग उपलब्ध होते हैं। अतः यह असंदिग्ध शब्दों में कहा जा सकता है कि मीराँ के गीतों में संगीतात्मकता का पूर्णरूपेण समावेश है। इसी-लिए डॉ॰ उमा गुप्ता ने मीराँ को उसके युग की सर्वश्रेष्ठ गायिका माना है।[1]

३ अनुभूति की पूर्णता—या तो प्रत्येक मानव में कोई न कोई अनुभूति रहती ही है किन्तु गीति-काव्य की अनुभूति अपेक्षाकृत अधिक भावमयी वेगमयी और सबल होती है। जब अनुभूति घनीभूत होकर छलक पड़ती है तभी गीति का जन्म होता है। अनुभूति की पूर्णता के साथ-साथ उत्तम गीत के लिए अनुभूति की विशिष्टता भी आवश्यक है। मीराँ में अनुभूति का अभाव नहीं। जिस मोर-मुकुट-धारी के लिए वे अपना सर्वस्व न्यौछावर

1 हिन्दी के कृष्ण-भक्ति कालीन साहित्य में संगीत पृष्ठ ४९

कर चुकी है उसके प्रथम मात्र से ही मीरां के हृदय का भावाभिभूत हो जाना स्वाभाविक ही है। यही भावावेश उनके प्रत्येक पद में पाया जाता है। यथा-

"जोगी मत जा, मत जा मत जा पाँइ पड़ू मैं तेरी चेरी हौं।"

इस पद में अनुभूति की पूर्णता वीप्सा अलंकार के माध्यम से व्यक्त हुई है। कितनी विवशता भरी है इस पंक्ति में और इस अभिव्यक्ति में। मीरां की अनुभूति सर्वत्र पूर्ण विशिष्ट है। यही कारण है कि वह श्रोता अथवा पाठक के हृदय को तुरन्त कचोट लेती है। एक और उदाहरण देखिये—

'माई म्हाँ गोविन्द गुण गाणा।
राजा रूठ्याँ नगरी त्यागाँ हरि रूठ्याँ कठै जाणा।
राणी भेज्या विषरो प्यालो, चरणामृत पी जाणा।
काला नाग पिटारयाँ भेज्या सालिगराम पिछाणा।
मीराँ तो अब प्रेम दीवाणी सांवलिया वर पाणा।।"

गीति-काव्य के विकास का पर्यालोचन करते हुए डॉ शकुन्तला दुबे ने मीरां की अनुभूति का मूल्यांकन इन शब्दों में किया है—

'कबीर, सूर, तुलसी और मीरां सभी ने आत्माभिव्यंजक पदों की रचना की किन्तु भावों की तीव्रता के अनुरूप पदों में अभिव्यंजना का स्वरूप परिवर्तित होता गया। मीरां के पदों में यह तीव्रता अपने चरम पर पहुँच गई; अतः पद यहाँ आकर बहुत ही भावात्मक हो उठे हैं। कबीर ने अपने पदों में आध्यात्मिक भावना डाली विद्यापति ने जीवन की प्रेममयी अनुभूति की व्यंजना की, सूर ने भाव और संगीत का सुन्दर समन्वय किया तुलसी ने विचारात्मकता के साथ व्यक्तित्व की छाप दी तो मीरां ने अपने पदों में सबका सुन्दर समन्वय किया। उनमें विचार है, पर अनुभूति के साथ मिले हुए, उनमें प्रेमानुभूति है और उसकी तीव्र व्यंजना भी। यहाँ संगीत भी है जो एक-एक शब्द से फूट पड़ रहा है तो साथ ही संगीतात्मकता भी। व्यक्तित्व की छाप तो इनके पदों में सर्वत्र है क्योंकि मीरां की अपनी ही व्यथा पदों में ढली और साथ ही भावों और भावों का सुन्दर समन्वय भी है। काव्य और संगीत इन पदों में अपने चरम पर पहुँच कर एक-दूसरे में समाहित हो गये हैं।[1]

काव्यरूपों के मूलस्रोत और उनका विकास पृष्ठ २२१

४ भावों का ऐक्य—गीति में भावों का ऐक्य भी आवश्यक है जिससे गीति के अन्तर्गत व्यक्त मनोभाव स्थायित्व प्राप्त कर सकें। भावों का ऐक्य अथवा अन्विति के कारण ही गीति का प्रभाव पड़ता है। यदि किसी गीति में बहुत से भिन्न भिन्न भाव हुए तो वह श्रोता अथवा पाठक का हृदय कदापि स्पर्श नहीं कर सकता और न कोई स्थायी प्रभाव ही डाल सकता है।

मीरां के गीतों में भावान्विति भी बराबर मिलती है। कहीं-कहीं तो एक ही भाव को व अनेक प्रकार से पुष्ट करती हैं ताकि गीति का प्रभाव सक्षम बन सके। यथा—

'हरि थें हर्‌या जण री भीर।
द्रोपता री लाज राख्यां थे बढ़ायां चीर।
भगत कारण रूप नरहरि धार्‌यां आप सरीर।।
बूड़तो गजराज राख्यां कट्यां कुंजर भीर।
दासि मीरां लाल गिरिधर, हरां म्हारो भीर।।'

इसमें कृष्ण की भक्त-वत्सलता का अनेक कथाओं द्वारा समर्थन किया गया है। इस प्रकार से गीति का प्रभाव कई गुना हो गया है।

अतः कहा जा सकता है कि मीरां के गीत पूर्णतः सफल गीत हैं।

डॉ॰ रामकुमार वर्मा के शब्दों में—

"गीति-काव्य के अनुसार मीरां की कविता आदर्श है। मीरां ने न तो रीतिशास्त्र की मर्मज्ञता की ओर न चमत्कार प्रदर्शन की। उनके हृदय में निर्झर की भाँति भाव आए और अनुकूल स्थान पाकर प्रकट हो गए। भाव अनुभाव, संचारी भावों के शास्त्रों में उनकी कविता-कलिका नहीं छिपी, वरन् निरभ्र हृदयाकाश से बरस पड़ी। हृदय की भावना मन्दाकिनी की भाँति कलकल करती हुई आई और मीरां के कंठस्थ सरस्वती की संगीतधारा में मिल गई। वह भावना संगीत का आधार बनी और उसीमें मीरां के हृदय की अनुभूति मिली।[1]

---

1 हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास पृष्ठ ५८१

मीराँ की अलंकार योजना

मनुष्य स्वभावतः सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह अपने चतुर्दिक के वातावरण को सौन्दर्य से मण्डित देखना चाहता है। उसकी इच्छा बाह्य जगत् तक ही सीमित नहीं है वरन् आन्तरिक जगत् को भी वह सौन्दर्यान्वित देखने का इच्छुक है। इसी इच्छा के वशीभूत होकर वह सौन्दर्य का आदान-प्रदान करता है। वाणी के विकास में भी उसकी यही इच्छा कार्यशील है। वह चाहता है कि जो कुछ भी वह कहे सुने अथवा लिखे वह भी सौन्दर्य-विहीन न हो। इसीलिए काव्य में अलंकारों का आविर्भाव हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी इसी मत के पोषक हैं—

वस्तु या व्यापार की भावना चटकीली करने और भाव को अधिक उत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए कभी-कभी किसी वस्तु का आकार या गुण बहुत बढ़ाकर दिखाना पड़ता है, कभी उसके रूप रंग या गुण की भावना को उस प्रकार के और रूप रंग मिलाकर तीव्र करने के लिए समान रूप और धर्म वाली और-और वस्तुओं को सामने लाकर रखना पड़ता है। कभी-कभी बात को घुमा-फिराकर भी कहना पड़ता है। इस तरह से भिन्न-भिन्न विधान और कथन के ढंग अलंकार कहलाते हैं।

अलंकार का स्वरूप

अलंकार दो शब्दों से मिलकर बना है—अलम् + कार। 'अलम्' का अर्थ है भूषण और 'कार' का अर्थ है करने वाला अर्थात् भूषित या अलंकृत करने वाले साधन को अलंकार कहते हैं। इसीलिए आचार्य दण्डी ने काव्य के शोभाकारक धर्मों को अलंकार माना है—

काव्यशोभाकरान्धर्मान् अलंकारान्प्रचक्षते।[1]

यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि गुण भी तो काव्य के शोभाकारक धर्म होते

---

[1] काव्यादर्श २।१

है। फिर अलंकार और गुण में क्या अन्तर हुआ ? इसका उत्तर आचार्य वामन ने दिया है—

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।'[1]

अर्थात् काव्य में काव्यत्व लानेवाला धर्म गुण कहलाता है और काव्य को उत्कृष्ट बनानेवाला धर्म अलंकार होता है। आचार्य विश्वनाथ ने भी शब्द और अर्थ के शोभावर्द्धक अस्थिर धर्मों को अलंकार माना है—

'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।'[2]

इन उद्धरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि काव्य में उत्कर्षता अथवा शोभा-वृद्धि करने वाले धर्मों को अलंकार कहते हैं।

अलंकार और काव्य

अब देखना यह है कि काव्य में अलंकारों का क्या स्थान है ? इस प्रश्न को लेकर संस्कृत काव्यशास्त्र में दो वर्ग बन गए थे। एक वर्ग वह था जो अलंकारों को काव्य का अनिवार्य धर्म मानता था और अलंकारों से विहीन काव्य का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करता था। इस वर्ग के एक आचार्य जयदेव ने तो यहाँ तक कह दिया कि अलंकार-शून्य काव्य की कल्पना उसी प्रकार उपहास्य स्पद है जिस प्रकार उष्णता विहीन अग्नि की कल्पना —

'अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥'[3]

इस वर्ग का अभिनिविष्ट करने वाले आचार्यों में भामह अग्निपुराणकार आदि हैं। भामह ने बताया है कि जिस प्रकार, कोई नारी कितनी ही सुन्दर हो किन्तु आभूषण के अभाव में उसके मुख पर कान्ति नहीं आती उसी प्रकार सुन्दर काव्य भी अलंकरण हीन पर असुन्दर ही रहता है—

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्।'[4]

अग्निपुराणकार ने भी शब्द भेद से इसी मत का पोषण किया है—

---

1 काव्यालंकारसूत्र ३-१-१
2 साहित्यदर्पण १०-१
3 चन्द्रालोक १-८
4 काव्यालंकार, १-१३

'अलंकाररहिता विधवेव सरस्वती ।'[1]

अर्थात् सरस्वती भी अलंकार-विहीन होने पर विधवा के समान ही होती है। इसके विपरीत दूसरा वर्ग उन आचार्यों का है जो काव्य में अलंकारों को अनिवार्य नहीं मानता। अधिकांश आचार्य इसी वर्ग के पोषक हैं। आचार्य मम्मट ने काव्य-लक्षण करते हुए कहा है कि अलंकार-विहीन भी काव्य हो सकता है—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।'[2]

और इसीलिए इन्होंने काव्य में अलंकारों की वही स्थिति मानी है जो शरीर पर हार आदि आभूषण की हुआ करती है—

'उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥'[3]

इसी मत का पोषण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अलंकारों को शब्दार्थ का अस्थिर धर्म बताया है जो रस भाव के अभिव्यञ्जन में सहायक हुआ करते हैं ठीक उसी प्रकार जैसे अंगद (बाजूबन्द) आदि आभूषण शरीर की शोभा का वर्द्धन करते हैं—

'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥'[4]

यदि हम दोनों वर्गों के मतों की समीक्षा की जाय तो कहना चाहिए कि अलंकार काव्य के अनिवार्य धर्म नहीं किन्तु यदि इनका काव्य में सहज प्रयोग हो तो इनमें काव्य की रसवत्ता का उत्कर्ष ही होता है। जिस प्रकार स्वभावसिद्ध सौन्दर्य को आभूषणों की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार सत्काव्य के लिए अलंकारों का प्रयोग अनिवार्य नहीं और जिस प्रकार स्वाभाविक सौन्दर्य पर धारण किया हुआ सहज अलंकार उसकी शोभा को द्विगुणित कर देता है उसी प्रकार अलंकारों का प्रयोग काव्याभिव्यक्ति को और अधिक रसमय तथा भावमय बना देता है। इसीलिए आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कहा है—

1 अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग ८–२
2. काव्यप्रकाश १–१
3 काव्यप्रकाश ८–२८
4. साहित्यदर्पण १०–१

'कविता करने में अलंकारों को बलात् लाने का प्रयत्न न करना चाहिए ।'[1]

अलंकार भेद

ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने लिखा है—

'अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालंकाराः ।'[2]

अर्थात् अभिव्यक्ति के ढंग अनन्त हैं इसीलिए अलंकार भी अनन्त हैं । आचार्य दण्डी ने भी ऐसा ही मत प्रकट किया है । इनका कहना है कि अलंकारों की आज भी सृष्टि हो रही है, अतः उनकी संख्या बताना असम्भव है—

'ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ।'[3]

फिर भी अपने-अपने दृष्टिकोण से अनेक आचार्यों ने अलंकारों का वर्गीकरण किया है । रुद्रट ने अर्थालंकारों को चार वर्गों में बाँटा है—वास्तव औपम्य अतिशय और श्लेष । आचार्य विश्वनाथ ने भी अलंकारों के चार ही वर्ग किए हैं किन्तु इनका नामकरण भिन्न है । वे हैं—वस्तुप्रतीति वाले औपम्य प्रतीति वाले रस-भाव प्रतीति वाले और अस्फुट प्रतीति वाले । राजानक रुय्यक ने अलंकारों के सात वर्ग किए हैं—सादृश्यगर्भ विरोधगर्भ शृंखलाबद्ध तर्कन्यायमूल वाक्यन्यायमूल लोकन्यायमूल और गूढार्थप्रतीतिमूल । यद्यपि ये वर्गीकरण अपने-अपने स्थान पर खरे उतर सकते हैं किन्तु आजकल सर्वाधिक मान्य वर्गीकरण इनसे भिन्न है । आज अलंकारों के तीन भेद माने जाते हैं—

१ शब्दालंकार
२ अर्थालंकार
३ उभयालंकार या मिश्रित अलंकार

शब्द को चमत्कृत करनेवाले शब्दाश्रित अलंकार शब्दालंकार कहलाते हैं । अर्थ को चमत्कृत करने वाले अर्थाश्रित अलंकार अर्थालंकार कहे जाते हैं और

1 रसज्ञ-रंजन पृष्ठ ७०
2 ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत वृत्ति ३७
3 काव्यादर्श, द्वितीय परिच्छेद, श्लोक १

शब्द तथा अर्थ दोनों को चमत्कृत करनेवाले तथा दोनों में आश्रित रहने वाले अलंकार उभयालंकार अथवा मिश्रितालंकार होते हैं।

मीराँ की अलंकार-योजना

मीराँ मूलतः भक्त थीं। भक्ति भावना की अभिव्यक्ति इनका साध्य थी भाषा साधन। इसलिए इनकी भाषा में न तो अलंकारों की कोई सुनिश्चित योजना मिलती है और न इस योजना के प्रति वे सजग थीं। अपने भावों के आवेश में आकर व तो बस फूट पड़ती थीं। जिस प्रकार महती भावनाओं का वर्णन से निसर्ग सम्बन्ध है उसी प्रकार महती अभिव्यक्ति का अलंकारों से स्वाभाविक गठबन्धन है अर्थात् महान् भावों की अभिव्यक्ति में अलंकार स्वतः ही आ जाते हैं। उदाहरण के लिए कबीर को लिया जा सकता है। कबीर उन व्यक्तियों में से थे जिन्होंने 'मसि कागद' को कभी छुआ तक नहीं था फिर काव्यशास्त्र का क्या होगा जो और भी शिक्षा तथा अध्ययन की अपेक्षा रखता है। इस पर कबीर की भाषा में जो व्यंजकता प्रभावोत्पादकता और सबलता मिलती है वह अन्य कवियों की भाषा में कम ही देखने में आती है। वेदान्तशास्त्र जिस परब्रह्म के स्वरूप का निरूपण 'नेति-नेति' कहकर निरूपित करते हैं उसे ही कबीर बड़े विश्वास के साथ व्यक्त करते हैं। यही कारण है कि उन्हें 'भाषा का डिक्टेटर' कहा गया है और उनके लिए यह उपाधि अनुचित भी नहीं है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि महती भावनाओं की अभिव्यक्ति में अलंकार-योजना स्वतः आ जाती है कवि को इसके लिए बिल्कुल भी प्रयास नहीं करना पड़ता।

यही बात मीराँ के विषय में भी कही जा सकती है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि कबीर की भाँति इन्होंने 'मसि कागद' छुआ नहीं था पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अलंकारशास्त्र का न तो इनको ज्ञान ही था और न इन्होंने अलंकारों का प्रयोग जान-बूझकर किया था। मीराँ के काव्य में प्रायः तीनों प्रकार के अलंकार—शब्दालंकार अर्थालंकार, उभयालंकार—मिल जाते हैं किन्तु प्रधानता अर्थालंकारों की ही है क्योंकि मीराँ में भावों का गाम्भीर्य है कल्पना की उड़ान नहीं।

शब्दालंकार

शब्दालंकार में चमत्कार शब्द पर आश्रित होता है। यदि उस शब्द के स्थान पर, जो चमत्कार का जनक है, दूसरा शब्द रख दिया जाय तो वह चमत्कार नष्ट हो जाता है। शब्दालंकार में वाग्वैचित्र्य की प्रधानता रहती है भावों की नहीं किन्तु जो शब्दालंकार भावों के सहज प्रवाह में स्वतः आ जाते हैं उनमें भावों को व्यक्त करने की भी शक्ति होती है। मीरां में शब्दालंकारों का प्रयोग स्वाभाविक ढंग से हुआ है। इनके पदों में पाये जानेवाले प्रमुख शब्दालंकार हैं—अनुप्रास और वीप्सा।

१ अनुप्रास—जहाँ व्यंजनों की समता होती है वहाँ पर अनुप्रास अलंकार होता है।

मीरां में इस शब्दालंकार का प्रयोग प्रचुरता से हुआ है। कुछ उदाहरण देखिए—

'मोर मुकट माथ्यां तिलक बिराज्यां कुण्डल अलकां कारी जी।'
+ + +
'अधर मधुर धर बंसी बजावां, रीझ रिझावां ब्रजनारी जी।'
+ + +
'समरथ सरण तुम्हारी सइयां सरब सुधारण काज।
+ + +
'बावल बैद बुलाइया री म्हारी बांह दिखाय।'
+ + +
'सूनो गांव देस सब सूनो, सूनी सेज अटारी।
+ + +
'जोगन जावन मतो नहिं लागी पिया कारण भई चेलो।

२ वीप्सा—जहाँ आदर, घृणा आदि किसी आकस्मिक भाव को प्रभावित करने के लिए शब्दों की आवृत्ति की जाए, वहाँ वीप्सा अलंकार होता है।

मीरां के पदों में इस अलंकार का भी काफी प्रयोग हुआ है। यथा—

'हे मा बड़ी बड़ी अँखियन वारो सांवरो मो तन हेरत हँसिके।
+ + +

'जोगी मत जा मत जा मत जा पाँइ पड़ूँ मैं तेरी चेरी हो।'

\+ + +

'प्रेम भगति को पैड़ो न्यारो हमकूँ गैल बता जा।'

\+ + +

'राम नाम रस पीजै मनुआँ राम नाम रस पीजै।

अर्थालंकार

मीराँ भावों की कवयित्री हैं इसलिए इनके पदों में भावों का प्रवाह सागर हिलोरें लेता हुआ परिलक्षित होता है। यही कारण है कि इनके काव्य में अनेक अर्थालंकारों का प्रयोग हुआ है जिनमें प्रमुख हैं—रूपक उपमा उत्प्रेक्षा अत्युक्ति उदाहरण अर्थान्तरन्यास आदि।

१ रूपक—जहाँ उपमेय में उपमान का निषेध-रहित आरोप हो वहाँ रूपक अलंकार होता है।

मीराँ को यह अलंकार, ऐसा जान पड़ता है कि सर्वाधिक प्रिय था क्योंकि अन्य अर्थालंकारों की अपेक्षा इस अलंकार का प्रयोग अधिकता से हुआ है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

'अँसुवाँ जल सींच सींच प्रेम बेलि बूयाँ।

\+ + +

'भो सागर अपार देख्याँ अगम औघो धार।
लाल गिरधर तरण तारण बेग करस्यो पार।।'

\+ + +

'यो संसार चहर री बाजी साँझ पड़याँ उठ जासी।'
'स्याम म्हाँ बाँहड़ियाँ जी गह्याँ।
भो सागर मझधाराँ बूड्याँ, थारी सरण लह्याँ।।'

\+ + +

'बिरह भवंगम डस्याँ कलेजा माँ लहर हलाहल जागी।'
मीराँ व्याकुल अति अकुलाणी स्याम उमंगा लागी।।

२ उपमा—दो पदार्थों के उपमान-उपमेय भाव से समान धर्म के कथन करने को उपमा अलंकार कहते हैं।

मीरॉ-काव्य में इस अलंकार का भी काफी प्रयोग मिलता है। यथा—

'ज्यूं चातक घनकूं रटै मछरी ज्यूं पाणी हो।
मीरां व्याकुल बिरहिणी सुध बुध बिसराणी हो॥
× × ×
पात ज्यूं पीरी परी अरु विपत तन छाई।
दास मीरां लाल गिरधर, मिल्या सुख छाई॥
'रात दिवस कल नाहिं परत है जैसे मीन बिन पानी।
दरस बिना मोहि कछु न सुहावे तलफ तलफ मर जासी॥'
× × ×
'ज्यूं डूंगर का वाहला रे, यूं ओछा तणा सनेह।
वहता वहीमी उतावला रे वे तो सटक बतावे छेह॥

३ उत्प्रेक्षा—जहाँ प्रस्तुत की—उपमेय की अप्रस्तुत रूप में—उपमान रूप में तुलना की जाय वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।

मीरों के अनेक पदों में यह अलंकार पाया जाता है। यथा—

'कुण्डल झलकां कपोल अलकां लहराई।
मीरा तज सरवर ज्यों मकर मिलन धाई॥
× × ×
'थाली सॉवरो की दृष्टि मानू प्रेम री कटारी है।

४ अत्युक्ति—जहाँ कोई कथन वास्तविकता से अधिक अर्थात् अत्यधिक कल्पना का संयोग करके किया जाये वहाँ अत्युक्ति अलंकार होता है।

मीरॉ में भावों की सरलता तथा स्वाभाविकता थी इसलिए इस अलंकार का प्रयोग मीरॉ-काव्य में कम ही पाया जाता है और जो मिलता भी है वह एक प्रकार से परम्परा का ही पालन दृष्टिगोचर होता है। यथा—

'बिरहा दुख भारी।
देस विदेसा सन्देसा जावों म्हारो अन्देशा भारी।
गणतां गणतां घिस गयां रेखां अंगरियां री सारी॥'

५. उदाहरण—जहाँ उपमेय और उपमान सम्बन्धी दो भिन्न वाक्यों में साधारण धर्म भिन्न होने पर भी वाचक शब्द द्वारा समता दिखाई जाय वहाँ उदाहरण अलंकार होता है।

मीरां-काव्य में यह अलंकार भी मिलता है। यथा—

'तुम बिच हम बिच अन्तर नाहिं, जैसे सूरज घामा।'

× × ×

'बढ्या हिवड़ा दिल घट्या पल पल जात घा कहु बार।
बिरहरा जी पाल टूट्या, लाया था छिन डार॥

× × ×

'कनक कटोरां इमित भरयां पीवतां कूण तट्या री।
मीरां रे प्रभु हरि अबिनासी तन मन स्याम पट्या री॥

५ अर्थान्तरन्यास—जहां विशेष से सामान्य का या सामान्य से विशेष का साधर्म्य या वैधर्म्य द्वारा समर्थन किया जाय वहां अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

मीरां-काव्य का उदाहरण देखिए—

'हेरी म्हां दरदे दिवाणी म्हारा दरद न जाण्यां कोय।
घायल री गत घायल जाण्या हिवड़ो अगण सजोय।
जौहर की गत जौहरी जाणै क्या जाण्यां जिण खोय॥

उभयालंकार

उभयालंकार में शब्दगत अथवा अर्थगत दोनों प्रकार के अलंकारों का योग होता है।

मीरां के काव्य में उभयालंकारों का प्रयोग भी मिलता है। जैसे—

'रमैया बिन नींद न आवे।
नींद न आवे विरह सतावे प्रेम की आंच हलावे।
बिन पिया जोति मंदिर अंधियारो दीपक दाय न आवे।
पिया बिन मेरी सेज अलूनी जागत रैन बिहावे॥

इस पद में अनुप्रास शब्दालंकार और विनोक्ति तथा दृष्टान्त अर्थालंकार का संयोग है।

सारांश

मीरां की अलंकार-योजना को देखकर यह सहज रूप से कहा जा सकता है कि यह योजना अर्थो का उत्कर्ष बढ़ाने में सहायक हुई है, उनका अपकर्ष करने में नहीं। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि जिस प्रकार सहज आभूषण शरीर

की शोभा को द्विगुणित कर देते हैं उसी प्रकार सहज चमत्कार-प्रयोग भावोत्कर्ष में सहायक होता है। मीराँ की चमत्कार-योजना-भावों के प्रबोध प्रवाह में स्वत ही प्रवाहित होकर आविर्भूत हुई है इसके लिए कवयित्री को श्रम नहीं करना पड़ा। पं॰ परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में—

'मीराँबाई की कविता विशेषत: भावमयी होने के कारण उनके काव्यत्व की प्रचुर मात्रा हमें वस्तुत: अपन रसोद्भावना अथवा हृदयग्राही वर्णनों के अन्तर्गत मिल सकती है। फिर भी पदावली का मुख्य विषय एक परोक्ष वस्तु अर्थात् 'हरि अविनासी' प्रियतम होने से उसके साथ प्रेम एवं सम्बन्ध को भावोत्तजना द्वारा स्पष्ट करने के लिए, सादृश्य योजना का आश्रय भी लेना ही पड़ा है। फलस्वरूप उनमें यत्र-तत्र कुछ अलंकारों का विधान भी स्वभावत: हो गया है।[1]

---

१ मीराँबाई की पदावली, पृष्ठ ५४

मीराँ की छन्द-योजना

छन्द और काव्य का आदिकाल से ही सम्बन्ध है। जिस प्रकार काव्य के आविर्भाव के विषय में यह कहा जाता है कि आदिमानव के कंठ से भावातिरेक के कारण कोई स्वर निकला होगा तो वह कविता ही होगी उसी प्रकार छन्द के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि इसका जन्म भी निश्चय ही इसी परिस्थिति में हुआ होगा अर्थात् जब आदिमानव के कंठ से कविता फूटी होगी तो उसका रूप छन्दोबद्ध ही होगा। इस अनुमान से यह तो पता चल जाता है कि छन्द का जन्म बहुत पहले हुआ किन्तु कब हुआ ? इस प्रश्न का कोई निश्चित कालबद्ध उत्तर नहीं दिया जा सकता। वैसे प्रणव या उद्गीथ को ही छन्द-सृष्टि का आदिरूप माना जाता है।[1]

छन्द का स्वरूप

सामान्यतः ध्वनि-समूह को छन्द कहा जा सकता है। इस आधार पर तो पशु-पक्षियों की बोलियाँ पवन का सरसर मेघ-गर्जन निर्झर प्रवाह आदि ध्वनि-समूह होने के कारण छन्द के अन्तर्गत समाविष्ट होने चाहिएँ, किन्तु इन्हें छन्द में सम्मिलित नहीं किया जाता। इसका कारण यह है कि छन्द के अन्तर्गत केवल मनुष्य की उच्चरित ध्वनियों को लिया जाता है। इसीलिए छन्द की परिभाषा इन शब्दों में की जा सकती है—

छन्द मानवोच्चरित वह ध्वनि है जो प्रयत्नकृत निरन्तर तरंग भंगिमा से आह्लाद के साथ भाव और अर्थ की अभिव्यंजना कर सके।

आज छन्दों के महत्व को अस्वीकार कर दिया गया है इसे 'रूढ़ पाश' समझकर छोड़ दिया गया है किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि काव्य में छन्द की कोई उपयोगिता नहीं होती। यह तो परिस्थितियों का प्रभाव है जो छन्द को केवल नाम लिया गया है अन्यथा प्राचीन काल में छन्दों के महत्व का भारी-भरकम शब्दों में प्रतिपादन किया गया है।

---

1 रघुवंश प्रथम सर्ग श्लोक ११

वैदिक युग में छन्द देवताओं को प्रसन्न करने के साधन थे अतः इनकी महत्ता भी दैवी तथा अलौकिक मान ली गई थी। उस युग के आर्यों का यह विश्वास था कि छन्द के द्वारा सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। छन्द विघ्न की भीतियों से मुक्त करनेवाला और अमरता प्रदान करने वाला होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में छन्द-महत्ता पर एक कथा का उल्लेख किया गया है। कथा इस प्रकार है कि एक बार मृत्यु ने देवताओं पर आक्रमण किया। देवताओं ने मृत्यु के भय से बचने के लिए त्रयीविद्या (वेद-विद्या) में प्रवेश किया। उन्होंने स्वयं को मन्त्रों से पद्यात्मक छन्दों से ढक लिया। अतः आच्छादन का हेतु होने के कारण मन्त्रों का नाम छन्द पड़ गया।[1]

इस कथा को अयुक्तिपूर्ण कहा जा सकता है और आज का तार्किक मानव इसके प्रति अपना अविश्वास भी प्रकट कर सकता है किन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्राचीन भारतीय विचारधारा अध्यात्मोन्मुखी थी। इसीलिए प्रत्येक मत को अध्यात्म से सम्बद्ध करने की यहाँ परम्परा रही है। शतपथ ब्राह्मण में भी बताया गया है कि छन्दों का आश्रय लेकर देवताओं ने स्वर्गलोक को प्राप्त किया था—

'छन्दोभिर्हि देवाः स्वर्गलोकं समाश्नुवते।'[2]

यही कारण है कि हमारे प्राचीन साहित्य में छन्दों का विवेचन करते समय यह भी बता दिया गया है कि अमुक छन्द का पाठ करने से अमुक फल की प्राप्ति होती है। यथा—

१ अनुष्टुप् छन्द से स्वर्ग की प्राप्ति होती है—

अनुष्टुभं स्वर्गकामः कुर्वीत।[3]

२ बृहती में ही स्वर्गलोक प्रतिष्ठित है अतः इससे भी स्वर्गप्राप्ति की प्राप्ति होती है—

'षट्त्रिंशदक्षरा बृहती बृहत्यामिमे स्वर्गलोकः प्रतिष्ठितस्तद्यदेता बृहत्यभ्युपगता स्वर्गं लोकं प्रतिष्ठति।'[4]

---

1 छान्दोग्योपनिषद् गीता प्रेस संस्करण ?
2. शतपथ ब्राह्मण ३ ३ ४ १२
3 शतपथ ब्राह्मण नं— ५
4 शतपथ ब्राह्मण ११ ५ ४-२८

पाश्चात्य आचार्यों ने भी छन्द की महत्ता को स्वीकार किया है। एबर क्राम्बी का मत है कि छन्द के द्वारा कवि के मन में उठे हुए रचनाकालीन संवेग और संवेदन का अनुभव प्रत्यक्ष और पूर्णरूप में मूर्तिमान होता है—

Conection or intepnal expression the private expression of the inspiration in the poets own mind by the completion of the imaginative process into a stable, isolated and self contained

ब्रेडले के अनुसार छन्द की व्यंजना-शक्ति गद्य की अपेक्षा अधिक होती है—

The poet is seeking to express and vese patren gives him a range of expression beyond that of prose The poet tels its something, which he can not tell us in prose [1]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह ज्ञात होता है कि काव्य में छन्द-योजना का बहुत ही महत्त्व है। छन्द काव्य का बंधन अथवा 'रसघात पाश' कहना उचित नहीं है। आज भी गद्य के रूप में छन्दों का प्रयोग हो ही रहा है क्योंकि लय का कारण छन्द ही होता है।

इसी प्रसंग में एक प्रश्न का उत्तर दे देना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रश्न यह है—छन्द और रस का परस्पर क्या सम्बन्ध है? इसका उत्तर है कि छन्द और रस का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है तभी तो आचार्यों ने विभिन्न रसों में छन्दों की अनुकूलता का विधान किया है अर्थात् किस रस में क्या छन्द होना चाहिए, इसका संस्कृत-काव्यशास्त्र में विस्तार से विवेचन हुआ है। जैसे—शृंगार रस के लिए रथोद्धता उपेन्द्रवज्रा उपजाति वसन्ततिलका आदि छन्द अनुकूल होते हैं और करुण रस के लिए मन्दाक्रान्ता द्रुतविलम्बित भुजंग प्रयात आदि। इसी प्रकार अन्य रसों के लिए भी विभिन्न छन्दों का विधान किया गया है। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी इस प्रकार का विधान है किन्तु जो गाम्भीर्य भारतीय आचार्यों के विवेचन में है, वह पाश्चात्य आचार्यों के विवेचन में नहीं है।

---

[1] Principles of English Prosody Part I Page 15

मीराँ की छन्द-योजना

मीराँ के नाम से जितने भी पद मिलते हैं वे प्राय: पिंगलशास्त्र की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इसका यह कारण नहीं कि मीराँ को पिंगल का ज्ञान नहीं था बल्कि यह है कि इनके पद प्राय: श्रुति के आधार पर जीवित रहे हैं अत: यह त्रुटि निश्चय ही मीराँ भक्तों की अल्पज्ञता के कारण हुई है। मीराँ के काव्यों में अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है जिसमें प्रमुख हैं—सार छंद सरसी छन्द विष्णु पद ध्रुव दोहा छन्द समान सवैया शोभन छंद ताटंक छन्द कुण्डल छन्द आदि। अत: नीचे की पंक्तियों में इन्हीं छन्दों का लक्षण दिया जायेगा और साथ ही मीराँ-काव्य से उदाहरण दिया जायगा।

१ सार-छन्द—यह मात्रिक छन्द है जिसमें १६ और १२ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं। इसके अंत में दो गुरु आते हैं किन्तु किसी-किसीमें उनकी जगह केवल एक अथवा तीन गुरु भी आते हैं। इसकी रचना मुख्यत: १६ मात्राओं तक चौपाई के तुल्य होती है। पिछले १२ मात्राओं में ३ चौकल अथवा २ त्रिकल १ चौकल और १ गुरु आता है। यह छन्द मीराँ का प्रिय छन्द जान पड़ता है तभी तो अन्य छन्दों की अपेक्षा इस छंद का अधिक प्रयोग हुआ है। यथा—

'मतवारो बादल आए रे हरि को सनेसो कबहु न लाये रे।।
दादर मोर पपइया बोलै कोयल सबद सुणावे रे।
(इक) कारी अंधियारी बिजली चमकै बिरहणि अति डरपावे रे।।
(इक) गाजै बाजै पवन मधुरिया मेहा अति झड़ लावे रे।
(इक) कारो नाग बिरह अति जारी, मीराँ हरि भावे रे।।

किन्तु यह छंद प्रयोग पूर्णत: निर्दोष नहीं है क्योंकि इसमें 'र' शब्द का प्रयोग मात्राओं को बढ़ा रहा है।

२ सरसी छन्द—सार छंद की भाँति मीराँ ने इस छन्द का प्रयोग भी अधिकता से किया है। यह छंद भी मात्रिक होता है। इसमें १६ और ११ के विराम से २७ मात्राएँ होती हैं अन्त में गुरु और लघु का विधान होता है तथा इसका दूसरा दल दोहे के सम चरणों के समान होता है। मीराँ का यह छन्द प्रयोग भी निर्दोष नहीं है। यथा—

'प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे, मने लागी कटारी प्रेमनी ।
जल जमुनामां भरवा गयांतां हती गागर माथे हेमनी रे ।
काचे ते तातणे हरिजीए बाँधी जेम खेंचे तेम तेमनी रे ।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर, शामली सुरत शुभ एमनी रे ॥'

३ विष्णुपद छन्द—इस छन्द में १६ और १० के विराम से २६ मात्राएँ होती हैं और अन्त में गुरु तथा लघु का विधान होता है । मीरां के पदों में सनेवाला यह छन्द भी सही नहीं है । यथा—

'म्हारो मण साँवरो श्याम रट्या री ।
साँवरो श्याम थारो जग प्रारणी कोटयाँ पाप कट्या री ।
जनम जनम री खता पुराणी श्याम स्याम मट्या री ॥
कणक कटोरा इम्रत भरयां, पीवतां कुण नट्या री ।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी तण मण स्याम पट्या री ॥'

इस छन्द में 'री' शब्द का प्रयोग अधिक है ।

४ दोहा छन्द—इस छन्द के चरण विषम होते हैं और विषम चरणों १२ मात्राएँ तथा सम चरणों में ११ मात्राएँ होती हैं । अन्त में लघु होता है। प्रथम एवं तीसरे चरणों के आदि जगण (ISI) नहीं होना चाहिए । मीरां-व्य में इस छन्द का भी वैज्ञानिक प्रयोग नहीं मिलता मात्राओं की न्यूनता अधिकता इस पद में भी पाई जाती है । यथा—

'पपइया रे पिव की वाणी न बोल ।
सुणि पावेली बिरहणि रे थारो रालेली पाँख मरोड़ ।

इन पंक्तियों में 'रे' का प्रयोग मात्राओं में वृद्धि करता है जिसमें छंद की मानिकता गौण हो जाती है ।

कहीं-कहीं इस छंद के साथ अन्य छंदों का भी सम्मिश्रण मिलता है । यथा—

'थें घर लागो लागा री पुरबला पुन्न जगावा री ।
म्हारो थारो काम रण म्हारो रावलां कुण जावा री ॥
गंगा जमरण काम रण म्हारे म्हाँ जावाँ दरियावाँ री ।
हेल्या मेल्या काम णा म्हारे, बैठ्या मिल दरबारां री ॥'

इस छन्द में दोहा छन्द के साथ सार छन्द का मिश्रण है। और—

'हरि बिन क्यूं जिवां री माय।
स्याम बिना बौरी भयां मण काठ ज्यूं घुण खाय॥
मूल ओखद णा लग्यां म्हाणे प्रेम पीड़ा खाय।
मीण जल बिछुड्यां णा जीवां तलफ मर मर जाय॥
ढूंढ्यां बण स्याम डोलां, मुरलिया धुण पाय।
मीरां रे प्रभु लाल गिरधर बेग मिलस्यो आय॥

इस पद में 'दोहा तथा तोमर' छन्द का सम्मिश्रण है।

५ समान सवैया—इस छन्द में १६ १६ मात्राओं के विराम से ३२ मात्राएँ होती हैं और इसके अन्त में भगण (ऽ।।) होता है। यह चौपाई छन्द का दूना होता है। मीरां-काव्य से इसका उदाहरण प्रस्तुत है—

'डारि गयो मनमोहन पासी।
आंबां की डालि कोइल इक बोलै मेरो मरण अरु जग केरी हांसी॥
बिरह की मारी मैं बन-बन डोलूं प्राण तजूं करवत ल्यूं कासी।
मीरां रे प्रभु हरि अविनासी तुम मेरे ठाकुर मैं तेरी दासी॥

इस पद में अन्त में मगण (ऽऽऽ) का प्रयोग है जो अशुद्ध है। इसके स्थान पर भगण (ऽ।।) होना चाहिए था।

६ तोमर छन्द—इस छन्द का विधान यह है कि इसमें १४ एवं १० मात्राओं के विराम से २४ मात्राएँ होनी चाहिए और अन्त में जगण (।ऽ।) होना चाहिए। मीरां के काव्य में इस छन्द का भी शुद्ध प्रयोग नहीं मिलता बल्कि सम्मिश्रित रूप मिलता है। जैसे—

'जोगिया जी आज्यो जी इण देस।
नैणज देखूं नाथ न ध्याइ करूं आदेस॥
आया सावण भादवा भरिया जल थल ताल।
रावल कुण बिलमाइ राख्यो बिरहणि है बेहाल॥
बरसां बी हो दिन भया पल पल बरस्यां पलक न जाइ।
एक बेरी देह फेरो नगर हमारे आइ॥

या मूरति म्हारे मन बसे छिन भरि रह्यौ न जाइ ।
मीराँ रे कोई नाहीं दूजो दरसण दीज्यो आइ ॥'

इस पद में शोभन तथा सरसी छन्द का मिश्रण है और—

'माई मेरो मोहन मन हर्यो ।
कहा करू कित जाऊँ सजनी प्रान पुरुष सूँ बर्यो ॥
हूँ जल भरने जात थी सजनी कलस माथे धर्यो ।
साँवरी सी किसोर मूरत कछुक टोनो कर्यो ॥
लोक लाज बिसारि डारी तब ही कारज सर्यो ।
दासी मीराँ लाल गिरधर छाम पे बर बर्यो ॥

इस पद में शोभन एवं रूपमाला दोनों ही छन्दों का एक साथ प्रयोग हुआ है ।

७ ताटंक छन्द—इस मात्रिक छन्द में ३० मात्राएं होती हैं और १६ एवं १४ मात्राओं पर विराम होता है । इसके अन्त में प्राय मगण (ऽऽऽ) होता है, किन्तु कहीं-कहीं केवल एक गुरु का प्रयोग भी देखा जाता है । मीराँ-काव्य में एक गुरु का ही प्रयोग मिलता है । यथा—

'रंग भरी राग भरी रागसूं भरी री ।
होली खेल्या स्याम संग रंग सूं भरी री ॥
उड़त गुलाल लाल बादला रो रंग लाल
पिचकाँ उड़ायाँ रंग-रंग री झरी री ।
चोवा चन्दण अरगजा म्हा केसर णो गागर भरी री ।
मीराँ दासी गिरधर नागर, चेरी चरण धरी री ॥

८ कुण्डल छन्द—इस मात्रिक छन्द में १२ और १० के विराम से २२ मात्राएँ होती हैं और अन्त में दो गुरु होते हैं । मीराँ ने कहीं-कहीं इस छन्द का भी अशुद्ध प्रयोग किया है । यथा—

'माई साँवरे रंग राँची ।
साज सिंगार बाँध पग घूंघर लोक लाज तज नाँची ।
गयां कुमत लयां साधां संगत स्याम प्रीत जग साँची ॥
गायां हरि गुण निसदिन काल ब्याल री बाँची ।

स्याम बिना जग खारो लागाँ, जगरी बाताँ काँची ।
मीराँ सिरि गिरधर नट नागर, भगति रसीली बाँची ॥

मात्रिक छन्दों के अतिरिक्त मीराँ-काव्य में वर्णिक छन्द भी मिलते हैं। जैसे मनहर और कवित्त आदि, किन्तु प्रधानता मात्रिक छन्दों की ही है।

सारांश

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि मीराँ की छन्द-योजना गेय होने पर भी शुद्ध नहीं है। उसमें यत्र-तत्र अनेक दोषों का दर्शन होता है। यह कहना कठिन है कि ये दोष मूलतः मीराँ के हैं अथवा इनके भक्तों की कृपा है जिन्होंने इनके पदों को इतने प्रेम और तल्लीनता के साथ गाया कि वे छन्द-नियमों की ओर कोई ध्यान ही नहीं दे सके। मीराँ-काव्य की भावमयता को देखकर इनकी ये छन्द-विषयक त्रुटियाँ नगण्य ही हैं। डॉ॰ रामकुमार वर्मा के शब्दों में—

'मीराँबाई के पदों में छन्दों का कम ध्यान है। मात्राएँ भी कहीं घटी-बढ़ी हैं पर राग-रागनियों में रचना का रूप रहने के कारण गान की लय मात्रा की विषमता को ठीक कर लेती है। मीराँ में छन्दशास्त्र न देखकर उनकी परा भक्ति-भावना की ओर ध्यान देना चाहिए, जिसने उन्हें कृष्ण-काव्य के कवियों में महत्वपूर्ण स्थान दे दिया है।'[1]

---

1 हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (चतुर्थ संस्करण) पृष्ठ २८८



मीराँ की भाषा

मीराँ-काव्य में इतने अधिक प्रक्षिप्तांश जुड़ गये हैं कि मीराँ से सम्बन्धित किसी भी पहलू पर निश्चयात्मक शब्दों में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यही समस्या मीराँ की भाषा के विषय में भी है। मीराँ के पद अनेक भारतीय भाषाओं में प्राप्त होते हैं जिनमें से मुख्य हैं—राजस्थानी ब्रज और गुजराती कुछ पद पंजाबी भाषा में भी मिलते हैं। यथा—

राजस्थानी भाषा का प्रयोग

'मुज अबला ने मोटी नीरांत थई रे
छामळो घरेणुं मारे साचुं रे ॥
वाळी घडावुं विट्ठल वर केरी हार हरी नो मारे हैये रे।
चित्त माळा चतुरभुज चूडलो सिद शोनी घरे जइये रे ॥
झांझरिया जग जीवन केरा कृष्ण जी कडला ने कांबी रे।
वींछिया घूघरा रामनारायण ना अणवट अन्तरजामी रे ॥

ब्रज-भाषा का प्रयोग

'यहि विधि भक्ति कैसे होय।
मन की मैल हियतें न छूटी दियो तिलक सिर धोय।
काम कूकर लोभ डोरी बाँधि मोहि चण्डाल।
क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिलै गोपाल ॥
बिलार विषया लालची रे ताहि भोजन देत।
दीन हीन ह्वै छुधा रत से राम नाम न लेत ॥

गुजराती भाषा का प्रयोग

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे मने लागी कटारी प्रेमनी।
जल जमुनामां भरवां गयाँतां हती गागर माथे हेमनी रे।

काचे तें तातचे हरिजीए बांधी जेम कांचे तेम तेपनी रे ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर शामली सूरत शुभ एमनी रे ॥

पंजाबी भाषा का प्रयोग

'लागी सोही जाणे कठण लगण दी पीर ।
विपत पड़्यां कोई निकट न आवे सुख में सबको सीर ॥
बाहरि घाव कछू नहिं दीसे रोम रोम दी पीर ।
जन मीरां गिरधर के ऊपर, सदकै करूं सरीर ॥

उपयुक्त उद्धरणों से यह निश्चित निष्कर्ष निकालना सहज नहीं है कि ये सब पद मीरां के हैं अथवा मीरां के नहीं हैं। इन दो प्रश्नों के दो उत्तर दिये जा सकते हैं। एक उत्तर तो यह है कि ये पद प्रक्षिप्त भी हो सकते हैं और दूसरा यह है कि ये सब मीरां के ही पद हैं क्योंकि मीरां के जीवनवृत्त से ज्ञात होता है कि वे कुछ दिनों तक गुजरात में रही थीं। ब्रज में उन्होंने पांच-छः वर्ष व्यतीत किये थे और राजस्थान में तो इनका जन्म ही हुआ था। सम्भवतः कुछ काल तक वे पंजाब में भी रही हों अतः मीरां की एक निश्चित भाषा कौन सी है यह बताना तब तक कठिन है जब तक मीरां के पदों का कोई सर्वमान्य प्रामाणिक संग्रह तैयार नहीं हो जाता। मीरां की भाषा के अध्ययन को इन वर्गों के अन्तर्गत रक्खा जा सकता है—

१ भाषा की प्रवाहात्मकता
२ भाषा की भाव-प्रवणता
३ भाषा की संगीतात्मकता
४ अलंकार-प्रयोग
५ छन्द प्रयोग
६ मुहावरों का प्रयोग

प्रवाहात्मकता

प्रवाह भाषा का प्रमुख गुण माना जाता है। जिस भाषा में प्रवाह का अभाव होता है, उसकी भावात्मकता प्रायः कुण्ठित हो जाती है। प्रवाह और भावों का अटूट सम्बन्ध है। मीरां को संगीत का काफी ज्ञान था इसलिए इन्होंने शब्दों का चयन संगीतमयी लय को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए किया।

यही कारण है कि इनकी भाषा में स्वाभाविक प्रवाह की धाराएँ सहज तरंगित हैं। उदाहरणार्थ यह पद देखिए—

> साँवलिया म्हारो छाय रह्याँ परदेस।
> म्हारा बिछड़्या फेर न मिलया भेज्या णा एक सन्देस।
> रतन आभरण भूखण छाड़्या और किस्याँ सिर केस।।
> भगवाँ भेख धर्याँ थें कारण ढूंढ्याँ चार्‍याँ देस।
> मीराँ रे प्रभु स्याम मिलण बिण जीवनि जनम अनैस।।

इस पद में सर्वों में जो विरह आई है वह प्रवाह को तीव्रतर करने वाली है।

भाव-प्रवणता

मीराँ-काव्य भावों का तो अपार अम्बुनिधि है। इसका कारण यह है कि मीराँ मूलतः भक्त थी—प्रेम-पीर से दिवानी। काव्य इनका साधन था साध्य नहीं। इसीलिए इसके प्रत्येक शब्द से इनका सरस सदय और भाव भरा हृदय झाँकता है। यथा—

> हेरी म्हाँ दरदे दिवाणी म्हाँरा दरद न जाण्याँ कोय।
> घायल की गत घायल जाण्याँ हिवड़ो अगण सँजोय।
> जौहर की गत जौहरी जाणै, क्या जाण्याँ जिण खोय।।
> दरद की मार्‍याँ दर दर डोल्याँ बैद मिल्या नहिं कोय।
> मीराँ री प्रभु पीर मिटाँगाँ जब बैद साँवरो होय।।

इन पंक्तियों में निहित असीम भाव को वही सहृदय समझ सकता है जिसके पैरों में बिवाई फटी हो। प्रेम-विह्वल हृदय के भावों की साकारता इससे अतिरिक्त और हो भी क्या सकती है? अपनी भाव-प्रवणता के कारण मीराँ का स्थान भक्तिकालीन कवियों में मूर्धन्य है। डॉ० श्रीकृष्णलाल का तो यहाँ तक कहना है—

'ब्रजभाषा तथा ब्रज-मिश्रित राजस्थानी भाषा में विरचित मीराँ के पदों में भाषा का आडम्बर तनिक भी नहीं है। जायसी कबीर तथा अन्य सन्त कवियों की भाँति मीराँबाई भी परिष्कृत तथा पूर्ण साहित्यिक भाषा नहीं लिख सकती थी ऐसी बात नहीं है, वरन् इसके विपरीत कुछ पदों में मीराँ ने ऐसी परिष्कृत

तथा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा का प्रयोग किया है जो पिछले वर्ग के कवियों के लिए आदर्श मानी जा सकती है।[1]

संगीतात्मकता

संगीतात्मकता मीरां की भाषा की प्रमुखतम विशेषता है। संगीत को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए मीरां को कहीं तो शब्दों का लोचयुक्त प्रयोग करना पड़ा है और कहीं शब्दों के संयुक्त रूप को भग्न करना पड़ा है, कहीं शब्दों को विकृत करना पड़ा है और कहीं एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग करना पड़ा है। यथा—

१ शब्दों का लोचयुक्त प्रयोग—

मुरली से मुरलिया या मुरड़िया।
गोविन्द से गोविन्दा।
घुंघरू से घु घरूमाँ।
हरिश्चन्द्र से हरचन्दा।
पपीहा से पपया पपइया।

२ संयुक्त शब्दों का असंयोगीकरण या असंयोजित प्रयोग—

अमृत से इमरत।
मास से मारस।
प्रभात से परभात।
कीर्ति से कीरत।
कृपानिधान से किरपानिधान।
मृत्यु से मिरत।
प्रतिमा से परतिम्या या परतम्या।
श्री से सिरी।
हृदय से हिरदै।

३ शब्दों का विकृत प्रयोग—

स्नेह से नेहड़ा
हृदय से हिवड़ो

---

1 मीरांबाई, पृष्ठ ११८

बाहु से बाँहड़ियाँ
बीच से बीचड़ा
ज्योतिषी से जोसीड़ा
निद्रा से नींदड़ी
कृष्ण से कान्हड़ो

४ एक शब्द के स्थान पर दूसरे शब्द का प्रयोग—

र और ल के स्थान पर ड़ जैसे नेहरा से नेहड़ा बादल से बादड़।

स के स्थान पर ह जैसे तरसावा से तरस्यावाँ।

री हेरी रे आदि शब्दों का प्रयोग भी संगीतात्मकता में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। यथा—

म्हाँ री गिरधर गोपाल दूसराँ णा कूर्याँ।
+ + + +
हेरी म्हाँ दरदे दिवाणी म्हाँरा दरद न जाण्याँ कोय।

५. अनुस्वारयुक्त दीर्घ स्वरों का प्रयोग—

गिनत गिनते से गणताँ-गणताँ। रेखा से रेखाँ। माधुरी से माधुरियाँ।

व्याख्या-भाग

(मूल पाठान्तर काव्य-सौष्ठव तुलना
आदि विशेषताओं से युक्त)

मन थें परस हरि रे चरण ॥टेक॥
सुभग सीतल कँवल कोमल जगत ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रहलाद परस्यां इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल करस्यां सरण असरण सरण।
जिण चरण ब्रह्माण्ड भेट्यां नखसिखां सिरी धरण।
जिण चरण कालियां नाथ्यां गोपीलीला करण।
जिण चरण गोबरधन धार्यां गरब मघवा हरण।
दासि मीरां लाल गिरधर, अगम तारण तरण ॥१॥

शब्दार्थ—परस=स्पर्श कर, छू। हरि=श्रीकृष्ण। सुभग=सुन्दर। सीतल=शीतल दुःख-विमोचक। कँवल=कमल। ज्वाला=आग। जगत ज्वाला=संसार के त्रिविध ताप—दैहिक दैविक और भौतिक ताप। दैहिक दुःखों के दो भेद हैं—(१) शारीरिक रोग जैसे—खाँसी ज्वर आदि मानसिक रोग जैसे—क्रोध लोभ आदि। देवताओं अथवा प्राकृतिक शक्तियों के द्वारा दिये जाने वाले दुःख दैविक दुःख कहलाते हैं, जैसे—आँधी पानी भूचाल आदि। स्थावर या जंगम प्राणियों द्वारा प्रदत्त दुःख भौतिक दुःख कहलाते हैं, जैसे—सर्प-दंश हिंस्र पशुओं के आक्रमण आदि। परस्यां=स्पर्श करके छूकर। पदवी=स्थान। करस्यां=किया। असरण=असहाय शरण-रहित। नखसिखां=नखशिख तक पूर्णरूप से। सिरी=श्री शोभा। कालियां=काली नाग। नाथ्यां=वश में किया। गरब=गर्व दंभ। मघवा=इन्द्र। तारण=उबारते हैं। तरण=तरणि नौका।

अर्थ—हे मन! तू श्रीकृष्ण के चरणों का स्पर्श कर, उन्हें छू। ये चरण सुन्दर हैं दुःखों की आग से छुड़ाकर सुख की शीतलता प्रदान करनेवाले हैं कमल के समान कोमल हैं, और संसार के त्रिविध तापों—दैहिक दैविक, भौतिक—का नाश करनेवाले हैं। इन चरणों को छूकर ही भक्त प्रह्लाद को

इन्द्र के समान उच्च स्थान प्राप्त हुआ। इन चरणों ने ही ध्रुव भक्त को अटल कर दिया। ये चरण अशरण-रहित अर्थात् अनाथ प्राणियों के लिए शरण देने वाले हैं। इन चरणों ने संसार को भेंट किया अर्थात् सृष्टि का निर्माण किया और उसे पूर्णरूप से शोभा-सम्पन्न बनाया। इन चरणों ने ही काली नाग को वश में किया। ये ही चरण गोपियों के साथ रासलीला करनेवाले हैं। इन चरणों ने ही गोवर्धन पर्वत धारण करके इन्द्र के दंभ को नष्ट किया। मीराँ कहती है कि मैं तो प्रियतम कृष्ण के इन्हीं चरणों की दासी हूँ जो अगम्य भव-सागर को उतारने में नौका के समान हैं।

विशेष—१ 'में' की मुक्त ध्वनि से मन की आकुलता-व्याकुलता ध्वनित होती है।

२ 'शीतल' शब्द का प्रयोग अत्यन्त भावपूर्ण है। इस प्रयोग से एक ओर कृष्ण के चरणों की शीतलता का बोध होता है और दूसरी ओर उनके द्वारा दुःख विमोचन कर दुखी जन के मानस को शीतलता (सुख) प्रदान करने का शाश्वत गुण ज्ञात होता है।

३ चरणों का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, इसलिए 'उल्लेख अलंकार' है। कंवल-कोमल त्रिविध ज्वाला अशरण-शरण आदि में एकाधिक बार व्यंजन-क्रम होने से 'अनुप्रास अलंकार' है।

४ इस पद में अनेक अन्तर्कथाएँ हैं जो इस प्रकार हैं—

प्रह्लाद—प्रह्लाद दैत्यराज हिरण्यकशिपु का पुत्र था। हिरण्यकशिपु ने घोर तपस्या से विपुल शक्ति का संग्रह कर देवताओं को कष्ट देना आरम्भ किया। इन्द्रासन पर भी अपना अधिकार कर लिया और आनन्द और विलास का जीवन व्यतीत करने लगा। विष्णु से उसे विशेष विद्वेष था। संभवतः इसीकी प्रतिक्रिया-स्वरूप उसके पुत्र प्रह्लाद में विष्णु (कृष्ण) के प्रति भक्ति-भावना जाग्रत हुई थी। एक बार जब हिरण्यकशिपु अपने पुत्र की शिक्षा के सम्बन्ध में जानने के लिए उसके गुरु के यहाँ गया तो उसे अपने पुत्र की इस भक्ति का ज्ञान हुआ। इस पर क्रोधित होकर उसने सर्प से कटवाकर, हाथी से कुचलवा कर तथा पहाड़ से गिरवाकर उसके प्राण-हरण का प्रयास किया। एक बार उसकी आज्ञा से उसकी बहन होलिका भी अपने भ्रातृज प्रह्लाद को लेकर आग के ऊपर बैठ गई। इसी समय से हिन्दुओं के होलिकोत्सव

त्यौहार का प्रारम्भ माना जाता है किन्तु प्रह्लाद ने भगवान् के प्रति अपनी भावना में दृढ़ होने के कारण किसी प्रकार अपनी प्राण रक्षा कर ली थी। अन्त में परेशान होकर हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को उपेक्षा की दृष्टि से देखने लगा। एक बार उसने क्रोधित होकर प्रह्लाद से पूछा—'कहाँ तेरा भगवान् है जिसकी दिनभर तू रट लगाये रहता है?' प्रह्लाद ने उत्तर दिया—'सभी—जगह तो है।' उसके पिता ने कहा—'क्या इस स्तम्भ में भी है? मैं अपनी तलवार से इसके दो टुकड़े करता हूँ। देखूँ तो वह कहाँ है?' यह कहकर उसने स्तम्भ पर आघात किया और विष्णु ने नरसिंह-रूप में अवतरित होकर अपने नखों से हिरण्यकशिपु का वहीं वध कर दिया। इसके बाद कुछ स्थानों पर ऐसी कथा मिलती है कि प्रह्लाद ने अपने पिता के राजसिंहासन पर आरोहण किया तथा एक विशेष काल तक राज्य किया था। अन्त में उसे इन्द्र का स्थान प्राप्त हो गया था और उसी अवस्था में वह विष्णु (कृष्ण) में लीन हो गया था। —हिन्दी-कथाकोष

ध्रुव—विष्णु-पुराण में इन्हें (ध्रुव-को) स्वयम्भू मनु का पौत्र तथा उत्तानपाद का पुत्र कहा गया है। उत्तानपाद की दो स्त्रियाँ थीं—सुरुचि तथा सुनीति। सुनीति के गर्भ से ध्रुव तथा सुरुचि के गर्भ से उत्तम की उत्पत्ति हुई थी। महाराज उत्तानपाद सुरुचि को अधिक चाहते थे इस कारण उसके पुत्र उत्तम से भी उन्हें अधिक स्नेह था। एक बार जब उत्तम उनकी गोद में बैठा हुआ था तो ध्रुव भी जाकर उनकी गोद के एक भाग में बैठ गया। सुरुचि ने यह देख ध्रुव को अवज्ञा के साथ वहाँ से हटा दिया। ध्रुव के लिए यह अपमान असह्य हो गया और उसी समय वे घर से बाहर निकलकर एक निर्जन वन में तपस्या करने लगे। उस समय उनकी अवस्था अधिक नहीं थी फिर भी उन्होंने अपने घोर तप से भगवान् को प्रसन्न किया और यह वर प्राप्त किया कि 'तुम समस्त तारों, ग्रहों तथा नक्षत्रों के ऊपर उनके आधार स्वरूप होकर स्थित रहोगे और तुम्हारे रहने से वह स्थान ध्रुवधाम के नाम से विख्यात होगा।' घोर तपस्या के समय इन्द्र आदि देवों ने इनका ध्यान भंग करने का प्रयत्न किया था किन्तु अपने इन प्रयत्नों में सभी को असफलता मिली थी। —हिन्दी-कथाकोष

कालियो—इसे कालीनाग भी कहते हैं। गरुड़ के भय से यह नागों के निवास-स्थान रमणक द्वीप को छोड़कर सौभरि मुनि के शाप से गरुड़ से संरक्षित व्रजभूमि में एक ह्रद में आकर रहने लगा था। कहा जाता है कि उसके वहाँ रहने से वह स्थान उजाड़-सा हो गया था। एक बार कृष्ण जब छोटे थे तो खेलते-खेलते उस स्थान में पहुँचकर ह्रद में गिर पड़े थे। कालिय तथा उसके साथी अन्य नागों ने आकर उन्हें घेर लिया था। व्रजवासी गोप-गोपियाँ तथा नन्द-यशोदा यह देखकर बहुत चिन्तित हो गये थे। अन्त में कृष्ण ने उसे वश में किया था और उसके फण पर खड़े होकर नृत्य किया था। कहा जाता है कि कृष्ण के उस दिन अंकित किये हुए पद-चिह्न आज तक काले नागों में देखे जा सकते हैं। कृष्ण ने कालिय नाग को उसके बन्धु-बान्धव के साथ फिर उसके पूर्व-स्थान रमणक द्वीप में जाकर रहने की आज्ञा दी थी। गरुड़ से अपने पद चिह्न अंकित कर देने के कारण उन्होंने उसे पूर्ण अभय दान दिया था।

—हिन्दी-कथाकोष

गरब अथवा हरण—कृष्ण ने इन्द्र की उपासना बन्द करके गोकुल निवासियों को गोवर्धन की पूजा करने की सम्मति दी। सभी लोगों ने ऐसा ही किया जिससे क्रुद्ध होकर इन्द्र ने मूसलाधार वर्षा प्रारम्भ कर दी। अति वृष्टि से पीड़ित गोकुल-निवासियों के रक्षार्थ कृष्ण ने अपनी अंगुली पर गोवर्धन धारण किया।

—हिन्दी-कथाकोष

पाठान्तर—मन रे परसि हरि के चरण।

सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हे, राखि अपनी सरण॥
जिण चरण ब्रह्माण्ड प्रभु परसि लीणो, तरी गौतम घरण॥
जिण चरण काली नाग नाथ्यो, गोपलीला करण।
जिण चरण गोवरधन धार्‌यो, इन्द्र गर्व हरण।
दासी मीराँ लाल गिरधर, अगम तारण तरण॥

इसी पद की पाँचवी पंक्ति का यह पाठान्तर भी प्राप्त होता है—

जिण चरण प्रभु परसि लीन, भये जग आभरण।

सूफी पद्मावती 'शबनम' का मत है कि इस पद की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। अतः प्रत्येक पंक्ति का प्रथम शब्द 'थिरण' न होकर 'जिन' होना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। हमारा मत है कि 'जिरण' के स्थान पर 'इरण' अथवा 'इन' ही होना चाहिए, क्योंकि इन शब्दों के प्रयोग से आराध्य के प्रति अधिक सान्निध्यता व्यक्त होती है, जो मीराँ की स्वाभाविक भक्ति-भावधारा के अनुकूल है।

तुलना—चरन-कमल बंदौं हरि राइ।
जाकी कृपा पंगु गिरि-लंघै अंधे कौं सब कछु दरसाइ ॥
बहिरौ सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराइ।
सूरदास स्वामी करुनामय बार-बार बंदौं तिहि पाइ ॥—सूरदास

× ×

राणा जी! अब न रहूँगी तोरी हटकी ॥ टेक ॥
साध संग मोँहि प्यारा लागै लाज गई घूंघट की।
पीहर मेड़ता छोड़ा आपरण सुरत निरत दोऊ चटकी।
सतगुरु मुकुर दिखाया घट का नाचूंगी दे दे चुटकी।
हार सिंगार सभी ल्यो अपना चूड़ा कर की पटकी।
मेरा सुहाग अब मोकूं दरसा और न जाने घट की।
महल किला राणा मोँहि न चाहिए, सारी रेशम पट की।
हुई दिवानी मीराँ डोलै केस लटा सब छिटकी ॥ २ ॥

शब्दार्थ—हटकी=रोकी हुई। साध=साधु। सुरत-निरत=स्मरण और नृत्य सन्त-मत की प्रमुख साधना के दो अंग। मुकुर=शीशा घट=हृदय। पट=कपड़ा।

अर्थ—हे राणा! अब मैं तेरी रोकी हुई नहीं रहूँगी अर्थात् तू चाह जितना मुझे मेरी भक्ति से रोक मैं नहीं रुक सकती। मुझे साधुओं की संगति बहुत प्यारी लगती है और अब मैंने घूंघट की लाज भी छोड़ दी है। मैंने अपना पीहर मेड़ता भी छोड़ दिया है और स्मरण तथा नृत्य का मुझे चस्का लग गया है। मेरे सतगुरु ने मुझे मेरे हृदय का शीशा (दर्पण) दिखा दिया है, अर्थात् आत्मज्ञान करा दिया है। अब मैं चुटकी बजा-बजाकर—भक्ति में

आत्म-विभोर होकर—नाचूँगी। मैंने अपना हार पहनना, शृंगार करना और चूड़ा धारण करना छोड़ दिया है। मुझे अब अपना सुहाग दिखाई देने लगा है, अर्थात् मैंने अपने सुहाग की वास्तविकता जान ली है। मैं किसीके हृदय की बात नहीं जानती। हे राणा! अब न मुझे महल की आवश्यकता है, न किले की और न रेशमी वस्त्र से बनी हुई साड़ी की। मीराँ कहती है कि मैं प्रेम में दीवानी होकर घूम रही हूँ और अब केश और जटाएँ खोल ली हैं।

पाठान्तर—१ अब न रहूँगी, मन लाग्यो गिरधर से।
माणक मोती परत न पहरूँ मैं तो कब की नटकी।
गहणो म्हाँरे माला कण्ठी और चन्दण की कुटकी॥
राजपणाँ की रीत गुमाई, साधाँ रे संग भटकी।
जेठ भरू की लाज न राखी, घूँघट पट खो पटकी।
म्हाँने गुरु मिलिया अविनासी, दई ज्ञान की गुटकी।
नित प्रति उठी जाऊँ, गुरु दरसण, नाचूँ दे दे चुटकी।
लागी चोट निज नाम धणी की, म्हाँरे हिवड़े खटकी।
परम गुरू के सरणाँ जाऊँ, करूँ प्रणाम सिर पटकी।
साधाँ के संग करम खिपावो, हर सागर में रटकी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, जनम मरण से छुटकी॥

कहीं-कहीं यह पंक्ति भी मिलती है।

गुरु मिलिया रैदास जी, दीन्ही ज्ञान की गुटकी।

× ×

काहू की मैं बरजी नाहीं रहूँ ।।टेक।।
जो कोई मोहूँ एक कहै मैं एक की लाख कहूँ ।
सास की जाइ मेरी ननद हठीली यह दुःख किनसे कहूँ ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, जग उपहास सहूँ ।।१।।

शब्दार्थ—बरजी=रोकने पर भी। जाइ=पुत्री। उपहास=मजाक।

अर्थ—मैं किसीके रोकने पर भी अपने भक्ति-मार्ग से अलग नहीं हो सकती। जो मुझे एक बात कहेगा उसे मैं लाख बातें सुनाऊँगी। मेरी सास की पुत्री—जो मेरी ननद है—बहुत ही हठीली है, अतः मैं अपना दुःख किसको

सुनाऊँ। मीरों कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधरनागर हैं और उन्हीं के लिए मैं संसार का मजाक सहन कर रही हूँ—संसार की प्रताड़नाओं को सह रही हूँ।

++

रूप देख अटकी तेरो रूप देख अटकी ।।टेक।।
देह तें विदेह भई छुटि परि सिर मटकी ।
मात-पिता भ्रात बंधु, सब ही मिल हटकी ।
हिरदा तें टरत नांहि मूरति नागर नट की ।
प्रगट भयो पूरन नेह लोक जाने भटकी ।
मीराँ प्रभु गिरिधर बिन कौन लहै खटकी ।।४।।

शब्दार्थ—विदेह=देह-विहीन । छुटि परि=गिर गई । हटकी=रोकी । नागर नट=श्रीकृष्ण । भटकी=भटक गई । लहै=जाने । घट की=हृदय की ।

अर्थ—हे श्याम ! मैं तेरा रूप-सौन्दर्य देखकर अटक गई हूँ—तुम पर मोहित हो गई हूँ। तुम्हारी छवि को देखकर मैं इतनी भावविभोर हो गई हूँ कि देह होते हुए भी विदेह बन गई हूँ अर्थात् अपने शरीर की सुधि-बुधि भूल गई हूँ और मेरे सिर से दही की मटकी गिर गई। माँ-बाप भाई बन्धु सबने मिलकर ही मुझे रोका कि मैं कृष्ण से प्रेम न करूँ किन्तु मेरे हृदय में तो कृष्ण की मूर्ति इस तरह समा गई है कि टाले से नहीं टलती—हटाये से नहीं हटती। मुझे कृष्ण से पूर्ण प्रेम हो गया है जिसे अब सभी लोग जान गए हैं। मेरे इस प्रेम की पूर्णता को देखकर वे समझते हैं कि मैं अपने मार्ग से भटक गई हूँ। मीराँ कहती है कि बिना गिरधर प्रभु के मेरे मन की बात कौन जान सकता है ?

पाठान्तर—माई मैं तो गोविन्द सों अटकी ।
चकित भए हैं दृग दोऊ मेरे, लखि शोभा नट की ॥
शोभा अंग अंग प्रति भूषण, बनमाला लटकी ।
मोर मुकुट कटि किंकिनि राजै, दुति दामिनि पट की ।
रमि गई हौं साँवर के संग, लोग कहैं भटकी ।
छुटि लाज कानि लोग, डर रह्यो न घर हटकी ॥

आत्म-विभोर होकर—नाचूँगी। मैंने अपना हार पहनना, शृंगार करना और चूड़ा धारण करना छोड़ दिया है। मुझे अब अपना सुहाग दिखाई देने लगा है अर्थात् मैंने अपने सुहाग की वास्तविकता जान ली है मैं किसीके हृदय की बात नहीं जानती। हे राणा ! अब न मुझे महल की आवश्यकता है न किले की और न रेशमी वस्त्र से बनी हुई साड़ी की। मीरां कहती है कि मैं प्रेम में दीवानी होकर घूम रही हूँ और अब केश और लटाएँ खोल ली हैं।

पाठान्तर—१ अब न रहूँगी, मन लाग्यो गिरधर से।

माणक मोती परत न पहरूँ मैं तो कब की नटकी।
गहणो म्हाँरे माला कण्ठी और चनण की कुटकी॥
राजपणाँ की रीत गुमाई, साधाँ रे संग मटकी।
जेठ भऊ की लाज न राखी, घूँघट पट खो पटकी।
म्हाँने गुरु मिलिया अविनासी, दइ ज्ञान की गुटकी।
नित प्रति उठी जाऊँ, गुरु दरसण, नाचूँ दै दै चुटकी।
लागी चोट निज नाम धणी की, म्हाँरे हिवडे खटकी।
परम गुरू के सरणे जाऊँ, करूँ प्रणाम सिर लटकी।
साधाँ के संग करम खिलायो, हर सागर में छटकी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, जनम मरण से छूटकी॥

कहीं-कहीं यह पंक्ति भी मिलती है।

गुरु मिलिया रैदास जी, दीन्ही ज्ञान की गटकी।

× ×

काहू की मैं बरजी नाहीं रहूँ ।।टेक।।
जो कोई मोकूँ एक कहै मैं एक की लाख कहूँ ।
सास बी बाइ मेरी ननद हठीली यह दुख किससे कहूँ ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, अब उपहास सहूँ ।।३।।

शब्दार्थ—बरजी=रोकने पर भी। बाइ=पुत्री। उपहास=मजाक।

अर्थ—मैं किसीके रोकने पर भी अपने भक्ति-मार्ग से अलग नहीं हो सकती। जो मुझे एक बात कहेगा उसे मैं लाख बातें सुनाऊँगी। मेरी सास की पुत्री—जो मेरी ननद है—बहुत ही हठीली है, अतः मैं अपना दुःख किसको

सुनाऊँ। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधरनागर हैं और उन्हीं के लिए मैं संसार का मजाक सहन कर रही हूँ—संसार की प्रताड़नाओं को सह रही हूँ।

++

रूप देख अटकी, तेरो रूप देख अटकी ॥टेक॥
देह तें बिदेह भई धुरि परि सिर मटकी।
मात-पिता भ्रात बंधु, सब ही मिल हटकी।
हिरदा तें टरत नाहिं मूरति नागर नट की।
प्रगट भयो पूरन नेह लोक जाने भटकी।
मीरां प्रभु गिरिधर बिन कौन लहे घट की ॥४॥

शब्दार्थ—बिदेह=देह-विहीन। धुरि परि=गिर गई। हटकी=रोकी। नागर नट=श्रीकृष्ण। भटकी=भटक गई। लहे=जाने। घट की=हृदय की।

अर्थ—हे श्याम! मैं तेरा रूप-सौन्दर्य देखकर अटक गई हूँ—तुम पर मोहित हो गई हूँ। तुम्हारी छवि को देखकर मैं इतनी भावविभोर हो गई हूँ कि देह होते हुए भी विदेह बन गई हूँ अर्थात् अपने शरीर की सुधि-बुधि भूल गई हूँ और मेरे सिर से दही की मटकी गिर गई। माँ-बाप भाई, बन्धु सबने मिलकर ही मुझे रोका कि मैं कृष्ण से प्रेम न करूँ किन्तु मेरे हृदय में तो कृष्ण की मूर्ति इस तरह समा गई है कि टाले से नहीं टलती—हटाने से नहीं हटती। मुझे कृष्ण से पूर्ण प्रेम हो गया है जिसे अब सभी लोग जान गये हैं। मेरे इस प्रेम की पूर्णता को देखकर वे समझते हैं कि मैं अपने मार्ग से भटक गई हूँ। मीरां कहती है कि बिना गिरधर प्रभु के मेरे मन की बात कौन जान सकता है ?

पाठान्तर—माई मैं तो गोविन्द सों अटकी।
चकित भए हैं दृग दोऊ मेरे, लखि शोभा नट की ॥
शोभा अंग अंग प्रति भूषण, बनमाला लटकी।
मोर मुकुट कटि किंकनि राजै, दुति दामिनि पट की।
रमित भई हौं सांवरे के संग, लोग कहैं भटकी।
छुटि लाज कानि लोग, डर रह्यो न घर हटकी ॥

आत्म-विभोर होकर—नाचूँगी। मैंने अपना हार पहनना, शृंगार करना और चूड़ा धारण करना छोड़ दिया है। मुझे अब अपना सुहाग दिखाई देने लगा है अर्थात् मैंने अपने सुहाग की वास्तविकता जान ली है मैं किसीके हृदय की बात नहीं जानती। हे राणा! अब न मुझे महल की आवश्यकता है, न किले की और न रेशमी वस्त्र से बनी हुई साड़ी की। मीराँ कहती है कि मैं प्रेम में दीवानी होकर घूम रही हूँ और अब केश और लटाएँ खोल ली हैं।

पाठान्तर—१ अब न रहूँगी, मन लाग्यो गिरधर से।
माणक मोती परत न पहरूँ मैं तो कब की नटकी।
गहणो म्हाँरे माला कण्ठी और चनण की कुटकी॥
राजपणाँ की रीत गुमाई, साधाँ रे संग भटकी।
जेठ भड़ की लाज न राखी, घूँघट पर जो पटकी।
म्हाँने गुरु मिळिया अविनासी, दइ ज्ञान की गुटकी।
नित प्रति उठी जाऊँ, गुरु दरसण, नाचूँ दे दे चुटकी।
लागी चोट निज नाम धणी की, म्हाँरे हियड़े खटकी।
परम गुरू के सरणे जाऊँ, करूँ प्रणाम सिर झटकी।
साधाँ के संग करम खिसावो, हर सागर में छटकी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, जनम मरण से छुटकी॥

कहीं-कहीं यह पंक्ति भी मिलती है।

गुरु मिळिया रैदास जी, दीन्ही ज्ञान की गटकी।

× ×

काहू की मैं बरजी नाहीं रहूँ ॥टेक॥
जो कोई मोहूँ एक कहै मैं एक की लाख कहूँ।
सास की जाइ मेरी ननद हठीली यह दुख किससे कहूँ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, जग उपहास सहूँ ॥३॥

शब्दार्थ—बरजी=रोकने पर भी। जाइ=पुत्री। उपहास=मजाक

अर्थ—मैं किसीके रोकने पर भी अपने भक्ति-मार्ग से अलग नहीं ह
सकती। जो मुझे एक बात कहेगा उसे मैं लाख बातें सुनाऊँगी। मेरी सा
की पुत्री—जो मेरी ननद है—बहुत ही हठीली है, अब मैं अपना दुख किस

सुनाऊं। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधरनागर हैं और उन्हीं के लिए मैं संसार का मजाक सहन कर रही हूँ—संसार की प्रताड़नाओं को सह रही हूँ।

++

रूप देख अटकी तेरो रूप देख अटकी ॥टेक॥
देह तें बिदेह भई धरि परि सिर मटकी।
मात-पिता भ्रात बंधु, सब ही मिल हटकी।
हिरदा तें टरत नाहिं मूरति नागर नट की।
प्रगट भयो पूरन नेह लोक जाने भटकी।
मीरां प्रभु गिरिधर बिन, कौन लहे घट की ॥५॥

शब्दार्थ—बिदेह=देह-विहीन। धरि परि=गिर गई। हटकी=रोकी। नागर नट=श्रीकृष्ण। भटकी=भटक गई। लहे=जाने। घट की=हृदय की।

अर्थ—हे श्याम! मैं तेरा रूप-सौन्दर्य देखकर अटक गई हूँ—तुम पर मोहित हो गई हूँ। तुम्हारी छवि को देखकर मैं इतनी भावविभोर हो गई हूँ कि देह होते हुए भी विदेह बन गई हूँ अर्थात् अपने शरीर की सुधि-बुधि भूल गई हूँ और मेरे सिर से मटकी की मटकी गिर गई। माँ-बाप भाई बन्धु सबने मिलकर ही मुझे रोका कि मैं कृष्ण से प्रेम न करूँ किन्तु मेरे हृदय में तो कृष्ण की मूर्ति इस तरह समा गई है कि टाले से नहीं टलती—हटाये से नहीं हटती। मुझे कृष्ण से पूर्ण प्रेम हो गया है जिसे अब सभी लोग जान गये हैं। मेरे इस प्रेम की पूर्णता को देखकर वे समझते हैं कि मैं अपने मार्ग से भटक गई हूँ। मीरां कहती है कि बिना गिरधर प्रभु के मेरे मन की बात कौन जान सकता है?

पाठान्तर—माई मैं तो गोविन्द सौं अटकी।
पंकिज भए हैं दृग दोऊ मेरे, लखि शोभा नट की॥
शोभा अंग अंग प्रति भूषण, बनमाला लटकी।
मोर मुकुट कटि किंकनि राजे, दुति दामिनि पट की।
रमित भई हौं साँवर के संग, लोग कहैं भटकी।
छुटि लाज कानि लोग, डर रह्यो न घर हटकी॥

बिना गोपाल लाल बिन सजनी, को जाने घट की।
मीराँ प्रभु के संग फिरूँगी, कुंज-कुंज भटकी॥

जब तैं मोहि नन्दनन्दन दृष्टि पड़्यो माई।
तब से परलोक लोक कछु न सुहाई॥
मोहन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुण्डल की अलक झलक कपोलन पर छाई।
मानो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल तिलक भाल चितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग छौना॥
सुन्दर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा।
नटवर प्रभु वेष धरे रूप अति बिसेखा॥
अधर बिम्ब अरुण नैन मधुर मन्द हाँसी।
दसन दमक दाड़िम दुति अति चपला सी॥
छुद्र घण्टिका किंकिनि अनूप धुनि सुहाई।
गिरधर के अंग-अंग मीरा बलि जाई॥५॥

शब्दार्थ—मोहि=मुझको। नन्दनन्दन=कृष्ण। दृष्टि पड़्यो=दिखाई दिया। माई=सखी। चन्द्रकला=चाँद जैसी मूर्ति। मीन=मछली। सरवर=तालाब। कुटिल=टेढ़ा। टोना=जादू। मधुप=भौंरा। मृग-छौना=हिरन का बच्चा। नासिका=नाक। सुग्रीव=सुग्रीवा सुन्दर गर्दन। बिसेखा=विशेष। अधर बिम्ब=दोनों होंठ। अरुण=लाल। दसन=दशन दाँत। दाड़िम=अनार। द्युति=दुति ज्योति। चपला=बिजली। छुद्र=छोटी। धुनि=ध्वनि।

अर्थ—हे सखी! जब से मुझे कृष्ण दिखाई दिया है—उसका साक्षात्कार हुआ है—तब से न तो मुझे इस लोक में कुछ अच्छा लगता है और न परलोक में अर्थात् मुझे कहीं भी कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उसके सिर के मुकुट पर मोर-पंखों की चाँद जैसी मूर्ति शोभायमान है। माथे पर केसर का तिलक

लगा हुआ है जो तीन लोकों को मोहित करता है। कुण्डलों की झिलमिल उनके कपोलों पर छाई हुई है जो ऐसी प्रतीत होती है मानो मछली तालाब को छोड़कर मकर से मिलने के लिए आई हो। उनके मस्तक पर केसर तिलक लगा हुआ है। उनकी चितवन में जादू है। उनकी आँखें इतनी सुन्दर हैं कि खञ्जन भौंरा मछली और हिरन का बच्चा सभी अपनापन भूल जाते हैं। उनकी नाक बहुत ही सुन्दर है उनकी सुन्दर गर्दन में तीन रेखाएँ पड़ी हुई हैं प्रभु कृष्ण इस नटवर रूप को धारण करके अत्यन्त विचित्र (विलक्षण) दिखाई देते हैं। उनके दोनों होंठ लाल हैं आँखें मधुर हैं और वे मन्द हँसी हँसते हैं। उनके दाँत अनार के दाने जैसे हैं जिनकी ज्योति बिजली की चमक के समान है। वे छोटी घंटी पहने हुए हैं उनकी करधनी अनुपम है जिसकी ध्वनि मन को सुहाती है। मीराँ कहती है कि ऐसे रूप-सागर कृष्ण के प्रत्येक अंग पर मैं स्वयं को न्योछावर करती हूँ।

विशेष—१ कृष्ण के सौन्दर्य का परम्परागत वर्णन है।
२ उपमा उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति अनुप्रास अलंकार।

पाठान्तर—जब से मोहि नन्दनन्दन दृष्टि पड़यो।
जमुना जल भरन गई मोहन पर दृष्टि गई॥
गागर भरि गृह चालि, भवन न सुहाइ।
गृह काज भूलि गई, सुधि बुधि बिसराइ॥
सास ननद उझकि परी, जाऊँ कहाँ माइ।
मोरन की चन्द्रकला कीरीट मुकुट सोहै॥
केसर के तिलक ऊपर तीन लोक मोहै।
कानन में कुण्डल कपोलन पर छाइ॥
मानो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई।
काछनी कटि सोहै, पग नूपुर बिराजे।
गिरधर के अंग अंग मीराँ बलि जाई॥

++

ऐसा लोभी रे बहुरि सके नहि आय॥ टेक॥
रोम रोम नख सिख सब निरखत, ललकि रहे ललचाय।
मैं ठाढ़ी गृह आपने री मोहन निकसे आय॥

बदन चन्द परकासत हेली, मन्द मन्द मुसकाय।
लोग कुटुम्बी बरजि बरजहीं मानत पर हाथ गये बिकाय।
भली कहो कोई बुरी कहो मैं सब लई सीस चढ़ाय।
मीराँ प्रभु गिरधर लाल बिनु, पल भर रह्यौ न जाय ॥६॥

शब्दार्थ—बहुरि=फिर। हेली=सखी। सब लई सीस चढ़ाय=शिरोधार्य कर लिया बिना किसी नुक्ता-चीनी के स्वीकार कर लिया।

अर्थ—हे सखी ! मेरे ये नैन कृष्ण की रूप छवि के लोभी हैं अतः निरन्तर उनकी छवि का पान करते रहते हैं और फिर लौटकर वापस नहीं आते। ये उसका रोम-रोम नख-शिख अभी देखते हैं और ललचाकर तथा ललक-ललक कर देखते हैं। मैं अपने घर के द्वार पर खड़ी हुई थी कि सहसा उधर से कृष्ण निकले। उनके मुख चन्द्र का प्रकाश फैल गया और वे मन्द-मन्द मुस्कराते चले गए। मेरे परिवार के लोग मुझे बार-बार कृष्ण से प्रेम करने से रोकते हैं, किन्तु मेरे नैन नहीं मानते क्योंकि ये तो कृष्ण के हाथ बिक चुके हैं—इन्होंने स्वयं को उनके समक्ष पूर्णतः समर्पित कर दिया है। अब चाहे मुझे कोई अच्छी कहे या बुरी कहे मैंने सभी की बातों को बिना किसी नुक्ता चीनी के स्वीकार कर लिया है। मीराँ कहती है कि श्रीकृष्ण के बिना मुझसे एक पल भी नहीं रहा जाता—उनका एक पल का वियोग भी असह्य है।

+—

नन्द को बिहारी म्हारे हियड़े बस्यो छै ॥टेक॥
कटि पर लाल काछनी काछे, हीरा मोती-वालो मुकुट धर्यो छै।
गहिर छायो डाल कदम्ब की ठाढ़ी मोहन मो तन हेरि हस्यो छै।
मीराँ के प्रभु के गिरधरनागर निरखि दृगन में नीर भर्यो छै ॥७॥

शब्दार्थ—नन्द को बिहारी=श्रीकृष्ण। हियड़े=हृदय में। बस्यो छै=बसा हुआ है। कटि=कमर पर। काछे=बाँधे हुए। धर्यो छै=धारण किये हुए हैं। हेरि=देखकर। निरखि=देखकर। दृगन में=आँखों में।

अर्थ—श्रीकृष्ण मेरे हृदय में बसते हैं। वे कमर पर लाल काछनी बाँधे हुए तथा हीरा मोती से युक्त मुकुट धारण किये हुए हैं। मैं छिपी हुई कदम्ब की शाखा के नीचे खड़ी हुई थी कि वह मोहन मेरे तन (सौन्दर्य) को देखकर

हँस पड़ा। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधर नागर हैं जिन्हें देखकर मेरी आँखों में पानी भर आया था।

++

माई मिल्यो अनुरागी गिरधर माई मिल्यो अनुरागी ॥टेक॥
साँसों सोच अंग नहिं अब तो तिस्ना दुबध्या त्यागी।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै स्याम बरण बड़भागी।
जनम जनम के साहिब मेरो, वाही से लौ लागी।
अपणा पिया संग हिलमिल खेलूँ अधर सुधारस पागी।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर अब के भई सुभागी ॥८॥

शब्दार्थ—अनुरागी=प्रेमी। साँसों=संशय सन्देह। सोच=शोक। अंग=नाम। तिस्ना=तृष्णा। दुबध्या=द्विविधा। बरण=वरण करना पति-रूप में स्वीकार करना। बड़भागी=सौभाग्यवती। साहिब=पति। लौ=लग्न प्रेम। पागी=पगना। सुभागी=सौभाग्य वाली।

अर्थ—वह प्रेमी कृष्ण मुझसे आकर मिल गया है। उनके मिलने के कारण मेरे मन में संशय और शोक का कोई नाम (अंश) नहीं रहा गया है, अर्थात् अब मुझे संशय और शोक बिल्कुल भी नहीं है। मेरी तृष्णा और द्विविधा नष्ट हो गई है। उनके सिर पर मोर-पंखों का मुकुट और शरीर पर पीताम्बर शोभायमान है। मैंने श्याम को पति-रूप में स्वीकार किया है, इसीलिए मैं अत्यन्त सौभाग्यवती हूँ। वह मेरा जन्म-जन्मान्तर का पति है और उसीसे मेरी लग्न लगी हुई है। मैं अपने प्रियतम के साथ हिल-मिलकर आनन्दमयी क्रीड़ाएँ करूँगी और उनके अधर के सुधा-रस में पगूँगी। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधर नागर हैं और उनके दर्शन होने से इस बार मैं सौभाग्यशाली हो गई हूँ।

विशेष—इस पद में सन्तमत और वैष्णव-मत दोनों का ही प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

××

पायो जी मैं तो रामरतन धन पायो ॥टेक॥
वस्तु अमोलक दी म्हारे सतगुरु, किरपा करि अपनायो।
जनम जनम की पूँजी पाई जग में सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवै दिन-दिन बढ़त सवायो।

सत की नाव खेवटिया सतगुरु भवसागर तर आयो।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर हरख-हरख जस पायो ॥६॥

शब्दार्थ – रतन=रत्न। अमोलक=अमूल्य बहुमूल्य। खोवायो=खो दिया। सत=सत्य। खेवटिया=खेनेवाला। हरख-हरख=हर्ष-हर्ष करके। जस=यश।

अर्थ—मुझे राम रूपी रत्न का धन मिल गया है। यह बहुमूल्य वस्तु हमारे गुरु ने कृपा करके मुझे दी है जिसे मैंने तन-मन से ग्रहण कर लिया है। यह वह सम्पत्ति है जिसके लिए मैं जन्म-जन्मान्तरों से लालायित थी और वह अब मुझे मिल गई है। इस पूँजी को प्राप्त कर लेने पर संसार की सभी वस्तुएँ—सांसारिक बन्धन—नष्ट हो गये हैं। यह ऐसी पूँजी है जो खर्च करने पर कम नहीं होती और जिसे चोर नहीं चुरा सकता बल्कि प्रतिदिन सवाई होती रहती है। मेरी सत्य की नाव है जिसका खेने वाला (नाविक) सतगुरु है, इसीलिए मैं इस भवसागर से पार हो गई हूँ। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधर नागर हैं जिनका मैं हर्ष-हर्ष करके यश गाती हूँ।

विशेष—इस पद की भाषा ब्रज भाषा है। 'म्हांरे' प्रयोग केवल राजस्थानी का है।

पाठान्तर— रामरतन धन पायो, मैया मैं तो रामरतन धन पायो।
खरचै ना खूटे वाकूँ चोर न लूटे, दिन दिन होत सवायो।
नीर न डूबे, वाकूँ अगिन न जाले, धरनी धर योन समायो।
नौंव को नाँव भजन की बल्लियाँ, भवसागर से धार यो।
मीराँबाई प्रभु गिरधर सरणों, चरण कमल चित लायो॥

++

माई मैं तो लियो रमय्या मोल ॥टेक॥
कोई कहै छानी कोई कहै चोरी लियो है बजंता ढोल।
कोई कहै कारो, कोई कहै गोरो लियो है अखीं खोल।
कोई कहै हल्का कोई कहै महँगा लियो है तराजू तोल।
तन का गहना मैं सब कछु दीन्हा दियो है बाजूबन्द खोल।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, पूरब जनम का कौल ॥१०॥

शब्दार्थ—रमैया=श्रीकृष्ण। छानी=छिपकर। बजता ढोल=ढोल बजा बजाकर। अखीं=आँखें। पुरब जन्म=पूर्व जन्म। कोल=वचन।

अर्थ—हे सखी! मैंने तो श्रीकृष्ण को मोल ले लिया है अर्थात् अपना सर्वस्व उनके प्रति अर्पण कर दिया है। कोई कहता है कि मैंने यह सौदा छिप कर किया है कोई कहता है कि मैंने चोरी की है। ये सब लोग गलत हैं। मैंने तो कृष्ण को ढोल बजा-बजाकर लिया है अर्थात् खुल्लम-खुल्ला उन्हें अपनाया है। कोई कहता है कि मैंने उन्हें स्वीकार करके गलती की है क्योंकि वह काला है कोई कहता है गोरा है किन्तु मैंने आँखें खोलकर—अच्छी तरह देख भाल करके—उन्हें अपनाया है। कोई कहता है कि यह सौदा हलका है कोई कहता है कि मँहगा है लेकिन मैंने तो उन्हें तराजू में तोलकर—उनकी सम्पूर्ण महिमा से अवगत होकर—लिया है। उनके लिए मैंने अपने तन का सारा गहना दे दिया है, यहाँ तक कि अपना बाजूबन्द भी तोल दिया है। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधर नागर हैं जिन्होंने मुझे पूर्वजन्म में अपनाने का वचन दिया था।

विशेष—इस पद के विषय में मुन्शी 'चतुरसम' का मत है कि इसकी भाषा राजस्थानी की ओर झुकी हुई है। पद की द्वितीय पंक्ति में प्रयुक्त 'चोरी' शब्द के बदले 'चौड़े' का प्रयोग भी मिलता है जो अर्थ-संगति के विचार से अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। 'चौड़े' का अर्थ है सबकी जानकारी में। शेष पद से चतुर्थ पंक्ति भिन्न पड़ती है। इतना ही नहीं यह पंक्ति ज्यों की त्यों अन्य पदों में भी मिल जाती है। इसी तरह, अन्तिम पंक्ति का द्वितीयांश भी ज्यों का त्यों अन्य पदों में प्राप्य है।

पाठान्तर—१ माई म्हें गोविन्द लीनो मोल।
कोई कहै सस्तो, कोई कहै महँगो, लीनो तराजू तोल।
कोई कहै घर में, कोई कहै बन में, राधा के संग किलोल।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, आवत प्रेम के मोल।

२ मैं तो गोविन्द लीन्हा मोल।
कोई कहै महँगा, कोइ कहै सस्ता, लियो तराजू तोल।

प्रभु के लोग करै सब चर्चा, लिया बजा के ढोल।
सुर नर मुनि जाको पार न पावै, सब लिया प्रेम पटोल।
जहर पिलाया राणा जी भेज्यौ, पिया मैं अमृत घोल।
मीरां प्रभु के हाथ बिकानी, सर्वस दीना घोल॥

++

हे माई म्हांको गिरधरलाल ॥टेक॥
चरि चरणां की प्रानि करत हौं और न मणि लाल।
नात सगो परिवारो सारो मन लागै मानो काल॥
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, छवि लखि भई निहाल॥११॥

शब्दार्थ—म्हांको=हमारा। प्रानि करत हौं=पूजा करती हूँ। नातर=नहीं तो। काल=मृत्यु। छवि=शोभा। निहाल=प्रसन्न सफल।

अर्थ—हे सखि! हमारा तो केवल कृष्ण है उसके अतिरिक्त और कोई दूसरा नहीं है। हे कृष्ण! मैं तुम्हारे चरणों की पूजा करती हूँ। इसके अलावा मुझे मणि तथा लाल भी अच्छे नहीं लगते। सारा परिवार मेरा सगा नहीं है और वह सब मुझे मृत्यु के समान दिखाई देता है। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधर नागर है जिनकी शोभा देखकर मैं निहाल हो गई हूँ—मेरा जन्म सफल हो गया है।

विशेष—उत्प्रेक्षा अलंकार।

++

कोई कछु कहो रे रंग लाग्यो रंग लाग्यो भ्रम भाग्यो ॥टेक॥
लोग कहैं मीरां भई बावरी भ्रम दुनी ने लाग्यो।
कोई कहै रंग लाग्यो।
मीरां सार्यां में पूँ रम बैठी, ज्यूँ गुदड़ी में तागो।
सोने में सुहागो।
मीरां सूती अपने भवन में सतगुरु आप जगाग्यो।
ज्ञानी गुरु आप जगाग्यो॥१२॥

शब्दार्थ—रंग=प्रेम। भ्रम=अज्ञान। दुनी=दुनिया संसार। सूती=सोती थी।

अर्थ—चाहे कोई कुछ कहे—अच्छा कहे अथवा बुरा कहे—मेरा तो मी

कृष्ण से प्रेम हो गया है। लोग कहते हैं कि मीराँ पागल हो गई है। यह उनका भ्रम है और भ्रम ने ही जगत् को नष्ट किया है। कोई कहता है कि उसे श्रीकृष्ण से प्रेम हो गया है और वह साधुओं की संगति में इस प्रकार रम गई है जिस प्रकार तागा गूदड़ी में मिलकर तदाकार हो जाता है अथवा सोने में सुहागा मिल जाता है। मीराँ कहती है कि मैं तो आनन्द से अपने भवन में सोई हुई थी कि सद्गुरु ने मुझे आकर जगा दिया—अज्ञान को नष्ट कर दिया—ज्ञानी गुरु ने मुझे अन्धकार से हटाकर प्रकाश की ओर उन्मुख कर दिया।

विशेष—उपमा अलंकार।

++

अरे राणा पहले क्यों न बरजी लागी गिरधरिया से प्रीत ।।टेक।।
मार चाहे छाँड़ राणा नहीं रहूँ मैं बरजी।
सगुन साहिब सुमरतां रे, मैं थारे कोठे खटकी।
राणा जी भेज्या विष रा प्याला कर चरणामृत गटकी।
दीनबन्धु साँवरिया है रे जाणत है घट-घट की।
म्हारे हिरदा माँहि बसो है लटकन मोर मुकुट की।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, मैं हूँ नागर नट की ।।१३।।

शब्दार्थ—बरजी=रोक। सगुन=साकार, गुणों का भण्डार। साहिब=कृष्ण। कोठे=मन में। गटकी=एकदम पी गई। घट-घट की=प्रत्येक आदमी के हृदय की।

अर्थ—हे राणा! तुमने मुझे पहले ही क्यों नहीं रोक दिया था। अब तो श्रीकृष्ण से मेरी प्रीति हो गई है और यह प्रीति छूटनी असम्भव है। हे राणा! चाहे तू मुझे मार दे अथवा छोड़ दे लेकिन मैं अब तुम्हारे भय से नहीं रुकूँगी। मैं तो अपने गुणागार कृष्ण का स्मरण कर रही थी कि तुम्हारे मन में मैं खटक गई। तुमने मुझे मारने के लिए विष का प्याला भेजा जिसे मैं चरणामृत समझकर एकदम पी गई। वह श्याम तो दीनबन्धु है और प्रत्येक आदमी के हृदय की बात जानता है। (अतः वह अवश्य ही मेरी रक्षा करेगा) मोर-पंखों की लटकन हमारे हृदय में बसी हुई है—कृष्ण की रूप-छवि मन में समा गई है।

मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधरनागर हैं और मैं तो अब केवल नटनागर कृष्ण की हूँ।

विशेष—इस प्रकार की अभिव्यक्ति मीरां के अन्य पदों में भी पाई जाती है।

++

म्हांरी बात जगत सूं छानी साधां सू नहीं छानी री ।।टेक।।
साधू मात-पिता कुल मेरे साधू निरमल ग्यानी री।
राणा ने समझायो बाई, ऊदां मैं तो एक न मानी री।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, सन्तन हाथ बिकानी री ।।१४।।

शब्दार्थ—छानी=छिपी हुई। निरमल=निर्मल पाप से रहित।

अर्थ—हे ऊदांबाई! हमारी बात—कृष्ण के प्रति प्रेम—जगत् में तो छिपा हुआ है किन्तु साधुओं से छिपा हुआ नहीं है। साधु ही मेरे माँ-बाप हैं, मेरा परिवार है साधु ही दोष-रहित और ज्ञानी होते हैं। हे सखि! मुझे राणा ने बहुत समझाया किन्तु मैंने उनकी एक भी बात नहीं मानी। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधरनागर हैं और मैं सन्तों के हाथों बिक गई हूँ।

अब मीरां मान लीजी म्हांरी हो जी थांनै सखियां बरजे सारी।।टेक।।
राणा बरजे, राणी बरजे बरजे सब परिवारी।
कुंवर पाटवी सो भी बरजै और सहेल्यां सारी।
सीसफूल सिर ऊपर सोहै बिदली शोभा भारी।
साधन के ढिग बठ-बठ के लाज गमाई सारी।
नित प्रति उठि नीच घर जाओ कुल को लगाओ गारी।
बड़ा घरां की छोरू कहाओ नाचो दे दे तारी।
वर पायो हिन्दुवाण सूरज इब दिल में कांई धारी।
तारयो पीहर सासरों तारयो माय मोसाली सारी।
मीरां ने सदगुरु मिलिया जी चरण कमल बलिहारी ।।१५।।

शब्दार्थ—थांनि=तुमको। बरजे=रोकती हैं। कुंवर पाटवी=सम्राट्, भोजराज। बिदली=बिन्दी की। साधन के ढिग=साधुओं के पास। लाज=

लज्जा। गमाई=नष्ट कर दी। गारी=कलंक। छोरी=लड़की। हिन्दुवाणे सूरज=हिन्दुओं में सूरज के समान अत्यन्त पराक्रमी। काईं=क्या।

अर्थ—मीराँ की कोई सखी (सम्भवतः ऊदा) उसे समझाती हुई कहती है कि हे मीराँ! अब हमारी बात मान जाओ—वैराग्य-भावना का त्याग कर दो—क्योंकि तुमको तुम्हारी सारी सखियाँ रोक रही हैं। राणा और महारानी तथा परिवार के सब सदस्य रोक रहे हैं। भोजराज तथा तुम्हारी सारी सखियाँ रोक रही हैं। तुम्हारे सिर पर शीशफूल (एक प्रकार का आभूषण) शोभायमान है तुम्हारी बिन्दी की शोभा बहुत ही अधिक है। तुमने साधुओं के पास बैठ-बैठकर अपनी लज्जा नष्ट कर दी है। तुम प्रतिदिन प्रभात में उठकर नीच के घर जाती हो और इस प्रकार कुल को कलंक लगाती हो। तुम बड़े घर की लड़की कहलाती हो फिर भी ताली बजा-बजाकर—भाव विभोर होकर—नाचती हो कीर्तन करती हो। तुमने हिन्दुओं में अत्यन्त पराक्रमी को पति-रूप में पाया है। इतनी प्रतिष्ठा मिलने पर भी न जाने तुमने अपने मन में क्या सोच रखा है। तुमने अपने जन्म से अपने पीहर को ससुराल को तथा मोसाली माँ को भी तार दिया है। इस प्रकार की बातों को सुनकर मीराँ कहती है कि मुझे ये सब सांसारिक प्रतिष्ठा निस्सार दिखाई देती हैं क्योंकि मुझे सतगुरु का साक्षात्कार हो गया है और उन्होंने मेरा अज्ञान नष्ट करके मुझे परमधाम का मार्ग दिखा दिया है। मैं ऐसे गुरु के चरण-कमलों पर न्यौछावर होती हूँ।

विशेष—इस पद का विश्लेषण करती हुई सुश्री 'शबनम' लिखती हैं—पदाभिव्यक्ति के आधार पर यह स्पष्ट नहीं होता कि यह सम्वाद किसके साथ हो रहा है। प्रथम दो पंक्तियों की अभिव्यक्ति अवश्य ही कुछ नई-सी प्रतीत होती है परन्तु अन्य पंक्तियों को देखने से ऐसा ही प्रतीत होता है कि ऊदा मीराँ संवाद की भावनाओं की ही पुनरुक्ति हुई है। इतने अधिकारपूर्ण ढंग से विरोध किसी प्रभावशाली निकट संबन्धी द्वारा ही सम्भव है। बहुत सम्भव है कि यह संवाद भी ऊदा-मीराँ के बीच हुआ हो।

पद की प्रथम दो पंक्तियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। 'राणा' और 'राणी' तो विरोध करते ही हैं, इतना ही नहीं 'कुंवर पाटवी सो भी बरज'। यह 'कुंवर पाटवी' कौन है? क्या यही भोजराज है? प्राप्त इतिहास बताता है कि मीराँ

का संघर्ष वैधव्य के बाद ही प्रारम्भ हुआ है जब कि भोजराज के सौतेले छोटे भाई राज्याधिकारी बने। उपर्युक्त पद के आधार पर मीराँ का संघर्ष भोजराज की जीवित अवस्था में ही प्रारम्भ हो जाता है और वह भी कृष्ण की आराधना हेतु नहीं अपितु इसलिए कि 'नित प्रति उठि नीच घर जाओ' और 'लाजो दे दे तारी।'

अन्तिम पंक्ति मे वर्णित यह 'सतगुरु' भी अब तक एक रहस्य ही बने हुए हैं। सम्भव है कि 'सद्गुरु' कौन थे यह जान लेने पर मीराँ के जीवन-वृत्तान्त पर गहरा प्रकाश पड़ सकेगा।

++

जाणो हरि निरमोहिड़ा, जाणी थारी प्रीत ॥टेक॥
लगन लगी जब प्रीत और ही अब कुछ अवली रीत।
अमित प्याय के विष क्यूं दीजै कूण गाँव की रीत।
मीराँ कहै प्रभु गिरधरनागर, आप गरज के मीत ॥१६॥

शब्दार्थ—निरमोहिड़ा=निर्मोही। अवली=दूसरा उलटा। रीत=ढंग। कूण गाँव की=किस स्थान की। गरज के=स्वार्थ के।

अर्थ—हे निर्मोही हरि! जाओ। मैंने तुम्हारी प्रीत को जान लिया है अर्थात् तुम्हारा प्रेम स्वार्थ से भरा हुआ है यह मुझे भली-भाँति पता चल गया है। जब तुमसे प्रेम हुआ था तो तब तुम्हारा प्रेम और ही प्रकार का था और अब तुम्हारा दूसरा ही ढंग है। यह किस स्थान की रीति है कि अमृत पिला कर फिर विष दिया जाय? अर्थात् यह तो कहीं भी नियम नहीं है कि पहले सुख दो और बाद मे दुःख दो। मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरिधर नागर! तुम तो स्वार्थी मित्र हो।

++

कुबज्या ने जादू डारा री जिन मोह्यो स्याम हमारा ॥टेक॥
झरमर झरमर मेहा बरसे जुड़ आये बादल कारा।
निरमल जल जमुना को छोड़ी, जाय पिया जल खारा।
सीतल छाँय कदम की छोड़ी धूप सहा अति भारा।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, वाही प्राण पियारा ॥१७॥

शब्दार्थ—मोहै=मोहित करना।

अर्थ—हे सखि ! कुबज्या ने जादू डालकर हमारे कृष्ण को मोह रखा है, वश में कर रखा है। मेह झड़ी लगाकर बरस रहा है। और आकाश में काले काले बादल घुमड़ आए हैं। कृष्ण ने यमुना के स्वच्छ पानी को छोड़कर मथुरा का खारा पानी जाकर पिया है, कदम्ब वृक्ष की शीतल छाया को छोड़कर मथुरा में कड़ी धूप को सहन कर रहे हैं अर्थात् ब्रज के सुखों को छोड़कर मथुरा के दुःखों को वे इसलिए सह रहे हैं कि कुबज्या ने उन पर जादू डाल रखा है। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधर नागर हैं और वे ही हमें प्राणों से प्यारे हैं अथवा हमारे पति हैं।

विशेष—इस पद में वैष्णव प्रभाव स्पष्ट है।

++

साँवरिया म्हाँरी प्रीतड़ली निभाज्यो ॥टेक॥
प्रीत करो तो स्वामी ऐसी कीज्यो अधबिच मत छिटकाज्यो।
तुम तो स्वामी गुण रा सागर, म्हाँरा औगुण चित मति लाज्यो।
काया गढ़ घेरा क्यों पड़्या छै, ऊपर आगर बाज्यो।
मीराँ के प्रभु गिरिधरनागर चित चरणाँ रखाज्यो ॥१८॥

शब्दार्थ—साँवरिया=कृष्ण। प्रीतड़ली=प्रीत निभाज्यो=निभाओ। छिटकाज्यो=दूर हटाओ। गुण रा सागर=गुणों के सागर। औगुण=अवगुण, दोष। चितमति लाज्यो=ध्यान मत दो। काया=शरीर। गढ़=किला।

अर्थ—हे कृष्ण ! हमारी प्रीति का निर्वाह करो। हे स्वामी ! यदि मुझसे प्रीति करो तो ऐसी करो कि मुझे अधबिच में ही दूर मत हटाओ। हे स्वामी ! तुम तो गुणों के सागर हो इसलिए हमारे दोषों पर ध्यान मत दो। इस शरीर पर मोह-ममता आदि ने इसी प्रकार आक्रमण कर दिया है जिस प्रकार शत्रु दुर्ग पर आक्रमण कर देते हैं। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधर नागर हैं और उन्हीं के चरणों में मन को रखना चाहिए।

++

को बिरहिणी को दुःख जाणे हो ॥टेक॥
जा घट बिरहा सोई लख है, कै कोई हरि जन मानै हो।

रोगी अन्तर वैद बसत है वैद ही औखद जाणै हो।
बिरह करद उर अन्तर माँहि हरि बिन सुख कानै हो।
दुख्या आरत फिरूँ दुखारि, सुरत बसी सुत मानै हो।
चातग स्वाति बूँद मन माँहि पिव-पिव उकलाणै हो।
सब जग कूड़ो कंटक दुनिया दरद न कोई पिछाणै हो।
मीराँ के पति आप रमैया दूजा नहिं कोई छाणै हो ॥१६॥

शब्दार्थ—घट=हृदय। कै=या। हरिजन=हरि भक्त। वैद=वैद्य यहाँ कृष्ण से तात्पर्य है। औखद=औषधि। करद=कटार। उर अन्तर माँहि=हृदय में। दुख्या=दुखी पीड़िता। आरत=आर्त दुख। चातग=चातक। उकलाणै=व्याकुल होना। दरद=दर्द पीड़ा। छाणै=रक्षा करना।

अर्थ—विरहिणी का दुःख कौन जान सकता है? विरहिणी के दुःख को वही व्यक्ति समझ सकता है जिसके हृदय में विरह का संचार हो या कोई हरि भक्त ही उसको पहिचान सकता है। मुझ रोगी के हृदय में ही मेरा वैद्य—प्रियतम कृष्ण—बसा हुआ है और वही वैद्य (कृष्ण) मेरी औषधि जानता है। मेरे हृदय में विरह की कटारी—कसक—लगी हुई है और अब मुझे हरि के बिना सुख कहाँ है? अर्थात् हरि के बिना मुझे अन्यत्र सुख नहीं मिल सकता। मैं दुःख से पीड़ित होकर तथा दुखारी बनकर इधर-उधर फिर रही हूँ। जिससे मेरे हृदय में याद बनी हुई है उसीमें मेरा मन सुख मानता है इसके अतिरिक्त और कहीं नहीं। जिस प्रकार चातक का मन स्वाति नक्षत्र की बूँद में बसा हुआ होता है और वह प्रिय-प्रिय कहकर व्याकुल होता रहता है, उसी प्रकार मेरा मन प्रियतम कृष्ण में बसा हुआ है और मैं उसीके लिए व्याकुल हूँ। यह सारा संसार निस्सार और काँटे की भाँति दुखदायी है। यह किसी भी विरहजन्य पीड़ा को नहीं पहिचानता। मीराँ कहती है कि मेरे पति तो स्वयं कृष्ण हैं और उनके अलावा दूसरा कोई मेरी रक्षा नहीं कर सकता।

विशेष—१ अनन्य भाव का प्रेम।
२ दृष्टान्त और रूपक अलंकार।

++

पतियनि कूण पतीजे आखिर कपट हरि तोरा ॥टेक॥
झूठी पतियाँ लिख-लिख भेजे क्या भीख क्या बोझ।
ऐसा है कोई बांच सुणावे मैं बाँचु तो भीजै।
मीरां के प्रभु हरि अविनाशी चरण कमल चित दीजै ॥२०॥

शब्दार्थ—पतियाँ=पत्र। पतीजै=विश्वास करे। बांच सुणावै=पढ़कर सुना दे।

अर्थ—हे हरि! तुम्हारे पत्र पर कौन विश्वास करे? अर्थात् तुम्हारे पत्र पर मुझे बिल्कुल भी विश्वास नहीं है इसीलिए शीघ्र आकर मेरी सुधि लीजिए। तुम झूठ पत्र लिख-लिखकर भेज रहे हो इससे कोई लाभ नहीं है। क्या ऐसा कोई व्यक्ति है जो मुझे मेरे प्रियतम का पत्र पढ़कर सुना दे क्योंकि यदि मैं स्वयं पढ़ती हूँ तो आँसुओं की अविरल धारा के कारण यह भीग जाती है और फिर पढ़ने के अयोग्य बन जाती है। मीरा कहती है कि मेरे स्वामी तो अविनाशी हरि हैं और उन्हीं के चरण-कमलों में मन लगाना चाहिए।

विशेष—१ भक्त कवियों में प्रियतम के पत्र का उल्लेख एक परम्परा है। सभी भक्त-कवियों ने इसका वर्णन किया है। मीरा के इस पद में इसी परम्परा का पालन है।

२ 'मैं बाँचू तो भीजै' में भावों की मार्मिकता विचारणीय है।

३ 'चरण कमल' में रूपक अलंकार है।

++

गिरधर रूसणूं जी कौन गुनाह।
कछु इक औगुण काढ़ो म्हांरा छै, म्हे भी कानां सुणां।
मैं दासी थारी जनम जनम की थे साहिब सुगणां।
कांई बात सूं करवो रूसणूं क्यों दुख पावो छो मना।
किरपा करि मोहिं दरसण दीज्यो, बीते दिवस घणां।
मीरां के प्रभु हरि अविनाशी थांरो ही नांव गणां ॥२१॥

शब्दार्थ—गुनाह=अपराध। औगुण=दोष। म्हे भी कानां सुणां=मैं भी अपने कानों से सुनूं। सुगणां=गुण वाले। घणां=ज्यादा। नांव=नाम। गणां=रटा।

अर्थ—हे गिरधर ! रूठना कोई अपराध नहीं किन्तु मुझमें कुछ दोष तो निकालो जिन्हें मैं भी अपने कानों से सुनूं । मैं तो तुम्हारी जन्म-जन्मान्तर की दासी हूँ और तुम मेरे स्वामी हो । किस बात से तुम रूठे हो ? और क्यों मेरे मन को दुखी कर रहे हो ? कृपा करके मुझे दर्शन दीजिए, क्योंकि तुमसे अलग हुए बहुत दिन हो गये हैं । मीरां कहती है कि मेरे अविनासी प्रभु ! मैं तो केवल तुम्हारा ही नाम रटा करती हूँ ।

विशेष—भावाभिव्यक्ति बहुत ही मार्मिक है ।

++

थें म्हारे घर आवो जी प्रीतम प्यारा ॥ टेक ॥
पुन पुन कलियां में सेज बणाऊं, भोजन करूं मैं सारा ।
तुम सगुणां मैं अवगुणवारी तुम छो बगसणहारा ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर तुम बिनि नैण दुखियारा ॥२२॥

शब्दार्थ—थें=तुम । करूं=तैयार करूं । सगुणां=गुणवान् । अवगुण-धारी=दोषों से भरपूर । बगसणहार=क्षमा करने वाला ।

अर्थ—हे प्रियतम प्यारे ! तुम हमारे घर आओ । मैंने कलियां चुन-चुन-कर सेज बना ली है और तुम्हारे लिए सब प्रकार का भोजन तैयार कर ली । तुम गुणवान् हो मैं दोषों से भरपूर हूँ और तुम क्षमा करने वाले हो । मीरां कहती है कि हे मेरे गिरधरनागर स्वामी ! तुम्हारे देखे बिना मेरी आँखें बहुत दुखी हैं, अर्थात् तुम्हारे दर्शन करने की तीव्र इच्छा है ।

पाठान्तर—१ घर आवो जी प्रीतम प्यारा ।
तन मन धन सब भेंट करूंगी, भजन करूंगी तुम्हारा ।
तुम गुणवन्त साहिब कहिए, मों में औगण सारा ॥
मैं निगुणी गुण जाणायो नाहीं तुम छो बगसणहारा ।
मीरां के प्रभु कब र मिलोगे, तुम बिन नैण दुखियारा ॥
२ म्हारे डेरे आज्यो जी महाराज ।
चुणि चुणि कलियाँ सेज बिछाई, नखशिख पहर्‌यो साज ॥
जनम जनम की दासी तेरी, तुम मेरे सिरताज ।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी, दरसण दीज्यो आज ॥

++

मैं जाण्यो नहीं प्रभु को मिलन कैसे होय री ॥ टेक ॥
आए मोरे सजना फिरी गए अँगना मैं अभागण रही सोय री ।
फाड़ूँ चीर, करूँ गलकंथा रहूँगी बैराग्य होय री ।
चूड़ियाँ फोड़ूँ माँग बिखेरूँ कजरा मैं डारूँ धोय री ।
निसि बासर मोहि बिरह सतावै कल न परत पल मोय री ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी मिली बिछुड़ो मत कोय री ॥२३॥

शब्दार्थ—निसि बासर=रात दिन । कल न परत=चैन नहीं पड़ता है ।

अर्थ—हे सखि ! मैं नहीं जानती कि प्रभु से किस प्रकार मिलना होगा क्योंकि वे आज तक मुझ से मिले नहीं हैं । मेरे साजन मेरे घर आये थे किन्तु मैं सो रही थी अतः वे आँगन से ही वापिस लौट गये । अब मैं इस चीर को फाड़कर गलकंथा बना लूँगी और बैरागिणी होकर ही रहूँगी । मैं अपनी चूड़ियों को फोड़ दूँगी माँगों को बिखेर दूँगी और आँखों में लगे हुए काजल को धो दूँगी । रात-दिन मुझे बिरह सताता है और पलभर के लिए भी मुझे चैन नहीं पड़ता है । मीराँ कहती है कि हे मेरे अविनाशी प्रभु ! इस सृष्टि का ऐसा नियम बना दो कि कोई मिलकर न बिछुड़े अर्थात् संयोग के पश्चात् वियोग न हो ।

विशेष—१ सन्त-कवियों की यह परिपाटी रही है कि विरह के दुःख को बढ़ाने के लिए वे इस प्रकार की योजना करते हैं कि जब प्रियतम मिलने आता है तो साधक सो जाता है । यही संयोजना जायसी ने अपने 'पद्मावत' में भी की है । जब पद्मावती रत्नसेन से मिलने के लिए आती है तो रत्नसेन सो जाता है—

'बार आइ तब गा त सोई । कसे भुगुति परापति होई' ॥

२ 'मिलि बिछुड़ी मत कोय री' में मन की व्यापकता के साथ-साथ प्रभाव की मार्मिकता भी आ गई है ।

३ 'बृहद्राग रत्नाकर' में भी इसी भाव का यह पद मिलता है—
चीर तोहि बेचूँ री मासी जो कोई गाहक होय ।

आए मोहन फिर गए अँगना मैं अँरन रही सोय ॥
कहा करूँ कछु बस न मेरो आयो धन दियो खोय ।
मधीराम प्रभु अबके मिलें तो राखूँ गी मैंन समोय ॥

++

पलक न लागै मेरी स्याम बिना ॥टेक॥
हरि बिन मथुरा ऐसी लागै ससि बिन रैन अँधेरी ।
पात पात वृन्दावन ढूँढ्यो, कुंज कुंज ब्रज केरी ।
ऊँचे खड़े मथुरा नगरी तले बहै जमना गहरी ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर हरि चरणन की चेरी ॥२४॥

शब्दार्थ—पलक न लागै=नींद नहीं आती । ससि=चन्द्रमा । ब्रज-केरी=ब्रज के । चेरी=दासी ।

अर्थ—कृष्ण के वियोग के कारण मुझे नींद भी नहीं आती । बिना कृष्ण के मथुरा इस प्रकार भयंकर लगती है जिस प्रकार चन्द्रमा के बिना अँधेरी रात मैंने उन्हें तलाश करने के लिए वृन्दावन का पत्ता-पत्ता ढूँढ लिया है और ब्रज का प्रत्येक कुंज देख लिया है किन्तु कृष्ण का कहीं पता नहीं लगा । मथुरा नगरी ऊँचे पर स्थित है और उसके नीचे यमुना नदी बहती है । मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधरनागर हैं और मैं उनके चरणों की दासी हूँ ।

++

नींद नहीं आवे जी सारी रात ॥टेक॥
करवट लेकर सेज टटोलूँ पिया नहीं मेरे साथ ।
सगरी रैन मोहि तरफत बीती सोच सोच जिय जात ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर आज भयो परभात ॥२५॥

शब्दार्थ—सगरी=सारी । तरफत=तड़पते हुए । जिय जात=प्राण निकल जाते हैं । परभात=प्रभात ।

अर्थ—कृष्ण के बिना मुझे सारी रात नींद नहीं आती । प्रियतम मेरे साथ नहीं है इसीलिए मैं सारी रातें करवटें ले-लेकर शैया को टटोलती रहती हूँ मैं सारी रात तड़पते हुए काटती हूँ । मिलन की बातों को सोच-सोचकर—

याद कर-करके—मेरे प्राण निकले जाते हैं। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधरनागर हैं जिनकी याद में आज भी जागते-जागते प्रभात हो गया है।

विशेष—विरहवर्णन में केवल परम्परा का पालन है।

× ×

दरस बिन दूखण लागे नैन ॥टेक॥
जब के तुम बिछुरे प्रभु जी कबहुँ न पायो चैन।
सबद सुणत मेरी छतियाँ काँपे मीठे मीठे बैन।
बिरह-बिथा काँसूँ कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन।
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैण।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटण सुख दैण ॥२६॥

शब्दार्थ—सबद=शब्द आहट। बिरह-बिथा=विरह-व्यथा। जोवत=देखते-देखते। छमासी=छः महीने की बहुत लम्बी। मेटण=मिटाने वाले। दैण=देने वाले।

अर्थ—हे सजनी! कृष्ण के दर्शन के बिना उनका मार्ग देखते-देखते आँखें दुखने लगीं। हे प्रभु! आप जबके बिछुड़े हैं तब से मुझे चैन नहीं मिला। किसी की आहट को सुनते ही मेरा हृदय धड़कने लगता है। किसी के मीठे-मीठे वचनों की भी मुझ पर यही प्रतिक्रिया होती है। हे सजनी! मैं अपनी विरह-व्यथा को किससे कहूँ? कोई इसे सुनने वाला भी नहीं है। मुझे हरि के मार्ग का देखते-देखते उत्कण्ठा के कारण पलभर के लिए भी चैन नहीं मिलता और हरि के बिना रात भी बहुत लम्बी हो जाती है। मीरां कहती है कि हे मेरे प्रभु! तुम अब कब दर्शन दोगे क्योंकि तुम दुःख को मिटाने वाले और सुख को देने वाले हो।

तुलना—अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी।
देख्यो चाहति कमलनैन को निसि-दिन रहति उदासी॥—सूरदास

+ +

पिया इतनी बिनती सुनो मोरी कोई कहियो रे जाय ॥टेक॥
औरन सूं रस बतियाँ करत हो हम से रहे चित चोरी।
तुम बिन मेरे और कोई, मैं सरनागत तोरी।

आवन कह गए अजहूँ न आये दिवस रहे अब थोरी।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे अरज करूँ कर जोरी ॥२७॥

शब्दार्थ—औरन सूं=अन्य स्त्रियों से। रस-बतियाँ=आनन्द से भरी बातें। कर जोरी=हाथ जोड़ कर।

अर्थ—अरे! कोई प्रियतम से इतनी जाकर कह दे कि हे प्रियतम! मेरी प्रार्थना सुनो। तुम अन्य स्त्रियों से तो आनन्द भरी बातें करते हो और हमारे चित्त की चोरी कर ले गये हो। तुम्हारे बिना मेरा और कोई नहीं है। मैं तुम्हारी शरण में आ गई हूँ। तुम आने के लिए कह गए थे लेकिन अभी तक नहीं आये। अब तो थोड़ी-सी अवधि ही शेष रह गई है। मीराँ कहती है कि हे प्रभु! तुम कब आकर मुझे दर्शन दोगे? मैं तुमसे हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रही हूँ।

विशेष—सूफी 'शबनम' के शब्दों में—'दिवस रहे अब थोरी' जैसी अभिव्यक्ति इस पद की विशेषता है। 'आवन कह गए अजहुँ न आये' पदाभिव्यक्ति कई अन्य पदों में भी मिलती है। ऐसे कुछ पदों में अवधि-सूचक 'पेहर पलटिया काया छेम' जैसी अभिव्यक्ति भी मिलती है परन्तु उपर्युक्त भावना किसी भी अन्य पद में प्राप्त नहीं।

× ×

पिया कूँ बता दे मेरे तेरा गुण मानूँ गी ॥टेक॥
खान पान मोहि फीको सो लागे, नैन रहे दोय छाय।
बार बार मैं अरज करत हूँ, रैण दिन जाय।
मीराँ के प्रभु बेग मिलो रे तरस तरस जिय जाय ॥२८॥

शब्दार्थ—फीको=स्वादहीन। नैन रहे दोय छाय=दोनों आँखें आँसुओं से भरी हुई हैं। तरस-तरस जिय जाय=तड़प-तड़प कर प्राण निकले जाते हैं।

अर्थ—अरे! कोई मेरे प्रियतम से यह जाकर बता दे तो मैं उसका उपकार मानूँगी कि मुझे उनके बिना खाना-पीना स्वादहीन लगता है और दोनों आँखें आँसुओं से भरी हुई हैं। मैं बार-बार प्रार्थना करती हूँ कि रात-दिन बीत रहे हैं—समय गुजरता हुआ जा रहा है—किन्तु प्रियतम नहीं आ रहे। मीराँ

कहती है कि हे मेरे प्रभु ! मुझे शीघ्र दर्शन दो क्योंकि तुम्हारे बिना मेरे प्राण तड़प-तड़पकर निकल जाते हैं ।

++

म्हांरो प्रणाम बांके बिहारी जी ॥टेक॥
मोर मुकट माथ्यां तिलक विराज्यां, कुण्डल अलकांकारी जी ।
अधर मधुर धर बंसी बजावां रीझ रिझावां ब्रज नारी जी ।
या छब देख्यां मोह्यां मीरां मोहन गिरवरधारी जी ॥२९॥

शब्दार्थ—म्हांरो=हमारा । बांके बिहारी=रसिक श्रीकृष्ण । मोर-मुकुट=मोर-पंखों का ताज । विराज्यां=शोभा देता है । अलकांकारी=काली लटें । अधर=होंठ । रिझावां=मोहित करते हैं । छब=छवि शोभा । मोह्यां=मोहित हो जाती है । मोहन=मन को मोहने वाला । गिरधारी=श्रीकृष्ण ।

अर्थ—हे रसिक कृष्ण ! तुम हमारा प्रणाम स्वीकार करो अथवा मैं तुमको प्रणाम करती हूँ । तुम्हारे सिर पर मोर-पंखों का ताज और माथे पर तिलक शोभा देता है । तुम कुण्डल (एक प्रकार का कानों का आभूषण) धारण किए हुए हो और तुम्हारे बालों की काली लटें अत्यन्त शोभा दे रही हैं । जब तुम अपने होंठ पर रखकर बंसी को बजाते हो तो तुम स्वयं उसके मधुर स्वर पर मोहित होकर सम्पूर्ण ब्रज की नारियों को मोहित करते हो । हे मन को मोहने-वाले तथा गिरि को धारण करने वाले कृष्ण ! तुम्हारी इस शोभा को देखकर मीरां तुम्हारे अनन्त सौन्दर्य पर मोहित हो जाती है ।

विशेष—१ कृष्ण के लिए 'बांके बिहारी' 'मोहन' और 'गिरधरधारी' सम्बोधन अत्यन्त भावपूर्ण हैं । बांकेबिहारी से कृष्ण के अनन्त सौन्दर्य का बोध होता है मोहन से उस सौन्दर्य का प्रभाव व्यक्त होता है और गिरधरधारी से उनकी भक्ति-वत्सलता प्रकट होती है । इस प्रकार मीरां ने सार्थक सम्बोधनों के द्वारा कृष्ण के विभिन्न रूपों का चित्रण कर दिया है ।

२ मोर-मुकुट अधर मधुर धर, मोह्यां मीरां मोहन में अनुप्रास अलंकार है ।

३ शब्द-चयन मधुर संगीत के अबाध प्रवाह में सहायक है ।

पाठान्तर—हमरो प्रणाम बाँके बिहारी को।
मोर मुकुट माथे तिलक बिराजे, कुण्डल अलकाकारी को॥
अधर मधुर पर बंसी बाजे, रीझ रीझावे राधा प्यारी को।
यह छवि देख मगन भई मीराँ, मोहन गिरधारी को॥

तुलना— काम को बलाय प्रद नाम को बलाय ऊधौ
स्याम सों हमारी राम-राम कह दीजियौ। —उद्धवशतक

× ×

बस्याँ म्हारे णेणण माँ नंदलाल ॥टेक॥
मोर मुगट मकराकृत कुण्डल अरुण तिलक सोहाँ भाल।
मोहण मूरत साँवराँ सूरत णेणा बण्या बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजाँ उर बैजन्ती माल।
मीराँ प्रभु संताँ सुखदायाँ भक्त बछल गोपाल ॥१०॥

शब्दार्थ—बस्याँ=बसो। णेणण माँ=नैनों मे आँखो में। मकराकृत=मकर या मछली के आकार का। अरुण=लाल। मोहण=मोहन मोह लेने वाली। साँवरा=साँवली। बण्याँ=बने हुए हैं। सुधारस=अमृत के रस के समान। राजाँ=राजती है सुशोभित होती है। उर=हृदय। बैजन्ती माल=बैजन्ती माला जिसे कृष्ण पहना करते थे। सुखदायाँ=सुख देने वाले। भक्त बछल=भक्त-वत्सल। गोपाल=कृष्ण।

अर्थ—हे कृष्ण! तुम मेरी आँखों में बसो। तुम्हारे सिर पर मोर-पंखों का मुकुट, कानों में मकर या मछली के आकार के कुण्डल और माथे पर लाल तिलक सुशोभित हो रहा है। तुम्हारी मूर्ति मन को मोह लेने वाली है तुम्हारी साँवली सूरत (देह) अत्यन्त शोभायुक्त है और तुम्हारी आँखें विशाल हैं। तुम्हारे होंठों पर अमृत के रस के समान जीवनदायिनी मुरली और हृदय पर बैजन्तीमाला शोभित है। मीरा कहती है कि हे प्रभु! तुम सदैव सन्तों को सुख देनेवाले हो इसीलिए हे कृष्ण! तुम भक्त-वत्सल कहलाते हो।

विशेष—१ कृष्ण के रूप-सौंदर्य का वर्णन भावात्मक और चित्रात्मक है।

२ मोर-मुकुट मकराकृत मोहण मूरत में एकाधिक बार व्यञ्जन-क्रम होने से अनुप्रास अलंकार है।

३ गोपाल सम्बोधन सूचक है। इससे कृष्ण की पालकता का बोध होता है।

पाठान्तर—बसो मोरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनी मूरत साँवरि सूरति नैना बने बिसाल।
अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजन्ती माल॥
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर सब्द रसाल।
मीराँ प्रभु संतन सुखदाई, भक्त बछल गोपाल॥

तुलना— १ बसे मेरे नयननि में नन्दलाल।
साँवरी मूरति माधुरी मूरति रुचिर नयन बिसाल॥
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल अरुण तिलक दिए भाल।
शंख चक्र गद पद्म विराजत कौस्तुभ मणि बनमाल।
बाजूबन्द अंगद के भूषण नूपुर (शब्द) रसाल।
दास मीराँ मन मोहन प्रिय भक्तन के प्रतिपाल॥
—सूरदास

२ सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानक मो मन बसौ सदा बिहारीलाल॥—बिहारी

× ×

हरि म्हारा जीवण प्राण अधार ॥टेक॥
और आसिरो णा म्हारा थें बिण तीनूं लोक मंझार।
थें बिण म्हाणे जग णा सुहावाँ निरख्यां सब संसार।
मीराँ रे प्रभु दासी रावली लीज्यो नेक णिहार ॥११॥

शब्दार्थ—हरि=कृष्ण। जीवण=जीवन। अधार=आधार, सहारा। आसरो=ठिकाना। थें बिण=तुम्हारे बिना। निरख्यां=निरख लिया देख लिया। नेक णिहार=तनिक देख लो। रावली=आपकी तुम्हारी।

अर्थ—हे कृष्ण! तुम मेरे जीवन और प्राणों के आधार हो। तीनों लोकों में तुम्हारे बिना मेरा और कहीं ठिकाना नहीं है। मैंने सारा संसार देखकर यह जान लिया है कि तुम्हारे बिना यह जगत अच्छा नहीं लगता। हे प्रभु! मीराँ तुम्हारी दासी है अतः इसकी ओर भी तनिक देख या कृपा करके इसे भी दर्शन दो।

विशेष—१ इस पद में भावपक्ष का प्राधान्य है, जिसके कारण हृदय की विनय-शीलता और विवशता साकार हो उठी है।

२ 'दीज्यो भेक सिहार' में भक्ति का गाम्भीर्य अन्तर्निहित है।

पाठान्तर—हरि मेरे जीवन प्राण अधार।
 और आसिरा नाहिंन तुम बिनु तीनूँ लोक मँझार॥
 आप बिना मोहि कछु न सुहावै, निरख्यो सब संसार।
 मीराँ कहै मैं दासी रावरी, दीज्यो मति बिसार॥

तुलना— गोविन्द जी तू मेरे प्रान अधार।
 साजन मीत सहाई तुमही तू मेरो परिवार॥ —गुरु नानक

× ×

तनक हरि चितवाँ म्हारी ओर॥टेक॥
हम चितवाँ थें चितवो णा हरि, हिवड़ो बड़ो कठोर।
म्हारी आसा चितवणि थारी और णा दूजा दोर।
ऊभ्याँ ठाढ़ी अरज करूँ छूँ करताँ करताँ भोर।
मीराँ रे प्रभु हरि अविनासी देस्यूँ प्राण अँकोर॥१२॥

शब्दार्थ—चितवाँ=देखो। थें=तुम। णा=नहीं। हिवड़ो=हृदय। दोर=दौड़ स्थान। ऊभ्याँ ठाढ़ी=आशा में खड़ी-खड़ी। भोर=प्रातःकाल अँकोर=न्यौछावर करना।

अर्थ—हे कृष्ण! तनिक हमारी ओर भी देखो। हे हरि! तुम्हारा हृदय बड़ा कठोर है कि हम तो तुम्हारी ओर देख रहे हैं तुम्हारी कृपा की प्रतीक्षा लगाए हुए हैं और तुम हमारी ओर नहीं देखते—कृपा नहीं करते। तुम्हारी कृपा से भरी हुई दृष्टि में ही हमारी आशा बनी हुई है और इसके अतिरिक्त हमारे लिए और कोई अन्य स्थान भी तो नहीं है। इसी आशा में खड़ी-खड़ी मैं तुम से विनय कर रही हूँ और इस विनय को करते करते प्रातःकाल हो गया है किन्तु तुम्हारी कृपा-दृष्टि नहीं हुई। मीराँ कहती है कि हे प्रभु! तुम अविनाशी हो, और तुम्हारे ऊपर ही मैं अपने प्राणों को न्यौछावर कर दूँगी।

विशेष—१ यहाँ हृदय की अनन्यता का प्रभावकारी वर्णन है।

२ 'अविनासी' शब्द का प्रयोग निर्गुण भक्तिधारा की ओर संकेत करता है।

३ 'म्हारी आसा चितवनि थारी' में पूर्ण समर्पण की भावना व्यक्त हो रही है।

४ 'देस्यूँ प्राण अँकोर' में समर्पण की पराकाष्ठा है।

कबीर आदि भक्त-कवियों ने भी इसी प्रकार की समर्पण-भावना दिखाई है यथा—

'यह तन जारौं मसि करूँ धुआँ जाय सरग्गि।
मति वै राम दया करि, बरसि बुझावैं अग्गि।।

पाठान्तर—तनक हरि चितवो जी मेरी ओर।
हम चितवत तुम चितवत नाहीं दिल के बड़े कठोर।
मेरी आसा चितवनि तुमरी, और न दूजी दौर।
तुम से हमकूँ कबर मिलोगे, हमसी लाख करोर।
ऊभी ठाढ़ी अरज करत हूँ अरज करत भयो भोर।
मीराँ के प्रभु हरि अबिनासी, देस्यूँ प्राण अँकोर।

तुलना—'साहिब चितवो हमारी ओर।
हम चितवें तुम चितवो नाहीं तुम्हारो हृदय कठोर।
औरन को तो और भरोसो हमें भरोसो तोर।।' —धर्मदास

म्हारो गोकुळ रो ब्रजवासी ।।टेक।।
ब्रजलीला लख जण सुख पावाँ ब्रजबणताँ सुखरासी।
णाच्याँ गावाँ ताल बजावाँ पावाँ आणद हाँसी।
णन्द जसोदा पुत्र रो प्रगट्याँ प्रभु अविनासी।
पीताम्बर कट उर बैजणताँ कर सोहाँ री बाँसी।।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, दरसण दीज्यो दासी ।।११।।

शब्दार्थ—गोकुळ रो=गोकुल का। जण=जन प्रत्येक व्यक्ति। ब्रज बणताँ=ब्रज-वनिता, ब्रज की नारियाँ। सुखरासी=अपार सुख। णन्द=नन्द, कृष्ण के पिता। कट=कटि। बैजणताँ=वैजयन्ती माला। बाँसी=बाँसुरी। रे=के। नागर=चतुर।

अर्थ—ब्रजवासी गोकुल में रहने वाला कृष्ण ही हमारा है, वही हमारा एक-मात्र आधार है। वे ब्रज में अपनी लीला करते हैं तो उसे देखकर प्रत्येक

भक्ति को सुख मिलता है और ब्रज की नारियाँ तो विशेष रूप से अपार सुख प्राप्त करती हैं। वे ब्रज-वनिता कितनी सौभाग्यशालिनी हैं जो कृष्ण के साथ नाचकर, गाकर और ताल बजाकर कृष्ण की मुस्कराहट से आनंद पाती हैं। नन्द और यशोदा का कोई पूर्वजन्म का पुण्य ही प्रकट हुआ है जिसके कारण अविनाशी प्रभु कृष्ण ने उनके यहाँ जन्म लिया है। कृष्ण की रूप-छवि भी अत्यन्त मनोहारिणी है। उनकी कटि पर पीला वस्त्र है हृदय पर वैजयन्ती-माला है और हाथ में बाँसुरी सुशोभित हो रही है। चतुर और गिरिधर कृष्ण ! मीराँ तुम्हारी दासी है अतः शीघ्र दर्शन दीजिए।

विशेष—१ कृष्ण की शोभा और लीलाओं का एवं तज्जन्य आनंद का परम्परागत वर्णन है।

२ 'नागर' में श्लिष्ट प्रयोग है। इसका एक अर्थ 'नागहीन' अथवा 'नागरीत' भी होता है जो मीराँ के निर्गुण पन्थी संस्कारों की ओर संकेत करता है।

××

✓ हे मा बड़ी बड़ी अँखियन वारो साँवरो मो तन हेरत हँसिके ।।टेक।।
भौंह कमान बान बंकि लोचन मारत हियरे कसिके।
जतन करो जन्तर लिखो बाँधो ओखद लाऊँ घँसिके।
ज्यों तोकों कछु और बिथा हो नाहिन मेरो बसिके।
कौन जतन करौं मोरी आली चन्दन लाऊँ घँसिके।
जन्तर मन्तर जादू टोना माधुरी मूरति बसिके।
साँवरी सूरत आन मिलावो ठाड़ी रहूँ मैं हँसिके।
रेजा रेजा भियो करेजा अन्दर देखो धँसिके।
मीराँ तो गिरधर बिन देखे, कैसे रहे घर बसिके ।।१४।।

शब्दार्थ—हेरत=देखता है। हियरे=हृदय पर। ओखद=औषधि। आली=सखी। रेजा-रेजा=टुकड़े-टुकड़े।

अर्थ—हे सखी ! यह बड़ी-बड़ी आँखों वाला कृष्ण हँस करके मेरे तन की शोभा देखता है। उसकी भौंहें कमान के समान हैं और बांके नेत्र बाण के

समान हैं जिन्हें वह कस-कस कर मेरे हृदय पर मारता है। (इस पर मीरां की सखी उत्तर देती है) मैं तुम्हारे हाथों पर यन्त्र-मन्त्र करके कोई तावीज आदि बाँध दूँ और किसी अच्छी औषधि को घिसकर लाऊँ। और यदि तुम्हें और कोई रोग है—प्रेम-रोग है—तो इसका उपचार करना मेरे बस की बात नहीं है। (इस पर मीरां उत्तर देती है) हे सखी! मैं चन्दन को घिसकर लगाते लगाते हार गई हूँ जन्त्र-मन्त्र और जादू-टोने करते-करते थक गई हूँ किन्तु मेरे रोग में फायदा ही नहीं पहुँचता क्योंकि हृदय में प्रियतम की मधुर मूर्ति बसी हुई है। अतः अब तुम्हीं बताओ कि मैं क्या करूँ। मेरे इस रोग का तो केवल मात्र यही इलाज है कि मुझे कृष्ण की साँवरी मूर्ति को मिला दो अर्थात् कृष्ण से मेरा साक्षात्कार करा दो। उनके दर्शन के लिए मैं सहर्ष खड़ी हुई प्रतीक्षा करती रहूँगी। तुम मेरे हृदय में झाँक कर देखो प्रिय के वियोग में मेरा हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया है। मीरां कहती है कि मैं तो कृष्ण को देखे बिना इस घर में नहीं रह सकती अर्थात् आराम से नहीं रह सकती।

विशेष—१ प्रेम का विकास सूक्ष्म और समुचित रीति से हुआ है।

२ 'रेजा रेजा भयो करेजा' में अनुप्रास के साथ ही नाद संगीत की सुमधुर संयोजना है।

३. संवादों के कारण भावों में और भी अधिक प्रबलता आ गई है।

४ कुछ परिवर्तनों के साथ यह पद चन्द्रसखी के नाम से भी मिलता है—

हेली के री माँ रो मन ले गये साँवलयारो, हँसिके।
मोहिं ध्यान बान मारके, सोचत मेरे हिये मारयो कस के।
रेजा रेजा भयो करेजा मेरो भीतर देखो धंस के॥
जतन करी अतर सिधि ल्यावों औखद लावों घस के।
रोम रोम विष व्याप रह्यो है कारो खायो डस के॥
जो कोई मोहन आनि मिलाव गले मिलूं मो हँस के।
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छबि बस्या रे चन्द घर बस के॥

पाठान्तर—पड़ो पड़ी अँखियन वारो साँवरो मो मन हरो हँसि के री।
मैं जल जमुना भरन जात री, सिर पर गगरि लचकि के री।
सुन्दर स्याम सलोने सूरति, मो चित लै चमिके री॥

अन्तर लिखि स्याबो मन्तर लिखि स्याबो, औषध स्याबो घसिके री।
जो कोई ल्यावै स्याम बैद कूँ वो उठि बैठूँ हँसि के री।
भृकुटि कमान बान बाँके लोचन, मारत हिये कसिके री।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, कैसे रहौं घट धसिके री॥

××

हेरी मा नन्द को गुमानी म्हारे मनड़े बस्यो ॥टेक॥
गहे द्रुमडार कदम को ठाड़ो मृदु मुसकाय म्हारी ओर हँस्यो।
पीताम्बर कट काछनी, काछे, रतन जटित माथे मुकुट कस्यो।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, निरख बदन म्हारो मनड़ो फँस्यो ॥१२॥

शब्दार्थ—गुमानी=गर्वीला घमंडी। मनड़े=मन में। द्रुम=वृक्ष पेड़। बदन=मुख।

अर्थ—हे सखि ! नन्द का घमंडी पुत्र कृष्ण हमारे मन में बस गया है। वह कदम के पेड़ की डाल पकड़े हुए खड़ा था और हमारी ओर मृदु स्वभाव के साथ हँस दिया। वह घुटनों तक पीली धोती बाँधे हुए था और माथे पर रत्नों से जड़ा हुआ मुकुट कसे हुए था। मीराँ कहती है कि मेरे प्रभु गिरधरनागर हैं जिनके मुख की शोभा देखकर हमारा मन फँस गया है—अर्थात् उनसे अटूट प्रेम हो गया है।

विशेष—१ 'गुमानी' शब्द का प्रयोग कवयित्री की आत्मीयता का सूचक है।
२ कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन परम्परागत है।
३ 'मनड़ो फँस्यो' का प्रयोग अत्यन्त भावपूर्ण है।

++

थारो रूप देख्याँ अटकी ॥टेक॥
कुल कुटम्ब सजण सकल बार बार हटकी।
बिसरयाँ ना लगण लगाँ मोर मुगट नटकी।
म्हारो मन मगन स्याम लोक कह्याँ भटकी।
मीराँ प्रभु सरण गह्याँ जाण्याँ घट घट की ॥१३॥

शब्दार्थ—थारो=तुम्हारे। देख्यां=देखकर। अटकी=अटक गई फँस गई। सजणा=लोग। हटकी=भर्त्सना की बाधाएँ डालीं। लगन=मग्न प्रेम। मगन=प्रसन्न। जाण्या=ज्ञाता जानने वाले। घट-घट की=प्रत्येक मनुष्य के मन की।

अर्थ—हे कृष्ण! तुम्हारा रूप-सौन्दर्य देखकर मैं तुम्हारे प्रेम में फँस गई हूँ। इस प्रेम के लिए मुझे सास और परिवार के लोगों ने बार-बार भर्त्सना दी है किन्तु मोर मुकुटधारी नटवर में लगा हुआ प्रेम नहीं छूटा। हमारा मन तो कृष्ण के प्रेम में पड़कर प्रसन्न होता है और दुनिया के लोग कहते हैं कि मैं भटक रही हूँ। मीराँ कहती है कि मैंने तो उस अन्तर्यामी प्रभु की शरण ले ली है जो प्रत्येक मनुष्य के मन की बातें जानते हैं।

विशेष—१ 'थारो' शब्द आत्मीयता का सूचक है।
२ 'कुल कुटुम्ब सब सजण' में अनुप्रास अलंकार है।

× ×

निपट बंकट छब अटके।
म्हारे नैणा निपट बंकट छब अटके ॥टेक॥
देख्याँ रूप मदन मोहन री पियत पियूख न मटके।
बारिज भवाँ अलक मैंमतवारी, ठाण रूप रस अँटके।
टेढ्याँ कट टेढ़े कर मुरली टेढ्याँ पाग लर लटके।
मीराँ प्रभु रे रूप लुभाणी गिरधरनागर नट के ॥१७॥

शब्दार्थ—निपट=नितान्त पूर्ण रूप से। बंकट=बाँका टेढ़ा। छब=छवि शोभा। पियूख=पीयूष अमृत। न मटके=चलायमान नहीं हुए। बारिज=कमल। कर=हाथ। लर=मोतियों की लड़ी।

अर्थ—हमारी आँखों में कृष्ण की बाँकी छवि पूर्णरूप से अटक गई है इस लिए यह अब निकलनी कठिन है। कामदेव को भी मोहने वाले कृष्ण के सौन्दर्य का अमृत पीकर भी ये चंचल नहीं हुए अर्थात् निर्निमेष दृष्टि से उन्हें देखते रहे। उनकी भौंह कमल के समान सुन्दर है उनकी लटें मतवाला बना देने वाली हैं और उनके नेत्र रूप-रस में अटके हुए हैं अर्थात् रूप के पारखी हैं। उनकी टेढ़ी कमर है और टेढ़े हाथ में मुरली लिए हुए हैं और

उनकी टेढ़ी पाग से (मुकुट में) मोतियों की लड़ी लटक रही है। मीराँ प्रभु और नटवर गिरधर नागर के सौन्दर्य पर मोहित हो गई है।

विशेष—१ कृष्ण की त्रिभंगी का वर्णन बहुत सुन्दर हुआ है।

२ यह वर्णन परम्परागत है। अनेक कवियों में ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है। यथा—

(अ) 'कहा कहौं इन नैननि की बात।
ये अलि प्रिया बदन अम्बुज रस अटके अनत न जात॥'—
—हितहरिवंश

(आ) 'हरि मुख निरखत नैन भुलाने।
ये मधुप रुचि पंकज लोभी ताहि तें न उड़ाने॥
—सूरदास

(इ) 'कहा दीजिए सीसि धरौं जिनसौं इन मोर पखानि को मटके।
मनुहारि फिरि लीजिए आप नहीं कतहूँ अटके न कहूँ भटके।
—घनानन्द

(ई) 'रूप सबै हरि वा नट को हियरे अटक्यो अटक्यो अटक्यो री।
—रसखान

पाठान्तर—निपट बंकट छबि अटके मेरे नैना, निपट बंकट छबि अटके।
देखत रूप मदन मोहन को, पियत पियूखन मटके।
बारिज भवाँ अलकों टेढ़ी, मनो अति सुगन्ध रस अटके।
टेढ़ी कटि टेढ़ी कर मुरली, टेढ़ी पाग लर लटके।
मीराँ प्रभु के रूप लुभानी, गिरधरनागर नट के॥

++

म्हा मोहणरो रूप लुभाणी॥टेक॥
सुन्दर बदन कमल दल लोचण बाँकी चितवण नैण समाणी।
जमणा किणारे कान्हा धेनु चरावाँ बंसी बजावाँ मीठाँ बाणी।
तन मन धन गिरधर पर वारी चरण कँवल मीराँ बिलमाणी॥१८॥

शब्दार्थ—म्हा=मैं। मोहणरो=कृष्ण के। समाणी=समा गई। बिलमाणी=विलीन हो गई, रम गई।

अर्थ—मीराँ कहती है कि मैं कृष्ण के रूप सौन्दर्य पर लुभा गई हूँ उन पर मोहित हो गई हूँ। उनका मुख तथा कानों आँखें सुन्दर हैं। उनकी बाँकी चितवन मेरी आँखों में समा गई है। कृष्ण यमुना के किनारे गायें चरा रहे थे और मधुर स्वर में बंशी बजा रहे थे। दासी मीराँ उन पर तन-मन-धन न्यौछावर करके उनके चरणों में रम गई है।

विशेष—१ पूर्वोक्त आत्म-समर्पण की अभिव्यक्ति सरल और प्रभावोत्पादक है।

२ कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन परम्परागत है।

पाठान्तर—या मोहन के मैं रूप लुभानी।
छाँड़ बाट मोहि रोक्यो टोक्यो, या रसिया की मैं सारी न जानी।
सुन्दर बदन कमल दल लोचन बाँकी चितवन मंद मुसकानी।
यमुना के नीरे तीरे धेनु चरावै, बंसी में गावै मीठी बानी।
तन मन धन गिरधर पर वारूँ, चरण कमल मीराँ लपटानी।

साँवरो नन्द नन्दन, दीठ पड्यो माई।
डार्यो सब लोक लाज सुध बुध बिसराई।
मोर चन्द्रका किरीट मुकुट जब सोहाई।
केसर को तिलक भाल लोचन सुखदाई।
कुण्डल झलकाँ कपोल अलकाँ लहराई।
मीरा तज सरवर ज्यों मकर मिलन धाई।
नटवर प्रभु वेष धर्यो रूप जग लोभाई।
गिरधर प्रभु अंग अंग मीरा बलि जाई॥१६॥

शब्दार्थ—नन्द-नन्दन=कृष्ण। दीठ=दृष्टि। चन्द्रका=पंख। कीरीट=मुकुट। झलकाँ=झलके। मीरा=मीन मछली। सरवर=तालाब। मकर=मगर।

अर्थ—हे सखी! जब से साँवरा कृष्ण मेरी दृष्टि पड़ा है अर्थात् उसे देखा है, तभी से मैं सारी लोक-लाज और सुधि-बुधि गवाँ बैठी हूँ। उनके सिर पर मोर-पंखों का बना हुआ मुकुट शोभा दे रहा है। माथे पर केसर का तिलक लगा हुआ है और उनके नेत्र सुख देने वाले हैं उनके कपोलों पर कुण्डलों

का प्रतिबिम्ब झलक रहा है उनकी लटें बिखर कर लहरा रही हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे मछली तालाब को छोड़कर मगर से मिलने आई हो। प्रभु कृष्ण ने नट का रूप धारण कर लिया है जिसके सौन्दर्य के समूचा संसार मोहित हो गया है। मीरां कहती है कि मैं कृष्ण के प्रत्येक अंग की शोभा पर अपने आपको न्यौछावर करती हूँ।

विशेष—१ कृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन परम्परागत है।
२ 'मीणा' 'आई' में उत्प्रेक्षा अलंकार है।
३ 'किरीट मुगट' में अधिक पदत्व दोष है।

पाठान्तर—१ जब ते मोहि नन्दनन्दन दृष्टि पड़यो माई।
तब से परलोक लोक कछु न सुहाई॥
मोरन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुण्डल की झलक झलक कपोलन पर छाई॥
मानो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
कुटिल तिलक भाल चितवन में टोना।
खंजन अरु मधुप मीन भूले मृग छौना॥
सुन्दर अति नासिका सुग्रीव तमीन रेखा
नटवर प्रभु वेष धरे रूप अति विसेखा॥
अधर बिम्ब अरुण नैन मधुर मन्द हाँसी।
दसन दमक दाडिम दुति चमकि चपला सी।
छुद्र घटिका किंकनी अनूप धुनि सुहाई।
गिरधर के अंग अंग मीराँ बलि जाई॥
जब से मोहि नन्दनन्दन दृष्टि पड़यो माई।
जमुना जल भरन गइ, मोहन पर दृष्टि गई।
गागर भरि गृह चलि, ममन न सुहाई।
गृह काज भूलि गई सुधि बुधि बिसराई॥
सास ननद उलझि परि, आऊँ कहाँ माई।

मोरन की चन्द्रकला किरीट मुकुट सोहै।
केसर के तिलक ऊपर तीन लोक मोहै॥
कानन में कुण्डल कपोलन पर छाई।
मानो मीन सरवर तजि, मकर मिलन आई।
काछनी कटि सोहै, पग नूपुर विराजै।
गिरिधर के अंग अंग मीराँ बलि जाई।

३ जब तें मोहि नन्दनन्दन दृष्टि पड़्यो माई॥
तब तें परलोक लोक कछू न सुहाई॥
मोहन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै॥
कुण्डल की अलक झलक कपोलन पर छाई।
मानो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई॥
भृकुटि कुटिल चपल नयन मधुर मंद हाँसी।
दसन दमन दाड़िम द्युति दमकै चपला सी॥
कम्बु कंठ सुभ विलासे ग्रीव तीन रेखा।
नटवर को भेष मानु सकल गुण विसेखा॥
छुद्र घंट किंकनी अनूप धुन सुहाई।
गिरिधर के अंग-अंग मीराँ बलि जाई।

४ जब मोहि नन्दनन्दन दृष्टि पड़्यो माई।
तब तें परलोक लोक कछु न सुहाई॥
मोर मुकुट चन्द्रका सु सीस मध्य सोहै।
केसरि को तिलक ऊपर तीन लोक मोहै॥
साँवरो त्रिभंग अंग चितवन में टोना।
खंजन औ मधुप मीन भूले मृग छौना॥
अधर बिम्ब असन नयन मधुर मंद हाँसी।
दसन दमन दाड़िम द्युति दमकै चपला सी॥
छुद्र घंटिका अनूप नूपुर धुनि सोहै।
गिरिधर के चरण कमल मीराँ मन मोहै॥

४ जब तें मोय नन्दनन्दन दृष्टि पड़्यो माई ।
हरि की कहा कहों सुन्दरता बरनी नहीं जाइ ॥
मोहन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै ।
केसर को तिलक भाल तीन लोक मोहै ॥
कुण्डल की अलक झलक कपोलन पर छाई ।
मानो मीन सरवर तज मकर मिलन आइ ॥
भृकुटि कुटिल अति बिसाल चितवन में टोना ।
खंजन और मधुप मीन भोंहे मृग छौना ॥
नासिका अति अनूप मन्द मन्द हाँसी ।
दसन बरन दामिनिद्युति चमकत चपला सी ॥
क्षुद्र कण्ट मुक्त बिसाल गिरीव तीन रेखा ।
नटवर को भेस मानो सकल गुण बिसेखा ॥
छुद्र घण्टिका अति अनूप किंकन धुनि सुहाई ।
(उस) गिरधर के अंग अंग मीराँ बलि जाइ ॥

× ×

नेणां लोभी अटकां सक्यां णा फिर आय ॥टेक॥
रूम रूम नखसिख सख्यां ललक ललक अकुलाय ।
म्हां ठाड़ी घर आपणे मोहन निकस्यां आय ।
बदन चन्द परगासतां मन्द मन्द मुसकाय ।
सकल कुटम्बां बरजतां बोल्या बोल बनाय ।
णेणा चंचल, अटक णा मान्यां परहथ गयां बिकाय ।
भलो कह्यां कांई कह्यां बुरोरी सब लयां सीस चढ़ाय ।
मीरां रे प्रभु गिरधरनागर बिण पल रह्यां णा जायां ॥४०॥

शब्दार्थ—नेणां=नेत्र । ललक-ललक=बार-बार अभिलाषा करके अकुलाय=दुखी होते हैं । म्हां=मैं । ठाड़ी=खड़ी । बदनचन्द=चन्द्र-सम परगासतां=प्रकाश करते हुए । बरजतां=वर्जना करना । बोल्या बोल बनाय=बना-बनाकर बातें करते हैं अर्थात् ताने मारते हैं । अटक=रोक । मान्यां=

मानते हैं। परहाथ=दूसरे के हाथ में कृष्ण के हाथों में। सह्या सीस चढ़ाय=सहन कर लिया है।

अर्थ—रूप-सौन्दर्य के लोभी मेरे नेत्र कृष्ण की रूपीय माधुरी पर अटक कर ऐसे लीन हो गए हैं कि वे फिर वापिस नहीं लौटे अर्थात् मैं कृष्ण के सौन्दर्य को अपलक नेत्रों से निहारती रही। मैंने उनका सम्पूर्ण सौन्दर्य देखा फिर भी उस सौन्दर्य को देखने के लिए मेरे नेत्र बार-बार इच्छा करके दुखी होते रहे। मैं तो अपने घर (घर के द्वार) पर खड़ी हुई थी कि अकस्मात् कृष्ण निकल आये। वे अपने चन्द्र-मुख के सौन्दर्य से प्रकाश फैला रहे थे और मन्द मन्द मुस्करा रहे थे। मेरे इस अकपटपन को देखकर मुझे मेरे कुटुम्बवालों ने अनेक धमकियाँ दीं और मुझे तरह-तरह के ताने मारे। मेरे चंचल नेत्रों ने कुटुम्बवालों की रोक को नहीं माना और वे अनेक आपत्तियाँ होते हुए भी कृष्ण के हाथों बिक गए अर्थात् मैं कृष्ण के रूप-सौन्दर्य पर पूर्णतः न्यौछावर हो गई। हे सखी! चाहे किसी ने मेरे इस व्यवहार को अच्छा बताया और चाहे बुरा बताया किन्तु मैंने सभी की बातों को मानकर स्वीकार किया अर्थात् अपने प्रेम-मार्ग में मैंने अच्छे-बुरे की तनिक भी चिन्ता नहीं की। मीरा कहती है कि मेरे प्रभु तो गिरधरनागर हैं और उनके बिना मुझसे एक पल भी नहीं रहा जा सकता।

विशेष—१ हृदय-पक्ष की प्रधानता है।

२ अनन्य भक्ति की सफल अभिव्यक्ति है।

३ 'लोग बताय' 'परहाथ गयो बिकाय' 'सह्या सीस चढ़ाय' मुहावरों के सशक्त प्रयोग हैं।

४ 'रोम-रोम' 'मन्द-मन्द' में वीप्सा और 'वै बदन चन्द' में रूपक अलंकार है।

पाठान्तर—नैना लोभी रे बहुरि सके नहिं आय।
रोम रोम नख शिख सब निरखत, ललकि रहे ललचाय॥
मैं ठाढ़ी गृह आपणे री, मोहन निकले आय।
वदन चन्द परकासत हेली, मन्द मन्द मुसकाय।

लोग कुटुम्बी बरजि रही बतियाँ कहत बनाय।
चंचल निपट अटक नहिं मानत, परहथ गये बिकाय॥
भली कहो कोइ बुरी कहो, सब लई सीस चढ़ाय।
मीराँ प्रभु गिरधर लाल बिनु, पलभर रह्यो न जाय॥

इस पद की अन्तिम पंक्ति इस प्रकार भी मिलती है।

मीराँ के प्रभु गिरधर के बिनु पलभर रह्यो न जाय।

कहीं-कहीं उपर्युक्त पद की तीसरी पंक्ति के पश्चात् यह पंक्ति भी मिलती है—

सारंग ओट तजे कुल अंकुस बदन दिये मुसकाय।

तुलना—१ बंसी बजावत आनि कढ़ो सों गली में अली कछु टोना सों डारें।
हेरि चितै तिरछी करि दृष्टि चलो गयो मोहन मूठि सी मारै॥
—रसखान

२ नंद को नवेलो अलबेलो छैल रस बर्यो
कालिह मेरे द्वार ह्वै के गावत इतै गयो।
बड़े बंकि नैन महा सोभा के स ऐन आली
मृदु मुसक्यान मुरि मो तन चितै गयो।
तब ते न मेरे चित्त चैन कहूँ रंचकी है,
धीरज न धरै सो न जानौं धौं कितै गयो।
नेकु ही मैं मेरो कछु मो पै न रहन पायो,
चौचक ही प्राण भटू लूट सी बितै गयो॥—घनानंद

३ हरि-मुख निरखत नैन भुलाने।
ये मधुकर रुचि-पंकज-लोभी ताही तें न उड़ाने॥—सूरदास

+ +

आली री म्हारे नैणां बाण पड़ी ॥टेक॥
चित्त चढ़ी म्हारे माधुरी मूरत हिवड़ा अणी गड़ी।
कब री ठाढ़ी पंथ निहारां अपने भवण खड़ी।
अटक्याँ प्राण साँवरो प्यारो, जीवण मूर जड़ी।
मीराँ गिरधर हाथ बिकाणी लोग कह्याँ बिगड़ी॥४१॥

शब्दार्थ—आली=सखी। बाण=आदत। हिवड़ा=हृदय। अणी=अनी क। मूर=मूल। हाथ बिकाणी=हाथों में बिक गई, पूर्णतः समर्पित हो गई। गाड़ी=पथ भ्रष्ट हो गई।

अर्थ—हे सखी! कृष्ण की रूप-माधुरी को देखने की मेरे नेत्रों की आदत न गई है अर्थात् मेरे नेत्र सहज एवं निर्निमेष रीति से कृष्ण की रूप-माधुरी का निरन्तर पान करना चाहते हैं। मेरे मन में कृष्ण की मधुर मूर्ति बसी हुई अर्थात् मैं निरन्तर कृष्ण की मोहिनी मूर्ति को देखती रहती हूँ और उस र्ति की नोक मेरे हृदय में गड़ गई है। मैं कब से अपने भवन पर खड़ी हुई अपने प्रियतम का पंथ निहार रही हूँ। मेरे प्राण उसी प्रिय साँवले कृष्ण की र्ति में अटक गये हैं जो मेरे जीवन के लिए संजीवनी के समान हैं। मीरां कहती है कि मैं तो पूर्णतः कृष्ण पर समर्पित हो चुकी हूँ और दूसरे लोग कहते हैं कि मैं पथ-भ्रष्ट हो गई हूँ अर्थात् मेरे प्रेम पंथ में अनेक बाधायें हैं जिनका मैं सहर्ष मुकाबला कर रही हूँ।

विशेष—१ 'री' की लुप्त-ध्वनि में हृदय की विवशता-भरी व्यथा सजीव हो उठी है।

२ 'हिवड़ा अणी गड़ी' 'हाथ बिकाणी' मुहावरों का सुन्दर प्रयोग है।

पाठान्तर—आली री मोरे नैनन बान पड़ी।

✓ चित चढ़ी मेरे माधुरी मूरत उर बिच आन अड़ी।
कब की ठाड़ी पंथ निहारूँ अपने भवन खड़ी॥
कैसे प्राण पिया बिन राखूँ, जीवन मूल जड़ी।
मीराँ गिरिधर हाथ बिकानी, लोग कहैं बिगड़ी॥

तुलना—इसी भाव के द्योतक मीरां के निम्नलिखित पद भी हैं।

१ माई मेरे नयन बान परी री।
जा दिन नयना स्यामहिं देख्यो बिसरत नाहिं घरी री॥
चित बस गई साँवरी मूरत उर तें नाहिं टरी री।
मीरां हरि के हाथ बिकानी सरबस है निबरी री॥

२ नयन परि गई ऐसी बानि।
नैक निहारत पिया जू के मुख सुख पुरि गई कुल कानि॥

राणा जी बिष को प्यालो भेज्यो मैं सिर लीनी मानि ।
मीराँ के गिरधर मिले हो, पुरबली पहिचानि ॥

३ नैणा री हो पड़ गई बाँण ।
बार बार निरखू मुख सोभा घूर गई बाँण ।
कोई भला कहो कोई बुरा कहो मैं सिर लीनी ताँण ।
मीराँ के प्रभु गिरिधरनागर, पुरबली पिछाँण ॥

पद्मावती 'शबनम' ने इन सबों को एक-दूसरे का मेय रूपान्तर माना है।

प्रायः सभी कृष्ण भक्त कवियों ने 'हृदय में गड़ जाना' मुहावरे का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ सूर की ये *पंक्तियाँ* देखिए—

उर में माखन चोर गड़े ।
अब कैसेहुँ निकसत नहिं ऊधौ तिरछे ह्वै जै अड़े ॥
नेणा बणज बसावाँ री, म्हारा साँवरा आवाँ ॥टेक॥
नैणा म्हाँता साँवरा राख्याँ डरताँ पलक णा लावाँ ।
म्हाँरो हिरदाँ बस्याँ मुरारी पल पल दरसण पावाँ ।
स्याम मिलण सिंगार सजावाँ सुखरी सेज बिछावाँ ।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, बार बार बलि जावाँ ॥४२ ॥

शब्दार्थ—बणज=कमल के समान कोमल । पलक णा लावाँ=पलक न मारना आँखें खुली ही रखना ।

अर्थ—हे सखी ! मैंने अपने नैनों में कमल के समान कोमल साँवरे कृष्ण को बसा लिया है। मेरे नैनों में अब श्यामवर्ण कृष्ण का ही राज्य है अर्थात् मेरी आँखें कृष्ण की माधुरी के अतिरिक्त और किसी पदार्थ को नहीं देखती इसीलिए मैं डर के मारे पलक भी नहीं मारती क्योंकि मुझे उनका एक क्षण का वियोग भी सह्य नहीं है। मेरे हृदय में कृष्ण बसा हुआ है जिसके कारण मैं प्रत्येक पल उनका दर्शन करती रहती हूँ। कृष्ण से मिलने के लिए मैं शृंगार सजाती हूँ और सुख की सेज बिछाती हूँ। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधर नागर हैं जिन पर मैं बार-बार न्यौछावर होती हूँ ।

विशेष—१ 'हरतों पलक ण लाऊँ' म अनन्य प्रेम की अभिव्यक्ति साकार हो उठी है।

२ म्हारो हिरदाँ बस्यो मुरारी' म निर्गुण ब्रह्म की ओर संकेत है जो सबके घट में बसा हुआ है कबीर के शब्दों में—

'कस्तूरी कुन्डल बसै, मृग ढूँढै बन माँहि।
ऐसे घट घट राम है, दुनिया देखे नाँहि॥

पाठान्तर—नैनन बनज बसाऊँ री जो मैं नाहिब पाऊँ।
इन नैननि मेरा साहिब बसता, डरतो पलक न लाऊँ री।
त्रिकुटी महल मना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल म में सुरत जाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, बार-बार बलि जाऊँ री॥

× ×

✓ ऐसा प्रभु जाण म दीजै हो ॥टेक॥
तन मन धन करि वारणै हिरदै धरि लीजै हो।
आव सखी मुख देखिये नणाँ रस पीजै हो।
जिह जिह विधि रीझै हरि सोई विधि कीजै हो।
सुन्दर स्याम सुहावणा देख्याँ जीजै हो।
मीराँ के प्रभु राम जी, बड भागण रीझै हो॥७६॥

शब्दार्थ—वारणै=न्यौछावर करना। आव=आओ। जिह-जिह=जिस जिस। रीझै=प्रसन्न होना। जीजै=जीवित रहना। बड भागण=बड भाग्य से बड़े भाग्य वाली।

अर्थ—हे सखी! ऐसे प्रभु को जो अनुपम और परम सुन्दर है अपने से अलग मत होने दे। उस पर तन-मन और धन को न्यौछावर कर अपने हृदय में धारण कर ले। आओ उस प्रभु की अनुपम छवि को देखो और नत्रों के द्वारा उसकी रूप छवि का पान करो। वह प्रभु सुन्दर श्यामवर्ण और सुहावना है इसलिए उसके मुख को देखकर जीवित रह अर्थात् उसके सौंदर्य-दर्शन का ही जीवन का ध्येय बना। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी राम है जो बड़े भाग्य से ही रीझते हैं। अथवा बड़े भाग्य वाली ही राम पर रीझती है।

विशेष—१ अनन्य भाव का सुन्दर प्रकाशन है।
२ 'राम जी' शब्द का प्रयोग मीरां की सहज भक्ति का द्योतक क्योंकि मीरां राम और कृष्ण में किसी प्रकार का भेद स्वीकार नहीं करती
३ 'बड़ भागण' में श्लेष अलंकार है।

++

म्हां गिरधर आगां नाच्यां री ॥टेक॥
णाच णाच म्हां रसिक रिझावां प्रीत पुरातन जांच्यां री।
स्याम प्रीत री बाँधि घूंघरयां मोहण म्हारो सांच्यां री।
लोक लाज कुलरा मरज्यादां जगमां णेकणा राख्यां री।
प्रीतम पल छण णा बिसरावां मीरां हरि रँग राच्यांरी ॥४४॥

शब्दार्थ—म्हां=मैं। रसिक=कृष्ण। कुलरा=कुलकी। णेकणा=तनिक भी। राच्यां=रंग जाना।

अर्थ—मैं कृष्ण के आगे नाचूंगी। मैं नाच-नाच करके उस रसिक कृष्ण को रिझाऊंगी और पुराने प्रेम की परीक्षा करूंगी। मैंने अपने पैरों में कृष्ण की प्रीति के घुंघरू बाँध लिये हैं और मुझे यह विश्वास है कि मेरा प्रियतम कृष्ण अपनी प्रीति में सांचा है। मैं अपनी प्रीति दीवानी हो गई हूँ कि लोक लाज और कुल की मर्यादा इन दोनों को ही मैंने तिलांजलि दे दी है और संसार में इनको मैंने तनिक भी बचाकर नहीं रखा है अर्थात् मैं पूर्णतया कृष्ण के प्रति समर्पित हो गई है। मीरां कहती है कि मैं अपने प्रभु की छवि को पलभर के लिए भी नहीं छोड़ती क्योंकि मैं तो इनके प्रेम के रंग में रँगी हुई हूँ।

विशेष—१ भक्ति की मदोन्मत्तता का चित्रण है।
२ 'रँग राच्यां री' मुहावरे का सुन्दर प्रयोग है।
३ 'प्रीतम पल छण णा बिसरावां' में प्रेम की अनन्यता का वर्णन है।

पाठान्तर—पितनन्दन आगे नाचूँगी।
नाच नाच पिय रसिक रिझाऊँ, प्रेमी जन को जाचूँगी॥
प्रेम प्रीत का बाँध घूँघरा सुरत की कछनी काछूँगी।

छोड़ लाज कुल की मरजादा, या मैं एक न राखूँगी।
पिया के पलगा जा पोढूँगी, मीराँ हरि रंग राचूँगी ॥

तुलना—कृष्ण के रंग में रंगे जाने पर नाचने की बात मीराँ ने अनेक पदों में कही है। यथा—

१ पग घूँघरू बाँध मीराँ नाची रे।
   मैं तो मेरे नारायण की आप ही हो गई दासी रे ॥
२ घूँघरू बाँध मीराँ नाची रे, पग घूँघरू।
   लोग कहैं मीराँ हो गई बावरी सास कहै कुलनासी रे ॥

++

✓ म्हारां री गिरधर गोपाल दूसरां णा कूयां।
दूसरां णां कूयां साधां सकल लोक जूयां ॥टेक॥
भाया छांड्यां बन्धा छांड्यां सगां सूयां।
साधां ढिग बैठ बैठ लोक लाज खूयां।
भगत देख्यां राजी ह्यां जगत देख्यां रूयां।
दूध मथ घृत काढ़ लयां डार दया छूयां।
राणा विषरो प्यालो भेज्यां, पीय मगण हूयां।
मीराँ री लगण लग्यां होणा हो जो हूयां ॥४५॥

शब्दार्थ—कूयां=कोई। जूयां=देख लिया है। भाया=भाई। साधां=साधु। ढिग=पास। रूयां=रोई। दध=दही। छूयां=छाछ, सारहीन पदार्थ। मगण=प्रसन्न।

अर्थ—मेरा तो गिरधर गोपाल के अलावा और कोई दूसरा नहीं है, अर्थात् एकमात्र वही मेरा प्राणाधार है। हे साधु ! मैंने सारा जग देख लिया है कृष्ण के अतिरिक्त मेरा कोई दूसरा है ही नहीं। उस कृष्ण के लिए मैंने अपना भाई छोड़ दिया है अर्थात् उसके लिए संसार के समस्त प्रिय नाते समाप्त कर दिये हैं। मैंने साधुओं के पास बैठ-बैठ कर लोक की लाज को खो दिया है। कृष्ण भक्त को देखकर मैं प्रसन्न होती हूँ और संसार की सांसारिकता को देखकर मुझे रोना आता है। मैंने अपने आँसुओं से सींच-सींच कर अपने हृदय में कृष्ण के प्रेम की बेल बो ली है और दही को मथकर उसमें से

भी निकाल लिया है तथा छाछ को छोड़ दिया है अर्थात् सार तत्व ग्रहण कर लिया है और असार तत्व छोड़ दिया है। राणा ने मुझे कृष्ण भक्ति से विमुख करने के लिए विष का प्याला भेजा था जिसे मैंने प्रसन्न होकर पी लिया। मीराँ कहती है कि अब तो मेरी लगन गिरधारी कृष्ण से लग गई है यह छूट नहीं सकती चाहे जो हो।

विशेष— १ मीराँ की अनन्य भक्ति की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है।
२ भक्ति की दृढ़ता भी दर्शनीय है।
३ 'असुवाँ जल सींच सींच प्रेम बेल बूयाँ' में प्रेम की दृढ़ता सात्विकता और तरलता व्यक्त हुई है।
४ मीराँ के जीवन के अनेक संस्मरणों का संकेत है।

पाठान्तर— १ मेरे तो राम नाम दूसरो न कोई।
दूसरा न कोई साधो सकल लोक जोई।
भाई छोड़्या बन्धु छोड़्या छोड़्या सगा सोई।
साध संग बैठ-बैठ लोक लाज खोई॥
भगत देख राजी हुई जगत देख रोई।
प्रेम नीर सींच-सींच प्रेम बेल बोई॥
दधि मथ घृत काढि लियो डार दई छोई।
राणा विष को प्याला भेज्यो पीय मगन होई॥
अब तो बात फैल पड़ी जाणे सब कोई।
मीराँ राम लगण लागी होणी होय सो होई॥
२ मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई॥
तात मात भ्रात बन्धु, आपना नहिं कोई।
छाँड़ि दई कुल की कान क्या करेगा कोई॥
संतन ढिग बैठि बैठि, लोक लाज खोई।
चुनरी के किए टूक टूक, ओढ़ लीन्हीं लोई॥
मोती मूँगे उतार, बन माला पोई।
असुवन जल सींचि सींचि, प्रेम बेलि बोई॥

अब तो बेल फैलि गई आनन्द फल होई।
दूध की मथनियां बड़े प्रेम से बिलोई॥
माखन सब काढ़ि लियो, छाछ पिये कोई।
आई मैं भक्ति काज, जगत देखि रोई।
दासी मीराँ गिरधर प्रभु, तारो अब मोई॥

++

माई साँवरे रँग राँची ॥ टेक ॥
साज सिंगार बाँध पग घूँघर, लोकलाज तज नाँची।
गयाँ कुमत लयाँ साधाँ संगत स्याम प्रीत जग साँची।
गायाँ गायाँ हरि गुण निसदिन, काल ब्याल री बाँची।
स्याम बिणा जग खाराँ लागाँ जगरी बाताँ काँची।
मीराँ सिरी गिरधर नट नागर, भगति रसीली जाँची ॥८२॥

शब्दार्थ—राँची=रँग गई। कुमत=कुबुद्धि दुर्मति। लयाँ=लेकर, ग्रहण करके। साँची=सच्ची। ब्याल=सर्प। बाँची=बच गई। खारा=निस्सार। काँची=कच्ची नश्वर। रसीली=रसपूर्ण, आनंद से भरी हुई। जाँची=देखी।

अर्थ—हे माई! मैं तो श्यामवर्ण कृष्ण के रंग में रँग गई हूँ अर्थात् मुझे उनसे अनन्य प्रीति हो गई है। इसलिए मैं उनके सम्मुख शृंगार सजा कर और घूँघरू बाँध कर नाची हूँ अर्थात् भावातिरेकता के कारण उन्मत्त होकर उनका कीर्तन किया है। साधुओं की संगति ग्रहण करने के कारण मेरी कुबुद्धि नष्ट हो गई है मुझे सच्चा ज्ञान मिल गया है और मैंने यह जान लिया है कि कृष्ण का प्रेम ही सच्चा होता है। मैं रात-दिन कृष्ण के गुण-गान करती रहती हूँ इसलिए मैं काल रूपी सर्प से बच गई हूँ। कृष्ण के बिना यह सारा संसार निस्सार दिखाई देता है और संसार की बातें—पदार्थ—सब नश्वर परिलक्षित होते हैं। मीराँ कहती है कि मैंने अच्छी तरह परख कर देख लिया है अनेक प्रकार की लीलाएँ दिखाने वाले श्री कृष्ण की भक्ति ही आनंद प्रदान करने वाली है।

काव्य-सौष्ठव—१ आराध्य देव के प्रति अटूट विश्वास की अभिव्यक्ति।

२ सरल हृदय के उज्ज्वल भावों की सरसाभिव्यक्ति ।
३ 'स्याम बिणा जग खारो लागो' में विनोक्ति अलंकार ।

× ×

पाठान्तर—राणाजी मैं तो साँवरे रंग राँची ।
साजि सिंगार बाँध पग घूँघरू, लोक लाज तजि नाँची ॥
गई कुमति लई साधु की संगति, भगत रूप भई साँची ।
गाय गाय हरि के गुण निस दिन, काल ब्याल सों बाँची ॥
उण बिन सब जग खारो लागत और बात सब काँची ।
मीराँ श्री गिरधरलाल सूँ, भगति रसीली जाँची ॥

+ +

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ॥ टेक ॥
गिरधर म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ ।
रैण पड़ै तब ही उठि जाऊँ भोर भये उठि आऊँ ।
रैण दिना वाके संग खेलूँ, ज्यूँ त्यूँ वाहि रिझाऊँ ।
जो पहिरावै सोई पहिरूँ जो दे सोई खाऊँ ।
मेरी उणकी प्रीत पुराणी, उण बिन पल न रहाऊँ ।
जहाँ बैठावें तितही बैठूँ बेचे तो बिक जाऊँ ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, बार बार बलि जाऊँ ॥४६॥

शब्दार्थ—प्रीतम=प्रियतम । रैण=रात्रि रात । भोर=प्रातःकाल सुबह । ज्यूँ त्यूँ=ज्यों-त्यों हर प्रकार से । होई=सोई ।

अर्थ—मैं तो कृष्ण के घर जाऊँगी । कृष्ण ही मेरा सच्चा प्रियतम है उसके रूप को देखते ही मैं उसके सौन्दर्य की लोभी बन जाती हूँ । जैसे ही रात होगी मैं यहाँ से उठकर उनके घर पहुँच जाऊँगी और प्रातःकाल होते ही वहाँ से वापिस आ जाऊँगी । रात-दिन उसीके साथ खेलती रहूँगी । वह जो कुछ पहनने को देगा वही पहन लूँगी जो खाने को देगा वही खा लूँगी । मेरा और उनका पुराना प्रेम है, बिना उनके मैं एक पल भी नहीं रह सकती । वह जहाँ बैठायेगा मैं वहीं बैठ जाऊँगी और यदि वह बेचना चाहेगा तो मैं सहर्ष बिक भी जाऊँगी । मीरा कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधर नागर हैं, जिन पर मैं बार बार बलि जाती हूँ ।

काव्य-सौष्ठव—१ समर्पण की महती भावना की अभिव्यक्ति।
२ 'बेचे तो बिक जाऊँ' में इस भावना की पराकाष्ठा।

× ×

तुलना—कबिरा कुत्ता राम का मुतिया मेरा नाँउ।
गले राम की जेवरी जित खैंचे तित जाऊँ॥

+ +

सखि म्हारो सामरियाने, देखवाँ कराँरी ॥टेक॥
साँवरो उमरण साँवरो सुमरण, साँवरो ध्यान धराँ री।
ज्याँ ज्याँ चरण धरयाँ धरती धर, त्याँ त्याँ निरत कराँरी।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, कुंजाँ गल फिरारी ॥४७॥

शब्दार्थ—सामरिया=श्यामवर्ण श्री कृष्ण। निरत=नृत्य नाच।

अर्थ—हे सखी! मैं तो नित्यप्रति श्यामवर्ण श्री कृष्ण के ही दर्शन किया करती हूँ। मेरे चिन्तन-मनन का विषय भी वही कृष्ण है और मैं उसी का ध्यान धारण किया करती हूँ। जहाँ-जहाँ उन्होंने धरती पर अपना पैर रखे हैं, वहीं-वहीं हर्षातिरेक से मैं नृत्य किया करती हूँ। मीरा कहती है कि मेरे प्रभु गिरिधारी नागर हैं जो कुंजों में साथ-साथ विचरण करते हैं।

विशेष—१ भक्ति की सहज अभिव्यक्ति।
२ 'धरणाँ धरती धर' में अनुप्रास अलंकार।
३ तीसरी पंक्ति में क्रमालंकार।

पाठान्तर—मैं तो म्हाँरा रमैया ने, देखबो करूंगी।
तेरो ही सुमरण तेरो ही समरण, तेरो ही ध्यान धरूंगी॥
जिहाँ-जिहाँ पाँव धरे मेरे प्रभु जी, तहाँ तहाँ निरत करूंगी।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, चरण में लिपट रहूँगी॥

× ×

माई री म्हा लियाँ गोविन्दाँ मोल ॥टेक॥
थे कह्याँ छाणे म्हाँ काँ चोड्डे, लियाँ बजन्ता ढोल।
थे कह्याँ मुँहोघो म्हाँ कह्याँ सस्तो, लिया री तराजाँ तोल।
तण वाराँ म्हाँ जीवण वाराँ, वाराँ अमोलक मोल।
मीराँ कूँ प्रभु दरसण दीज्याँ, पूरब जन्म को कोल॥

शब्दार्थ—म्हां=मैं। थें कह्यां=तुम कहती हो। छाने=छिपकर। म्हां कां=मैं कहती हूँ। चवड़े=खुले आम। बजन्ता ढोल=ढोल बजाकर अर्थात् प्रकट रूप से। मुंहोघो=महँगा। तराजां=तराजू। कोल=वचन।

अर्थ—हे सखी! मैंने तो श्रीकृष्ण को मोल ले लिया है। तुम कहती हो कि मैंने उसे छिपकर मोल लिया है और मैं कहती हूँ कि मैंने उसे खुले आम खरीद लिया है खूब ढोल बजा-बजा कर लिया है। तुम कहती हो कि यह सौदा बहुत मँहगा है और मैं कहती हूँ कि यह बहुत सस्ता है, क्योंकि मैंने इसे भली-भाँति तराजू में तोल कर देख लिया है अर्थात् अच्छी प्रकार से नाप-तौल कर परख लिया है। मैंने उस कृष्ण पर अपना तन न्यौछावर कर दिया है और अपनी समस्त अमूल्य वस्तुओं को समर्पित कर दिया है। हे प्रभु! इसलिए तुम मीरां को दर्शन दो क्योंकि पूर्वजन्म में भी तो तुमने दर्शन देने का वचन दिया था।

काव्य-सौष्ठव—१ 'लियो गोविन्दा मोल' में पूर्ण समर्पण की अभिव्यक्ति हुई है।

२ दर्शन प्राप्त करने का तर्क बहुत ही सरल और प्रभावक है।

३ किंवदन्ती है कि मीरां पिछले जन्म में दर्शन देने का वचन दिया था। मीरां ने इसी घटना की ओर 'पूरब जन्म को कोल' कहकर संकेत किया है। श्री नाभादास जी ने भी 'भक्तमाल' में इस घटना को इंगित किया है—

'सदरिस गोपिन प्रेम प्रगट, कलियुगहिं दिखायो।
निर अंकुस अति निडर, रसिक जस रसाना गायो॥

४ 'बजन्ता' शब्द का प्रयोग ध्वन्यात्मक है।

पाठान्तर—

१ माई मैं तो लीयो मोल।
कोई कहै छानी, कोइ कहै चोरी लियो है बजन्ता ढोल॥
कोई कहै कारो, कोई कहै गोरो, लियो है अखीं खोल॥
कोइ कहै हल्का, कोई कहै महँगा लियो है तराजू तोल॥
तन का गहना मैं सब कुछ दीन्हा, दिया है बाजूबन्द॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, पूरब जनम का कोल॥

२ माई म्हें गोविन्द लीनो मोल।
कोई कहे सस्तो, कोइ कहे महंगो, लीनी तराजू तोल॥
कोई कहे घर में, कोई कहे वन में, राधा के सग किलोल।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, आवत प्रेम के मोल।
३ माई मैं तो लीयो री गोविन्दो मोल।
कोई कहे सोंहगो, कोई कहे मेंहगो लियो री तराजू तोल।
कोइ कहे छाने, कोइ कहे छुरके, लीयो री बजन्ता ढोल॥
माइ तो सब लोग जानत हैं, लियो अमोला मोल।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, पूरब जनम का कोल॥
४ मैं तो गोविन्द लीन्हा मोल।
कोई कहे मेंहगा, कोइ कहे सस्ता लियो तराजू तोल॥
ब्रज के लोग करे सब चर्चा, लियो बजा के ढोल।
सुर नर मुनि जाकी पार न पावे, ढक लिया प्रेम पटोल॥
जहर पियाला राणाजी भेज्याँ, पिया मैं अमृत घोल।
मीराँ प्रभु के हाथ बिकानी, सरबस दीना मोल॥
५ माई मैं तो लियो है साँवरियो मोल।
कोई कहे सूघो, कोई कहे मूहगो, (मैं तो)
लियो है हीरा सूं तोल॥
कोई कहे हलका, कोई कहे भारी (मैं तो)
लियो री आत्मढिया तोल।
कोइ कहे घटतो, कोई कहे बढ़तो, (मैं तो) लियो है बराबर तोल॥
कोइ कहे कालो, कोइ कहे गोरो, (मैं तो)
राख्यो है घूंघट पट खोल।
मीराँ कहे प्रभु गिरधरनागर, म्होरे पूरब जनम के कोल॥
६ माई मैं तो लियो छै सावरियो मोल।
कोई कहे हलको, कोई कहे भारी, (मैं तो) लियो छै तराजू तोल।
कोई कहे मोंगो, कोई कहे सैंगो, (मैं तो) लियो छै अमोलक
कोई कहे छाने कोई कहे चोड़, (मैं तो) लियो छै बजन्ता।

गंगा जमणा कामणा म्हारे, म्हाँ जावाँ दरियावाँरी।
हेल्या हेल्या कामणा म्हारे, पैठ्या मिल सरदाराँ री।
कामदाराँ सूँ कामण म्हारे, जाबा जाव म्हा दरबाराँ री।
काच कथीर सूँ कामण म्हारे, चढ़स्याँ घणरी सार्याँरी।
सोना रूपाँ सूँ काम ण म्हारे, म्हारे हीराँ रो बौपाराँ री।
भाग हमारो जाग्यो रे, रतणाकर म्हारी सीर्याँ री।
अमृत प्यालो छाड्याँ रे, कुण पीवाँ कड़वाँ नीरा री।
भगत जणाँ प्रभु परचाँ पावाँ, जगताँ रहाँ दूर्याँरी।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर, मणरथ करस्याँ पूर्याँरी॥१०॥

शब्दार्थ——ताला लाग्याँ=सम्बन्ध हो गया लगन लग गई। पुरबला पुन=पूर्वजन्म का पुण्य। भीलर्याँ=भील जलाशय। छीलरा=छोटा तालाब। दरियाव=समुद्र। हेल्या-मेल्या हेल-मेलदूरका सम्बन्ध। कामदारी=प्रहरी पहरेदार। काच=काँच। कथीर=राँग। सार्याँ=लोहा। रूपाँ। सीर्याँ=सम्बन्ध। नीरा=नीर, पानी। मणरथ=मनोरथ मन की इच्छा।

अर्थ—बड़े घर में ताला लग गया है अर्थात् संसार का अतुल वैभव मेरे लिए समाप्त हो गया है—मुझे संसार के प्रति कोई आसक्ति नहीं रही है। इसका कारण यह है कि अवश्य ही मेरे पूर्वजन्म के किए हुए पुण्य उदय हो गए हैं। मेरा न तो भील से कोई सम्बन्ध है, न छोटे तालाब से और न गंगा-यमुना से मेरा सम्बन्ध तो सागर से है, अर्थात् कृष्ण जैसे महत्तम आराध्य को छोड़कर अन्य छोटे-छोटे देवताओं से मेरा कोई सरोकार नहीं है। उसके दरबार में पहुँचने के लिए अन्य लोगों से मेल-जोल करने की मुझे कई आवश्यकता नहीं है क्योंकि मैं तो उसके सरदारों में ही स्थान पा चुकी हूँ। इसलिए मेरा पहरेदार से कोई मतलब नहीं है। मैं तो सीधी उसके दरबार में जाती हूँ अर्थात् कृष्ण से मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। मैं लोहे की घन पर चढ़ चुकी हूँ इसलिए काँच और राँग से मेरा कोई लगाव नहीं है क्योंकि ये तो घन पर पहुँचकर स्वयं ही चकनाचूर हो जाते हैं। मेरा न तो सोने से कोई काम है और न तो चाँदी से। मैं तो हीरों का व्यापार करती हूँ। मेरा सौभाग्य जग गया है

और रत्नों के ढेर से ही मेरा सम्बन्ध है। अमृत का प्याला छोड़कर कडुवे पानी को पीना भला कौन पसन्द करेगा ? मेरा भक्तगणों से परिचय हो गया है इसलिए तुच्छ व्यक्तियों से मैं दूर रहती हूँ। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधरनागर हैं जो मेरी सब इच्छाओं को पूरा करेंगे।

विशेष—१ अनन्य भक्ति की सुन्दर अभिव्यंजना।

२ प्रतीकात्मक शब्दावली का प्रभावशाली प्रयोग।

३ 'काच-कथीर' में अनुप्रास और 'अमृत प्यालो छाड्या रे कुण पीवां कड़वाँ नीरां री' में प्रश्न अलंकार।

पाठान्तर—थारे घर ताली लागी रे, म्हाँरो मन री उनारय भागी र।
छीलरिये म्हाँरो चित्त नहीं रे, डाबरिये कुण जाव॥
गंगा जमुना सो काम नहीं रे, मैं तो जाय मिलूँ दरियाव।
हाल्यों मोल्यों सूँ काम नहीं रे, सीख नहीं सरदार॥
कामदारों सूँ काम नहीं रे, जोखा पड़े सिर भार॥
कामदारों सूँ काम नहीं रे, मैं तो जवाब करूं दरबार।
काचा कथीर सू काम नहीं रे, म्हाँरो हीरा को व्योपार॥
सोना रूपाँ सू काम नहीं रे, जोखा पड़े सिर भार।
भाग हमारो जागियो रे, भयो समद सू सीर॥
अमृत प्याला छाँड़ि के, कुण पीवै कड़वो नीर।
पापी कूँ प्रभु परचो दियो, दियो रे खजानो पूर।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर धणी मिल्या छै हजूर॥

—"जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तज छेरी कौन दुहावै॥ —सूर

××

मीराँ लागो रंग हरी औरन रंग अँटक परी॥टेक॥
चूड़ो म्हारे तिलक अरु माला, सील बरत सिणगारो।
और सिंगार म्हारे दाय न आवै यो गुर ग्यान हमारो।
कोई निन्दो कोई बिन्दो म्हें तो गुण गोविन्द का गास्याँ।

चोरी न करस्याँ जिव न सतास्याँ काँई करसी म्हाँरो कोई।
गज से उतर के खर नहिं चढ़स्याँ, ये तो बात न होई ॥२१॥

सब्दार्थ अटक=बाधा रुकावट। सील बरत=शील व्रत आचार व्यवहार। सिणगारों=शृंगार। दाय=पसंद। निन्दो=अथवा प्रशंसा। गज=हाथी। खर=गधा।

भाव—मीराँ कहती है कि मुझे कृष्ण का रंग लग गया है अतः अब दूसरा रंग नहीं चढ़ सकता अर्थात् कृष्ण के प्रेम को छोड़कर मैं अब अन्य देवताओं की अथवा पदार्थों की शरण में नहीं जा सकती। मुझे अपनी चूड़ियाँ तिलक और माला तथा आचार-व्यवहार के शृंगार के अतिरिक्त और कोई शृंगार अच्छा नहीं लगता। यही मेरे गुरु का दिया हुआ ज्ञान है। चाहे कोई मेरी निन्दा करे अथवा स्तुति करे, मैं तो कृष्ण के गुणों का ही गान करूँगी। जिस मार्ग से हमारे पथ प्रदर्शक साधुजन चलेंगे, मैं भी उसी मार्ग से चलूँ गी। मैं न तो चोरी करती हूँ और न किसी प्राणी को ही सताती हूँ, अतः मेरा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति हाथी से उतर कर गधे पर नहीं चढ़ा करता उसी प्रकार मैं एक बार कृष्ण को अपनाकर फिर न तो अन्य देवों की ओर ही उन्मुख होऊँगी और न सांसारिक पदार्थों के प्रति आसक्ति दिखाऊँगी।

विशेष—१ अनन्य भक्ति की मार्मिक अभिव्यंजना।
२ 'गज से उतर के खर नहीं चढ़स्याँ' में उदाहरण अलंकार।

पाठान्तर—१ मीराँ रंग लाग्यो हो नाम हरि और रंग अँटकि परी।
गिरधर गास्याँ सती न होस्याँ मन मोह्यो घण नामी।
जेठ बहू नहीं राणा जी मैं सेवक तू स्वामी॥
चोरी करौं नहीं जीव सताबौं काई करेंगो म्हारो कोई।
गज मूँ उतरि गधे नहीं चढ़स्याँ या तो बात न होई।
चूड़ो तिलक दोवड़ो अरु माला, सील वरत सिणगार।
और बरतू रति नहीं मोहे भावै कोई निन्दो
म्हें तो गोविन्द जी का गास्याँ।
जिण मारग वे सन्त गया छै, उण मारग म्हें जास्याँ।

राज करताँ नरक पड़ताँ भोगी जो रै जीया ।
जोग करतां मुकति पड़ताँ जोगी जुग जुग जीया ॥
गिरधर धनी धनी मेरे गिरधर, मात पिता सुत भाई ।
थे थाँके मैं म्हाँके राणा जी, यूँ कहै मीराँबाई ॥

७ मीराँ रंग लाग्यो नाँव हरी, और रंग अटकि परी ।
गिरिधर मजस्याँ सती ये न होस्याँ, मोह्यो गिरधारी ।
जेठ बहू का नाती नहीं छै, राणा थे सेवक म्हे स्वामी ॥
चूड़ो देवड़ो तिलक जप माला, सील बरत मो भारी ।
चोरी कराँ नहीं जीव सतावाँ, काँई करैलो म्हारो कोई ।
गज चढ़ गीदड़ म चढ़ा हो राणा, ये तो बाताँ खरी ।

गिरधर धनी गोविन्द कहूँ सो, साध सन्त म्हारा भरी ।
थे थाँके म्हे म्हाँके हो राणा जी, यूँ कहै मीराँ खरी ॥

तुलना—१ निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वास्तवन्तु
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्यायात्पथः पदं न विचलन्ति धीराः ।—भर्तृहरि
महाजनो येन गतः स पन्थाः ।

++

... ...स्या रली करी है पर परण्यावरत निवारि ।
झूठा माणिक मोतिया री झूठी जगमग जोति ।
झूठा सब आभूषण री साँचि पियाजी री पोति ।
झूठा पाट पटंबरारे झूठा दिखणी चीर ।
साँची पियाजी री गूदड़ी जामे निरमल रहे शरीर ।
छप्पन भोग बुहाई दे हे इन भोगिन में दाग ।
लूण अलूणो ही भलो है अपने पियाजी को साग ।
... ... मैं निर्वाच दूँ है, क्यूँ उपजावें खीज ।

कालर अपणो ही भलो है जामें निपजै चीज।
छत्र विराणो साल को है, अपणे काम न होइ।
ताके संग सीधारतां है भला न कहसी कोइ।
वर हीणों आपणों भलो है कोढ़ी कुष्टि कोइ।
जाके संग सीधारतां है भला कहै सब लोइ।
अविनासी सूं बालमां है जिणसूं साँची प्रीत।
मीरां कूं प्रभु मिल्या है एहि भगति की रीत॥२२॥

शब्दार्थ—सहेल्यां=सहेलियाँ सखियाँ। रलि=क्रीड़ा आनन्द। पर-घर गवरण=दूसरों के घर आना-जाना। निवारि=निवारण करके छोड़कर। पिया की जोति=परमात्मा का प्रेम। पाट पटंवरा=रेशमी वस्त्र। दिखणी=दक्षिणी। चीर=साड़ी। गूदड़ी=फटा-पुराना कपड़ा। छुहाय दे=छोड़ दो। लूण=लवण नमक। साथ=सबे साथ। विराणे=दूसरों का पराया। निर्वाण=उपजाऊ भूमि। चीज=द्वप ईर्ष्या। कालर=अनुप-जाऊ भूमि। निपैज=उत्पन्न होना। छैल=रसिक व्यक्ति। सीधारतां=आना जाना, सम्बन्ध स्थापित करना। हीणो=हीन साधारण। वर=पति। बालमां=बालम पति।

अर्थ—हे सखियो! आओ पराये घर जाना छोड़कर आनन्द मनावें अर्थात् जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होकर सच्चा आनन्द प्राप्त करें। इस संसार की प्रत्येक वस्तु नश्वर और निस्सार है। यहाँ का माणिक और मोती झूठा है, इनमें चमकने वाली ज्योति झूठी है, सारे गहने भी झूठे हैं, केवल प्रियतम (परमात्मा) का प्रेम ही सच्चा है। रेशमी वस्त्र झूठा है दक्खिन में बनी हुई साड़ी भी व्यर्थ है। वास्तव में प्रियतम की गूदड़ी ही सच्ची है जिसमें सारा शरीर निर्मल—पाप और दोषों से मुक्त—रहता है। हे सखियो! इस छप्पन प्रकार के व्यञ्जनों को छोड़ दो क्योंकि इनसे कलंक लगता है। अपने प्रियतम का साथ ही ठीक है चाहे ही वह नमकयुक्त या नमकमुक्त हो सरस अथवा नीरस हो। दूसरे व्यक्तियों की उपजाऊ भूमि को देखकर अपने मन में तुम क्यों

ईर्ष्या करती हो अपने लिए तो यह मनुष्याऊ भूमि ही अच्छी है। जिसमें बीज (वास्तविक पदार्थ) उत्पन्न होता है। दूसरे का रसिक व्यक्ति चाहे सात का क्यों न हो अर्थात् अमूल्य ही क्यों न हो पर वह अपने किसी काम का नहीं होता। इसीलिए उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने को कोई भी व्यक्ति अच्छा नहीं कह सकता। अपना पति चाहे हीन कोढ़ी और कुष्ठी ही क्यों न हो तो भी अच्छा है और अविनाशी प्रियतम ही ठीक है और उसकी प्रीति भी सच्ची है। मीरां कहती है कि प्रियतम प्रभु मिल गया है और भक्ति की रीति भी यही है अर्थात् भक्ति के वशीभूत होकर ही भगवान् अपने भक्तों पर कृपा करते हैं।

विशेष—१ इस पद में संसार की नश्वरता और प्रभु की भक्तवत्सलता का सुन्दर चित्रण है।

२ अनेक उदाहरण देकर विषम अलंकार के द्वारा विषय का बहुत ही प्रभावक ढंग से वर्णन किया है।

++

✓माई म्हारो सुपणा मां परण्यां दीनानाथ।
छप्पण कोटां जणां पधारयां दूल्हो सिरी व्रजनाथ।
सुपणा मां तोरण बंध्यारी सुपणामां गह्या हाथ।
सुपणां मां म्हारे परण गया पायां अचल सुहाग।
मीरां रो गिरधर मिल्यारी, पुरब जनम रो भाग ॥३३॥

शब्दार्थ—सुपणा=स्वप्न। परण्या=विवाह कर लिया। जणां=जन बराती। सिरी=श्री। व्रजनाथ=श्री कृष्ण। तोरण=द्वार।

अर्थ—हे सखि! मेरा स्वप्न में दीनानाथ कृष्ण ने अपने साथ विवाह कर लिया। मेरी बरात में छप्पन करोड़ देवता बराती के रूप में आये थे और दूल्हा श्रीकृष्ण बने हुए थे। मेरे स्वप्न में ही द्वार बाँधा गया और स्वप्न में ही उन्होंने मेरे साथ विवाह किया। हे सखि! इस प्रकार मेरा स्वप्न पूरा हुआ और मुझे अचल सौभाग्य प्राप्त हो गया। मीरां कहती है कि मुझे मेरे पूर्व जन्म

के पुण्य कर्म ही थे जिनके कारण मुझे गिरधारी पति-रूप में मिला।

विशेष—सन्तों में प्रियतम से मिलने की एक परम्परा-सी बन गई है। कबीर ने भी इसी प्रकार का वर्णन किया है। अतः यह वर्णन परम्परागत है इसीलिए इसमें अभीष्ट प्रभावोत्पादकता का अभाव है।

पाठान्तर—१ माई म्हांनि सुपना में परणी गोपाल।
गैली ये मीराँ भई बावरी, सुपन है आल जंजाल।
जो तूने सुपना में गिरधर मिलिया, तो कछुक सैनाण बताय
हल्दी तो पीठी म्हाँरे अग लिपटाई, मेंहदी सूँ राच्या।
म्हाँरा हाथ।
छप्पन कोड़ आन पधारिया, दूल्हो श्री भगवान॥
साँवरियो सिर पेच कलंगी सोरठणी तलवार।
मीराँ के प्रभु गिरधरलागर, पूरबलै भरतार॥

२ माई री म्हांनि सुपणे में परणी गोपाल।
राती पीली चुनर पहरी, मेंहदी पान रसाल॥
कोई कहै और सँग भाँवर, म्हांनि जग जंजाल।
मीराँ प्रभु गिरधरनलाल सूं, करी सगाई हाल॥

३ माई मैं तो सपना में परणी गोपाल।
हाथी भी आयो घोड़ा भी आयो और आयो सुखपाल॥

४ माई हूँ सपणे में परणी गोपाल।
मति करो म्हाँरि व्याप सगाई, क्यूँ बाँधों जंजाल॥
झूठा मात पिता बन्धु, बन्धो अवध्या ख्याल।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर साँचो पति नन्दलाल॥

तुलना—दुलहनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आए हो राजा राम भरतार॥
तन रति करि मैं मन रति करिहूँ पंच तत बराती।
रामदेव मोरे पाहुँने आये, मैं जोबन में माती॥

सरीर सरोवर बेदी करिहूँ ब्रह्मा बेद उचार।
रामदेव संगि भौवरी लैहूँ धनि धनि भाग हमार।।
सुर तेंतीसूं कौतिग आवे मुनिवर सहस अठ्यासी।
कहै कबीर हम ब्याह चले हैं, पुरुष एक अविनासी।।

++

✓ मैं मत बरजौ माइडी साधाँ दरसण जावाँ।
स्याम रूप हिरदाँ बसाँ म्हारे और न भावाँ।
सब सोवाँ सुख नींदड़ी म्हारे नैण जगावाँ।
ग्याण नसाँ जग बावरा ग्याकूँ स्याम रुठ जावाँ।
म्हाँ हिरदाँ बस्या साँवरो म्हारे णींद न आवाँ।
चौमास्याँ री बावड़ी ग्याँ कूँ नीर णा पीवाँ।
हरि निर्झर अमृत झर्या म्हारी प्यास बुझावाँ।
रूप सुरंगा साँवरो मुख निरखण जावाँ।
मीराँ व्याकुल बिरहणी अपनी कर ल्यावाँ।।५४।।

शब्दार्थ—माँई=प्यारी माता। चौमास्याँ=वर्षा ऋतु। बावड़ी=पोखर। निर्झर=झरना। निरखण=देखने के लिए।

अर्थ—हे सखि! तुम मुझे रोको मत मैं साधु लोगों के दर्शन को जा रही हूँ। मेरे हृदय में श्री कृष्ण का रूप बसा हुआ है, इसलिए इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ अच्छा नहीं लगता। सब आदमी सुख की नींद सो रहे हैं, किन्तु मेरे नैन जाग रहे हैं अर्थात् मुझे नींद नहीं आ रही है। जिस जगत् को कृष्ण के प्रति अनुराग नहीं है, वह पागल और अज्ञान है। मेरे हृदय में कृष्ण बसा हुआ है इसलिए उनके विरह में व्याकुल होने के कारण मुझे नींद नहीं आती है। दूसरे देव के प्रति अनुराग करना उचित नहीं है क्योंकि और देव तो वर्षाऋतु की बावड़ी के समान हैं जिनका पानी मैं नहीं पी सकती अर्थात् कृष्ण को छोड़कर मैं अन्य देव की आराधना नहीं कर सकती। कृष्ण अमृत के झरने वाले झरने के समान हैं जिससे मेरी प्यास बुझती है, मुझे परम सन्तोष मिलता है। कृष्ण का रूप सुन्दर और साँवरा है। मैं उन्हीं का मुख देखने के लिए जा रही हूँ। मीरा कहती है कि मैं विरह व्याकुल हूँ इसलिए हे कृष्ण! तुम मुझे अपनी मानकर अपना लो।

विशेष— १ अनन्य भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति।

२ 'म्हारे नैणा जगावाँ में मानवीकरण अलंकार।

३ 'चौमास्याँ पीवाँ' में उदाहरण अलंकार।

४ 'हरि निर्झर अमृत झरया' में रूपक अलंकार।

तुलना— १ राम पियारा छाँड़ि करि करै आन का जाप।
बेस्या केरा पूत ज्यूँ कहै कौन सू बाप॥—कबीर

२ सुखिया सब संसार है, खावे अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै॥—कबीर

++

बरजी री म्हाँ स्याम बिना न रह्याँ॥टेक॥
साधाँ संगत हरि सुख पास्यूँ जग सूँ दूर रह्याँ।
तण मण म्हाराँ जावाँ जास्याँ म्हारो सीस लह्याँ।
मण म्हारो लाग्यो गिरधारी जगरा बोल सह्याँ।
मीराँ रे प्रभु हरि अविनासी थारी सरण गह्याँ॥५५॥

शब्दार्थ—बरजी=रोकने पर। जावाँ जास्या=चला जाता है।

अर्थ—यद्यपि मुझे बहुत रोका गया पर रोकने पर भी मेरा मन कृष्ण बिना न रह सका अर्थात् अनेक प्रकार के विरोध होने पर भी कृष्ण की प्रीति मन से दूर न हो सकी। मैं साधुओं के साथ बैठकर हरि-मिलन का सुख मानती करती हूँ और संसार से दूर रहती हूँ। चाहे मेरा तन-मन चला जाये किन्तु मैंने तो अपने सिर पर कृष्ण-प्रेम धारण कर लिया है। मेरा मन कृष्ण से लग गया है इसलिए मैंने संसार के सब प्रकार के वचनों को सहा है अर्थात् संसार का कटु विरोध सहा है। मीराँ कहती है कि हे मेरे अविनाशी प्रभु मैंने तो तुम्हारी शरण ग्रहण कर ली है इसलिए मेरी लाज अब तुम्हारे हाथ है।

विशेष—१ अनन्य भक्ति भावना के साथ-साथ मन की दृढ़ता की अभिव्यक्ति।

२ 'तण मण म्हारा' में अनुप्रास अलंकार।

पाठान्तर—बरजी मैं काहू की नाहिं रहूँ।
सुनो री सखी तुम मों, मो मन की साँची बात कहूँ॥
साधु-संगति कर हरि सुख लेऊँ, जग से दूर रहूँ।
तन मन धन मेरी सब ही जावो भल मेरो सीस लहूँ॥
मन मम लाग्यो सुमरण सेती, सबका मैं बोल सहूँ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, सतगुरु सरण गहूँ॥

इस पद की द्वितीय पंक्ति इस प्रकार भी मिलती है—

सुनो री सखी तुम चेतन होइ के, मन की बात कहूँ।

—+

आज म्हांरो साधु जननी संगत, राणा म्हांरा भाग भल्यां ॥टेक॥
साधु जननो संग जो करिये, चढ़े ते चौगणो रंग रे।
साकत जननो संग न करिये पड़े भजन में भंग रे।
अठसठ तीरथ संतों के चरण कोटि कासी ने कोटि गंग रे।
निन्दा करसे नरक कुण्ड माँ जासे थासे आँधला अपंग रे।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, संतोंनी रज म्हारे अंग रे ॥२६॥

शब्दार्थ—जननो = जनों का। चौगुणो = चार गुना बहुत अधिक। साकत = शक्ति सम्प्रदाय के अनुयायी। ये लोग दुर्गा काली आदि देवियों की उपासना करते हैं। ये प्रायः वाममार्गी होते हैं और अपने सम्प्रदाय में विहित मद्य मांस आदि का सेवन करते हैं। नारी को ये लोग शक्ति का प्रतीक मानते हैं तथा उसकी पूजा एवं सेवा में रत रहते हैं। संतों के चरणों = संतों के चरणों में ही। करसे = करेगा। आँधला = अन्धा। अपंग = अंगरहित लूला। रज = धूल।

अर्थ—हे राणा ! मेरा यह सौभाग्य है कि मुझे आज साधुजनों का सत्संग प्राप्त हो गया है। जो व्यक्ति साधुजनों के सत्संग में रहता है उस पर चौगुना रंग चढ़ जाता है अर्थात् उसका बहुत अधिक आत्मिक विकास हो जाता है। शक्ति सम्प्रदाय के अनुयायी जो हृदयहीन होते हैं संग कभी भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि उन लोगों के साथ रहने से भजन में भंग पड़ता है। सन्तों के चरणों की अतुल महिमा है। जितना पुण्य व्यक्ति को अड़सठ तीर्थों के करने

से प्राप्त होता है उतना ही साधुजनों के चरणों में रहने से मिल जाता है बल्कि कहना चाहिए कि करोड़ों काशी और गंगा से प्राप्त पुण्य कम साधुप की चरण-सेवा से मिल जाता है। जो साधुजनों की निन्दा करेगा वह नरक-कुं में जायेगा और अन्धा तथा लूला बन जायेगा अर्थात् अत्यधिक भीषण दु भोगेगा। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी गिरधर नागर हैं और मेरे अंगों ' सन्तों की धूलि लगी हुई है।

विशेष—१ सन्तों की संगति और उनके चरणों की महिमा का मह बताया गया है।

२ चढ़े ते चौमणो रंग' में मुहावरे का सुन्दर प्रयोग है।

पाठान्तर—आज मोहे साधु जन जो संगे रे, राणा, म्हारा भाग्य भला
साधु जननो संग जो करिए, पिया जो चढ़े ते चौगुणो रंग
साकट जन नो संग न करिए, पिया जी पाड़े भजन में भंग
अड़सठ तिरथ सन्तों न चरणों, पिया जी, कोटि काशी ने कोटि गंग
निन्दा करसे तो नरक कुण्ड मां जशे, पिया जी थशे आंधला अपंग
मीराँ कहे गिरधर ना गुण गायो, पिया जी, सन्तोनी रजमाँ शीर संग

तुलना—१ चन्दन की कुटकी भली ना बबूर की अबरांउं।
बैस्नों की छपरी भली ना साकत का बड़गांउं।

२ कबीर संगत साध की बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूर गँवाइसी देसी सुमत बताई॥

× ×

म्हाँ म्हाँ गोविन्द गुण गास्याँ ॥टेक॥
चरणाम्रत रो नेम सकारे नित उठ दरसण जास्याँ।
हरि मन्दिर माँ निरत करावाँ घूँघरयाँ घमकास्याँ।
स्याम नाम रो झाँझ चलास्याँ भौसागर तर जास्याँ।
यो संसार बीड़री काँटो मेल प्रीतम अटकास्याँ।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, गुण गावाँ सुख पास्याँ ॥२७॥

शब्दार्थ गास्याँ=गाऊँगी। चरणाम्रत=चरणामृत। सकारे=प्रात निरत=नृत्य। झाँझ=एक प्रकार का बाजा। भौसागर=भवसागर, संसा सागर। बीड़री=बेरी का। मेल=गया। प्रीतम=प्रियतम श्रीकृष्ण।

अर्थ—हे सखि ! मैं तो श्रीकृष्ण के गुणों का गान करूँगी । नियम से प्रातःकाल उनका चरणामृत लेने के लिए और उनके दर्शन करने के लिए प्रतिदिन उनके मन्दिर में जाऊँगी । उनके मन्दिर में जाकर मैं नृत्य करूँगी और घुँघरू बजाऊँगी । कृष्ण के नाम की झाँझ बजाऊँगी और इस प्रकार उनकी आराधना करके इस संसार रूपी सागर से पार उतरूँगी । यह संसार तो बेरी के काँटे की भाँति दुखदाई है, जिसमें मेरा प्रियतम मुझे फँसा गया है । मीरां कहती है कि मेरे स्वामी गिरिधर नागर हैं जिनका गुण-गान करके मैं सुख प्राप्त करूँगी ।

विशेष—१ मीरां पर वैष्णव भक्ति का गहरा प्रभाव है । भागवत में भक्ति के नौ प्रकार बताये गये हैं—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥'

उपर्युक्त पद में कीर्तन पादसेवन स्मरण भक्ति स्पष्ट है ।

२ 'मांई म्हाँ घूँघर्या घमकास्याँ' में अनुप्रास अलंकार और 'यो संसार बीड़रो काँटों' में रूपक अलंकार है ।

पाठान्तर—राणा जी मैं तो गोविन्द का गुण गास्याँ ।
चरणामृत को नेम हमारे नित उठि दरसन जास्याँ ।
हरि मन्दिर में निरत करास्याँ घूँघरिया घमकास्याँ ।
रामनाम का झहाज चलास्याँ, भवसागर तर जास्याँ ।
मीराँ कहै प्रभु गिरधरनागर निरख परख गुण गास्याँ ॥

तुलना—मारी मरै कुसंग की केला काँठे बेरि ।
वो हालै वो चीरिये साखित सग न बेरि ॥ —कबीर

✓ नहिं भावै थाँरो देसलड़ो रँगरूड़ो ॥टेक॥
थारे देसां में राणा साध नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो ।
गहणा गाँठी राणा हम सब त्याग्या त्याग्यो कररो चूड़ो ।
काजल टीकी हम सब त्याग्या त्याग्यो छै बाँधन जूड़ो ।
मीरां के प्रभु गिरिधरनागर, बर पायो छै पूरो॥ ३८॥

शब्दार्थ—नहिं भावै=अच्छा नहीं लगता है । देसलड़ो=देश । रँगरूड़ो=

विभिन्न। साव=साधु। छै=है। कूड़ो=बेकार के दुर्जन। गाँठी=कपड़ा वस्त्र। कर रो=हाथ का।

अर्थ—हे राणा! मुझे तुम्हारा यह विभिन्न वेश—संसार—अच्छा नहीं लगता है। हे राणा! तुम्हारे देश में साधु लोग नहीं रहते बल्कि सब दुर्जन रहते हैं जो ईश्वर-भक्ति से एकदम उदासीन और संसार की सांसारिकता में डूबे हुए हैं। हमने आभूषण और वस्त्र सब छोड़ दिए हैं। हाथ का चूड़ा भी छोड़ दिया है। माथे पर टीका लगाना और आँखों में काजल डालना तथा जूड़ा बाँधना भी छोड़ दिया है अर्थात् संसार के सभी पदार्थ त्याग दिये हैं। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी गिरिधर नागर हैं जिन्हें मैंने पूर्ण वर के रूप में प्राप्त कर लिया है।

पाठान्तर—१ नहिं भावै थारो देसड़लो रँग रूड़ो।
थाँरे देसाँ में राणा साध नहीं छै, लोग बसै सब कूड़ो।
गहना गाँठी राणा हम सब त्याग्या,त्याग्या कर रो चूड़ो॥
काजल टीकी हम सब त्याग्या, त्याग्या बाँधन जूड़ो।
मेवा मिसरी मैं सब त्याग्या, त्याग्या छै सक्कर बूरो।
तन की आस कबहुँ नहिं कीनी, ज्यूँ रण माँही सूरो।
मीराँ के प्रभु गिरिधरनागर, वर पाया मैं पूरो॥

२ नहिं भावै थारो देसड़लो जी रूड़ो रूड़ो।
हरि की भगति करै नहीं कोई, लोग बसै सब कूड़ो॥
पानी भाँग उतारि धरूँगी, न पहिरूँ कर चूड़ो।
मीराँ हठीली का मन्तर माँ, वर पायो छै पूरो॥

३ राणा जी थाँरो देसड़लो रँग रूड़ो।
थाँरे मुलक में भक्ति नहिं छै लोग बसै सब कूड़ो॥
पाट पटम्बर सब ही मैं त्यागा तज दियो कर रो चूड़ो।
मेवा मिसरी मैं सब त्यागा त्यागा छै सक्कर बूरो॥
तन की मै आस कबहुँ नहिं कीनी ज्यूँ रण माँहि सूरो।
मीराँ के प्रभु गिरिधरनागर, वर पायो छै पूरो॥

४ राणा जी म्हाँरे देसड़लो छै रंग रूड़ो।
रामनाम की भक्ति न भावे लोग बसै सब कूड़ो।
मेवा मिठाई मीराँ सब ही त्याग्यो त्याग्यो छै मान और चूरो।
गहणो तो गाँठो मीराँ सब ही त्याग्यो त्याग्यो छै मैया रो चूड़ो।
साल दुसाला मीराँ सब मोह त्याग्या, सिर पर बाँध्यो छै जूड़ो।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी वर पायो छै मीराँ रूड़ो॥

५ देसड़लो रूड़ा रूड़ा, राणा जी म्हाँरो देसड़लो।
भगत न भावें म्हारा राम की, लोग बसें सब छै कूड़ो।
मेवा मिसरी सब ही त्यागया त्याग दिये छै चूरो।
तन की आस कबहूँ नहिं कीनी ज्यूँ रण माहिं सूरो।
माई मात कुटुम्बी त्याग्यो त्याग दियो छै चूड़ो
घूँघट को पटो दूर कियो सरि बाँध्यो छै जूड़ो।
यो संसार सब दुःख को सागर में डालोगी पूरो।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी वर पायो छै पूरो॥

तुलना—बावड़ देस सूवन का घर है तहाँ जिमि जाइ बामन का डर है।
सब बन देखा कोई न धीरा परत धूरि सिरि कहत प्रबीरा॥
न तहाँ सरवर न तहाँ पाँनी न तहाँ सतगुर साधू बाणी।
न तहाँ कोकिल न तहाँ सूवा ऊँचे चढ़ि चढ़ि हंस मूवा॥—कबीर

× ×

राणा जी म्हनि या बदनामी लागे मीठी॥ टेक॥
कोई निन्दो कोई बिन्दो मैं चलूँ गी चाल अपूठी।
साँकड़ली सेर्याँ जन मिलिया क्यूँ कर फिरूँ अपूठी।
सत संगति मा ग्यान सुणैछी दुरजन लोगाँ ने दीठी।
मीराँ रो प्रभु गिरधरनागर, दुरजन जलो जा अंगीठी॥४६॥

शब्दार्थ—म्हनि=मुझको। या=इतनी प्रेम में मम्बन्धित। बिन्दो=

विनती करना प्रशंसा करना। मपूठी=उल्टी। साँकलड़ी=संकरी। सेर्‌यां=गली। जन=गुरु। मपूठी=वापिस। दीठी=देखी।

अर्थ—हे राणा जी! मुझे अपनी कृष्ण-प्रेम से सम्बन्धित बदनामी अच्छी लगती है क्योंकि इस प्रकार हमारे प्रेम की कहानी दूर-दूर तक फैलती है। मेरी चाहे कोई निन्दा करे अथवा प्रशंसा करे, किन्तु मैं तो इसी बात को चलती रहूँगी जिसे यह संसार उल्टी समझता है अर्थात् मुझे इस संसार के वचनों की तनिक भी परवाह नहीं है, मैं तो अपने मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होती रहूँगी। मुझे संकरी गली में सतगुरु मिल गया है अर्थात् मेरे अज्ञान को अब गुरु ने समाप्त कर दिया है तो मैं फिर क्यों अपने पथ से वापिस आ सकती हूँ अर्थात् भक्ति-मार्ग छोड़कर फिर क्यों और कैसे संसार की सांसारिकता में रत हो सकती हूँ? मैं सत्संगति में बैठकर ज्ञान की बातें सुन रही थी कि दुष्टों ने मुझे देखा और मेरे विषय में अनेक प्रकार की बातें बना बनाकर कहनी शुरू कर दी। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी गिरधर नागर हैं इसलिए दुष्ट लोग अपने विद्रूप की अंगीठी (भट्टी) में मन ही जलते रहें किन्तु मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते।

पाठान्तर—

१ राणाजी म्हाँने या बदनामी लागे मीठी।
कोइ निन्दो कोई बिन्दो मैं चलूँगी चाल अपूठी।
साँकली गली में सतगुर मिलिया क्यूँकर फिरूँ अपूठी।
सतगुर जी सूँ बातां करतां दुरजन लोगों ने दीठी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर दुरजन जलो जा अँगीठी॥

२ म्हाँरी बदनामी मीठी हो राणा जी म्हाँरी बदनामी मीठी।
रायली ड्योढ्याँ म्हाँने सतगुर मिलिया किम विध फिरूँगी अपूठी।
संत संगति में ग्यान सुणूँ छी दुरजन लोगाँ मोहि दीठी॥
यो मन मेरो हरि में बसियो जैसे रंग मजीठी।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर दुरजन जलो ज्यूँ अँगीठी।

३ राणा जी म्हाँने यांही बदनामी मीठी।
साँकड़ली सेर्‌यां जन मिलिया क्यूँकर फिरूँ अपूठी।

रामजी सूँ मैं तो बात करी छी दुरजन लोगों न दीठी ॥
सुरा जी कहो ने कोई मर्सो कहो नै, नै मानो किस की बसीठी।
मन मीराँ के है निन्दक मारी जल बलि होई अंगीठी ॥
४ राणा जी म्हाँन या बदनामी लागे मीठी।
थें तो राणा जी राजकँवर छो म्हें राठोड़ा री बेटी।
मलाह करो म्हाँनि पुराइ म्हो जी नहीं माना रे किसी की ॥
साँकड़ी गली में म्हाँरा सतगुर मिलिया कैसे फिरूँगी अपूठी।
मंम फाइ मीराँ कन गरम्या दुरजन जलाये अंगीठी ॥
५ राणा जी म्हाँनि या बदनामी लागे मीठी।
थारे रमैया मीराँ म्हाँन बताओ, नाहिं तो भक्ति थारी झूठी।
म्हाँरे रमैया थाँरे घट म विराजे थाँ रे हिय की क्यूँ फूटी ॥
प्रेम मन्दिर में करूँगी रसोइ, म्हारे गिरधर के भोग लगाईं ॥
मीराँ क प्रभु गिरधरनागर, रंग दियो रंग मजीठी ॥

× ×

✓ राणा जी थे क्यांनि राखो म्हाँसूँ बैर ॥टेक॥
थें तो राणाजी म्हाँनि इसड़ा लागा ज्यों बच्छन में कैर।
महल अटारी हम सब त्याग्या त्याग्यो थारो बसनो सहर ॥
कापड़ टीकी राणा हम सब त्याग्या भगवाँ चादर पहर।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, इमरित कर दियो जहर ॥१०॥

शब्दार्थ—थे=तुमने। क्यांनि=क्योंकर, किस प्रकार। म्हाँसूँ=मुझसे। इसड़ा=इस प्रकार। कैर=करील। सहर=शहर नगर। कापड़=काजल। इमरित=अमृत।

अर्थ—हे राणा जी! तुमने मुझसे क्यों बैर कर लिया है। तुम्हारी यह प्रवृत्ति तो मुझे ऐसी लगती है जैसे वृक्षों में करील होता है। हमने महल और अटारी सब छोड़ दी है तुम्हारे नगर में रहना भी छोड़ दिया है। हे राणा! हमने काजल लगाना और टीकी लगानी सभी छोड़ दी है और भगवा वस्त्र धारण कर लिए हैं अर्थात् हमने संसार का समस्त ऐश्वर्य त्याग दिया है और त्याग भावना अपना ली है। मीरा कहती है कि मेरे तो गिरिधर नागर हैं और उन्होंने ही जहर को अमृत बना दिया है।

विशेष—१ 'हमरित कर दियो जहर' में मीराँ ने अपने जीवन की महत्वपूर्ण घटना की ओर संकेत किया है।

२ अपनी ऐसी ही त्याग भावना का वर्णन मीराँ ने अन्य पद में भी किया है। यथा—

'गहणा गाँठी राणा हम सब त्यागा त्याग्यो कररो चूड़ो।
काजल टीकी हम सब त्यागा त्याग्यो है बाँधन जूड़ो॥

पाठान्तर—राणा जी थे क्योंनि राखो मोसूँ बेर।
राणा जी म्हाँनि असा लागत हो, ज्यों बिरछन में केर।
सास घर मेवाड़ मेड़तो त्याग दियो थाँरो सहेर।
मीराँ के प्रभु गिरिधरनागर, हठ कर पी गई जहेर।

इस पद की तीसरी पंक्ति इस प्रकार भी मिलती है—
थाँरे रूस्याँ राणा कुछ नहीं बिगड़े अब हरि महेर।

++

१ सीसोद्यो रूठ्यो तो म्हाँरो काँई करलेसी
म्हें तो गुण गोविन्द का गास्याँ हो माई॥टेक॥
राणा जी रूठ्यो बाँरो देस रखासी
हरि रूठ्याँ कुम्हलास्याँ हो माई।
लोक लाज की काण न मानूँ
निरभै निसाण घुरास्याँ हो माई।
स्याम नाम का झाँझ चलास्याँ
भवसागर तर जास्याँ हो माई।
मीराँ सरण सबल गिरधर की
चरण कँवल लपटास्याँ हो माई॥६१॥

शब्दार्थ—सीसोद्यो=सिसोदिया राणा। काँई=क्या। बाँरो=अपना। काण=कान मर्यादा। निरभै=निर्भय होकर। निसाण=नगाड़ा। घुरास्याँ=बजाऊँगी। सबल=सबल शक्तिशाली साँवरा=कृष्ण।

अर्थ—हे सखि! यदि सिसोदिया राणा रूठ जायेगा तो हमारा क्या कर लेगा? अर्थात् उनके रूठने की अवस्था अप्रसन्न होने की मुझे तनिक भी चिन्ता

नहीं है मैं तो अवश्य ही कृष्ण के गुणों का गान करूँगी। यदि राणा रूठ जायेगा तो अपना देश रख लेगा अर्थात् मुझे अपने देश से निर्वासित कर देगा किन्तु कृष्ण के अप्रसन्न होने पर तो मन की समस्त शक्तियाँ ही कुम्हला जायेंगी अर्थात् अकर्मण्य और बेकार हो जाऊँगी। मैं लोक-लाज की मर्यादा की तनिक भी परवाह नहीं करूँगी बल्कि निर्भय होकर अपनी भक्ति का कृष्ण के प्रति अपने प्रेम का नगाड़ा बजाऊँगी अर्थात् अपनी प्रेम कहानी ढोल बजा-बजाकर कहूँगी। मैं श्याम के नाम का जहाज बनाकर इस भवसागर से पार हो जाऊँगी। मीरा कहती है कि मैं तो शक्तिशाली या साँवरे कृष्ण की शरण में आ गई हूँ इसीलिए उन्हीं के चरण कमलों से लिपटी रहूँगी।

विशेष—१ मीरा की दृढ़ भावनाओं की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है।
२ 'निरभै निसाण घुरास्याँ' मुहावरे का प्रभावशाली प्रयोग है।
३ 'भवन' का श्लिष्ट प्रयोग है।
४ 'चरण कँवल' में रूपक अलंकार है।

पाठान्तर—राणो मेवाड़ो म्हाँरो काँई करसी।
म्हें तो गोविन्दरा गुण गास्याँ हो माय।
राणा जी रूस्यी गाँव रखासी हरि रूस्याँ कुम्हलास्याँ हे माय।
म्हारो तो नम चरणामृत को नित उठि मंदिर जास्याँ हे माय॥
मन्दरिया में माधुरी मूरति निरख निरख गुण गास्याँ हे माय।
राणा जी भेज्यो बिषरा प्याला कर चरणामृत पीस्याँ हे माय॥
राणा जी भेज्यो साँप पिटारा तुलसी की माला कर पेरो हे माय।
हाथों में करताल बजास्याँ घुघरिया घमकास्याँ हे माय।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर हरि चरणाँ चित ल्यास्याँ हे माय॥

तुलना—माई म्हाँ गोविन्द गुण गास्याँ।
चरणाम्रित रो नेम सकारे नित उठ दरसण जास्याँ॥
हरि मन्दिर माँ निरत करावाँ घूँघर्‌याँ धमकास्याँ।
स्याम नाम रो झाँझ चलास्याँ भोसागर तर जास्याँ।—मीरा

× ×



राणाजी थे जहर दियो म्हे जाणी ।।टेक।।
जैसे कञ्चन दहत अगनि में, निकसत बाराबाणी ।
लोकलाज कुल काण जगत की दइ बहाय जस पाणी ।
अपने घर का परदा करले मैं अबला बौराणी ।
तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे गरक गयो सनकाणी ।
सब संतन पर तन मन वारौं चरण कँवल लपटाणी ।
मीराँ को प्रभु राखि लई है, दासी अपणी जाणी ।।६४।।

शब्दार्थ—कञ्चन=सोना । अगनि=अग्नि आग । बाराबाणी=अत्यन्त दमक वाला । बौराणी=पागल । गरक गयो=गहरा लग गया । सनकाणी=पागल हो गई ।

अर्थ—राणा जी ने मुझे पीने के लिए जहर दिया था जिसे मैं अच्छी तरह जान गई थी अर्थात् जहर को देखते ही मुझे यह पता चल गया था कि राणा मेरे प्राणों का गाहक बन गया है फिर भी मैं उसे पी गई और उसे पीने के बाद मेरी प्रेमभावना उसी प्रकार और भी अधिक चमक उठी जैसे आग में तप कर सोना अत्यन्त दमक वाला होकर बाहर निकलता है। मैंने कुल की और जगत की लोकलाज तथा मर्यादा को इस प्रकार बहा दिया है, जैसे पानी को बहा दिया जाता है अर्थात् मैंने कुल और जगत के बन्धन बिल्कुल छोड़ दिये हैं हे राणा तू अपने ही घर का परदा कर ले अर्थात् अपने ही मुँह को छिपा ले क्योंकि मैं तो अबला हूँ और फिर पागल हो गई हूँ, इसलिए मुझे उचित अनुचित का कोई ज्ञान नहीं रहा है। मेरे हृदय में प्रेम के तरकस से तीर निकल कर लग गया है जो बहुत गहरा लगा है और उसकी चोट से मैं पागल हो गई हूँ। मैंने अपना तन-मन सभी साधुओं के लिए न्यौछावर कर दिया है और मैं श्रीकृष्ण के चरण-कमलों से लिपट गई हूँ अर्थात् अपना सर्वस्व त्याग कर पूर्णतः उनकी शरण में चली गई हूँ। हे प्रभु ! अब मीराँ को अपनी दासी जानकर इसकी लज्जा की रक्षा करो।

विशेष—१ जैसे कञ्चन पाणी में उदाहरण अलंकार।

२ अपने घर का परदा करले में भाव गाम्भीर्य है।

३ अबला शब्द का प्रयोग साभिप्राय और महत्त्वपूर्ण है, इसीलिए यहाँ पर परिकर अलंकार है।

पाठान्तर—१ राणाजी जहर दियो हम जानी।
जानबूझ चरणामृत सुन के पियो नहीं मीराणी॥
जिन हरि मेरी नाव निवेरियो छान्यो दूध अरु पानी।
कंचन अगन कसौटी जैसे तन राखो वारह वानी॥
राणा कोट करूँ न्यौछावर मैं हरि हाथ बिकानी।
मीराँ प्रभु गिरधरनागर के चरण कँवल लिपटानी।

२ राणाजी जहर दियो हम जाणी।
अपन कुल को परवा कर ले मैं अबला मीराणी।
राणा जी परधान पठायो, सुन ओ जी थे राणी॥
ओ साधन को संग निवरो करौं तुमे पटराणी।
हथलेवी राणा संग जुड़ियो गिरधर वर पटराणी।
कोड़ भूप साधन पर वारूँ जिनकी सरण रहाणी।
मीराँ को पति एक रमैया चरण कँवल लपटानी॥

३ जहर दियो म्हे जाणी राणाजी म्हाँने।
हरख सोग मेरे मन नाहीं नहीं लाभ नहीं हाणी॥
कंचन ज्यों अगिन में राख्यो निकस्यो बारावाणी।
अब तो प्रभु तुम ही मत राखो छाण्यो दूध र पाणी॥
राणा वचन उचारिया जी, सुणजी म्हाँरी वाणी।
साधाँरो संग परो निवारी, थाँने करौं पटराणी॥
कोट भूप वारौं सन्ता पर, सन्ता हाथ बिकाणी।
हथलेवा म्हे याँ जोड़ यो गिरधारी पटराणी॥
म्हाँरो मेड़तो जी छोड़ि कुल की काणी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर चरण कँवल लपटाणी॥

× ×

माई म्हाँ गोविन्द गुण गास्याँ टेक।
राजा रूठ्याँ नगरी त्यागाँ हरि रूठ्याँ कहूँ जास्याँ।
राणे भेज्या विषरो प्याला चरणामृत पी जास्याँ।

काला नाग पिटार्यां भेज्यां सालगराम पिछाणा।
मीरां तो अब प्रेम दिवाणी, सांवलिया वर पाणा ॥६५॥

शब्दार्थ—पाणा=पाऊँगी। रूठ्यां=रूठने पर। राणैं=राणा ने। सालगराम=शालग्राम वैष्णवों का एक तीर्थ अथवा विष्णु के रूप में पूजा जाने वाला काले पत्थर का एक टुकड़ा। पिछाणा=जान लिया। वर=पति।

अर्थ—हे सखि! मैं तो अब गोविन्द (कृष्ण) के ही गुणों का गान करूँगी। मेरे इस कार्य के करने से यदि राणा रुष्ट हो जायेगा तो मैं उसकी नगरी को छोड़ दूँगी किन्तु इस कार्य के न करने पर और तब कृष्ण के रूठ जाने पर कहीं भी ठौर नहीं है। राणा ने मुझे मारने के लिए विष का प्याला भेजा था किन्तु मैं उसे चरणामृत समझ कर पी गई। तब पिटारी में बन्द करके काला नाग भेजा गया किन्तु मुझे उसमें शालग्राम का रूप ही दिखाई दिया। मीरां कहती है कि अब तो मैं कृष्ण के प्रेम में पागल हो गई हूँ और मुझे उसी सांवलिया को पति-रूप में प्राप्त करना है।

विशेष—मीरां ने अपने जीवन में घटित होने वाली दो घटनाओं की ओर विशेष रूप से संकेत किया है—विष प्याला और काला नाग। ये ही घटनाएँ मीरां के अन्य अनेक पदों में भी मिलती हैं।

पाठान्तर—मेरे राणा जी मैं गोविन्द गुण गाना।
राजा रूठे नगरी राखै हरि रूठ्यां कहाँ जाना।
राणा भेज्यो जहर पियाला अमृत करी पी जाना॥
डबिया में काला नाग भेजिया सालगराम कर जाना।
मीराँबाई प्रेम दीवानी साँवलिया वर पाना॥

× ×

या तो रंग बत्तां लाग्यो ए माय ॥टेक॥
पिया पियाला अमर रस का चढ़ गई घूम घुमाय।
यो तो अमल म्हारो कबहुँ न उतरे, कोट करो न उपाय।
सांप पिटारो राणाजी भेज्यो द्यो मेड़तणी गल डार।
हँस हँस मीरां कंठ लगायो यो तो म्हारे नौसर हार।

विष का प्यालो राणो जी भेज्यो, द्यो मेड़तणी ने पाय।
कर चरणामृत पी गई रे, गुण गोविन्द रा गाय।
पिया पियाला नाम का रे, और न रंग सोहाय।
मीराँ कहै प्रभु गिरधरनागर काचो रंग उड़ जाय ॥६६॥

शब्दार्थ—घणी=खूब अधिक मात्रा में। घूम=नशा। घुमाय=चक्कर देकर अधिक मात्रा में। अमल=नशा। कोट=कोटि, करोड़ असंख्य। द्यो=दिया। मेड़तणी=मेड़ते की लड़की मीराँ। नौसर=नौ लड़ियों का। काचो=कच्चा।

अर्थ—हे सखि! कृष्ण के प्रेम का रंग मुझ पर चढ़ गया है मैंने उनके प्रेम के अमर रस का इतना प्याला पी लिया है कि उसका नशा चक्कर दे देकर चढ़ गया है। हमारा यह नशा कभी भी नहीं उतर सकता चाहे करोड़ों उपाय हो क्यों न किये जायें। इस नशे को उतारने के लिए राणा जी ने पिटारी में बन्द करके काला नाग भेजा था लेकिन वह मीराँ ने (मैंने) अपने गले में डाल लिया और अत्यन्त प्रसन्नता के साथ नौसरी हार की तरह उसे हँस-हँसकर कण्ठ से लगाया। इसके बाद राणा ने विष का प्याला भेजा जिसे मीराँ ने प्राप्त किया और गोविन्द के गुण गाकर उसे चरणामृत के समान प्रेमपूर्वक पी गई। मैंने कृष्ण के नाम का प्याला पी लिया है इसलिए इसके अतिरिक्त मुझे और कोई बात अच्छी नहीं लगती। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधर नागर हैं जिनका प्रेम मेरे हृदय में पक्का है क्योंकि कच्चा रंग तो उड़ जाता है किन्तु पक्का रंग नहीं उड़ा करता। इसलिए मेरा कृष्ण-विषयक प्रेम छुड़ाये नहीं छुट सकता।

विशेष—पद २२ की भाँति इस पद में भी विष और नाग का भेजने का उल्लेख है। यदि इन घटनाओं को सत्य मान लिया जाये तो फिर यह समस्या आ जाती है कि इनमें से कौन-सी घटना प्रथम घटित हुई। पद २० में मीराँ ने विष का पहले वर्णन किया है और नाग का बाद में। प्रस्तुत पद में नाग का पहले वर्णन किया गया है और विष का बाद में। अतः मीराँ के पदों के आधार पर इन घटनाओं का कोई क्रम निर्धारित नहीं किया जा सकता। वैसे भी ये दोनों घटनाएँ संदिग्ध हैं।

पाठान्तर—किण विध कहूँ कहयाँ नहीं आवै चढ़यो घुमाय ।
गुरु प्रताप साध की संगत, हरिजन मिलिया आय ।।
किरपा करि मोहि अपनाई सब दुःख दियो मिटाय ।
राणा जी विषरा प्याला भेज्यो,म्हें सिर लियो चढ़ाय ।
चरणामृत को नामज कीनो पीगी प्रेम बढ़ाय ।।
पीवत ही भक्ति चढ़ी खुमारी अब फिर उतरो न जाय ।
जिन मीराँ मतवारी कीन्हीं, पूरब जनम के भाय ।।

× ×

मीराँ मगन भई हरि के गुण गाय ।।टेक।।
साँप पिटारा राणा भेज्यो मीराँ हाथ दियो जाय ।
न्हाय धोय जब देखण लागी सालिगराम गई पाय ।
जहर का प्याला राणा भेज्या अमृत दीन्ह बनाय ।
न्हाय धोय जब पीवण लागी, हो अमर अँचाय ।
सूल सेज राणा ने भेजी दीज्यो मीराँ सुलाय ।
साँझ भई मीराँ सोवण लागी मानो फूल बिछाय ।
मीराँ के प्रभु सदा सहाई राखे बिघन हटाय ।
भजन भाव में मस्त डोलती गिरधर पै बलि जाय ।।६७।।

शब्दार्थ—मगन=प्रसन्न । अचाय=पीकर । बिघन=विघ्न, बाधा ।

अर्थ—मीराँ कृष्ण के गुणों का गान करके प्रसन्न हो गई है । राणा ने पिटारी बन्द करके साँप भेजा था और वह मीराँ के हाथ में जा दिया । जब वह नहा-धोकर उसे देखने लगी तो वह सालग्राम का रूप हो गया । राणा ने जहर का प्याला भेजा था और उसे अमृत बताया था । जब नहा-धोकर मीराँ उसे पीने लगी तो वह अमृत बन गया । राणा ने काँटों की सेज बनवाकर भेजी थी और कहा था कि इस पर मीराँ को सुला देना । सायंकाल को जब मीराँ उस पर सोने लगी तो वह ऐसी सुन्दर प्रतीत हुई मानो फूलों की शैया हो । मीराँ कहती है कि प्रभु कृष्ण सदा मेरे सहायक हैं जो मेरे विघ्नों को दूर करते रहते हैं इसीलिए मैं उनके भजन-भाव में मस्त होकर घूमती हूँ और उसी गिरिधर पर न्यौछावर होती हूँ ।

विशेष—पद २२ और २१ की अपेक्षा इसमें 'सूल सेज' की भावना का और संकेत है। साथ ही अनेक पंक्तियों में मीरां का उल्लेख होने से इस पद की प्रामाणिकता में सन्देह हो जाता है।

× ×

हेली म्हांसू हरि बिनि रह्यो न जाय ॥टेक॥
सास लड़ै मेरी नणद खिजावै राणा रह्या रिसाय।
पहरो भी राख्यो चौकी बिठार्यो ताला दियो जड़ाय।
पूर्व जनम की प्रीत पुराणी सो क्यू छोड़ी जाय।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर अवर न आवै म्हांरी दाय ॥१८॥

शब्दार्थ—हेली=सखि। खिजावै=चिढ़ाती। है रिसाय=क्रोधित होना। अवर=दूसरा। दाय=पसन्द।

अर्थ—हे सखि! मुझ पर बिना कृष्ण के नहीं रहा जाता। इस प्रेम के लिए मेरी सास मुझसे लड़ती है ननद चिढ़ाती है और राणा क्रोध करते हैं। उन्होंने मेरे ऊपर पहरा भी लगवा दिया है और मुझे तालों में बन्द कर दिया है। कृष्ण से हमारी पूर्वजन्म की प्रीति है, भला वह कैसे छोड़ी जा सकती है अर्थात् इतनी पुरानी प्रीति किसी प्रकार भी नहीं छूट सकती। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधर नागर हैं। उनके अतिरिक्त मुझे और कोई पसन्द नहीं है।

विशेष—इस पद में 'सास' और 'ननद' का उल्लेख विशेष रूप से विचारणीय है—

पाठान्तर—इस पद की तीसरी और चौथी पंक्तियां इस प्रकार भी मिलती हैं—

चौकी मेलो भले ही सजनी ताला द्यो न जड़ाइ।
पूर्व जन्म की प्रीत हमारी सो कहाँ रहे लुकाइ॥

× ×

बाल्यां एक प्रभु मिलण बिधि क्यों होय ॥टेक॥
माया म्हारे धामलो फिर गया मैं बाल्या कोय।
खोवतां मन रैण बीती दिवस बीतो जोय।

हरि पधारी आंगणाँ गया मैं अभागण सोय ।
बिरह व्याकुल अनल अन्तर कलणाँ पड़ता होय ।
दासी मीराँ लाल गिरधर मिल ण्या बिछड़याँ कोय ॥६६॥

शब्दार्थ—बर्या=बर्ष । खाय्या खोय=खोकर खाना । जोवताँ=देखते देखते । अनल=आग । अन्तर=हृदय । कलणाँ पड़ता=चैन नहीं मिलता ।

अर्थ—मुझे यह कभी भी पता नहीं चला कि प्रियतम से मिलन किस प्रकार और कैसे होता है, क्योंकि मेरा और उनका तो कभी मिलन हुआ ही नहीं । वह मेरे आँगन में आया और लौट गया किन्तु मैंने उसे खोकर जाना, अर्थात् जब से वह चला गया तो मुझे उसके आने की खबर हुई । उसकी प्रतीक्षा करते-करते और राह देखते-देखते सारी रात बीत गई और इसी प्रकार दिन भी व्यतीत हुआ पर फिर लौट कर नहीं आया । हरि मेरे आँगन में आकर लौट भी गया परन्तु जब वह आया था तो मैं अभागिनी सो गई थी इसलिए उसके दर्शन न कर सकी । मेरा हृदय विरह की आग से व्याकुल है और तनिक देर के लिए भी चैन नहीं मिलता । गिरधर लाल (कृष्ण) की दासी मीराँ कहती है कि तुमने तो यह अद्भुत बात की है जो मिलकर बिछुड़ गए हो वरना मिलकर तो कोई भी नहीं बिछुड़ता ।

विशेष—विरह का वर्णन परम्परागत है इसमें कोई नवीनता नहीं है ।

तुलना—१ तन मिलुइ मैं चन्दन वासा । मकु जामसि ती देउँ सैमाना ॥
तबहूँ न जाना गा नै सोई । जावे भेंट, न सोएँ होई ॥
—जायसी

२ कबीर देखत दिन गया निस भी देखत जाइ ।
बिरहनि पिव पावै नहीं जियरा तलफै भाइ ॥ —कबीर

++

जोगिया की निसदिन जोऊँ बाट ॥टेक॥
पाँव न चालै पथ दूहेलो आड़ा ओघट घाट ।
नगर आइ जोगी रम गया रे, मो मन प्रीत न पाइ ।
मैं भोली भोलापन कीन्हों राख्यौ नहिं बिलमाइ ।
जोगिया कूँ जोवत बोहो दिन बीता, अजहू आयो नाहिं
बिरह बुझावण अन्तरि आवो तपन लगी तन माहि ।

कै तो जोगी जग में नाहीं, कैर बिसारी मोइ।
कांइ करूं कित जाऊंरी सजनी नैण गुमायो रोइ।
आरति तेरी अन्तरि मेरे, आवो अपनी जाणि।
मीरां ब्याकुल बिरहिणी रे, तुम बिनि तलफत प्राणि।।७०।।

शब्दार्थ—जोऊं बाट=राह देखना प्रतीक्षा करना=। दूहेला=विकट, भयंकर। झाड़ा=संकीर्ण। औघट्घाट=विचित्र मार्ग। बिलमाइ=प्रेम में फँसाना बोहा=बहुत। गुमाया=नष्ट कर दिया। आरति=लालसा। तलफत प्राणि=प्राण तड़पते हैं।

अर्थ—हे योगिराज प्रियतम! मैं रात-दिन तुम्हारे आने की प्रतीक्षा करती रहती हूँ। यह प्रेम का मार्ग बहुत ही भयंकर है इसलिए इस पर एक पग चलना भी मुश्किल है और यह विचित्र तथा संकीर्ण मार्ग है। इस नगर में आकर वह योगी रम गया था किन्तु मेरे मन में उसने अपने लिए कोई प्रीति नहीं देखी अर्थात् वह मेरे प्रेम का मूल्यांकन न कर सका। मैं प्रेम में भोली थी इसलिए मैंने यह भोलापन किया कि उसे अपने प्रेम में न फँसा सकी। इसलिए उस योगी की प्रतीक्षा करते-करते बहुत दिन बीत गए हैं किन्तु वह आज तक भी नहीं आया। हे जोगी! मेरे हृदय में धधकती हुई विरह की आग को बुझाने के लिए आ जाओ इस आग में मेरा शरीर जला जा रहा है। वह योगी अब तक नहीं आया इसके दो ही कारण हो सकते हैं। या तो वह जोगी संसार में नहीं रहा या वह मुझे बिल्कुल भूल गया है। हे सखि! मैं क्या करूँ कहाँ जाऊँ? मैंने तो अपनी आँखें भी उसके विरह में रोते-रोते नष्ट कर दी हैं। हे योगी! तुमसे मिलने की लालसा मेरे अन्तर में तड़प रही है, इसलिए तुम मुझे अपनी जानकर तुरन्त आ जाओ। मीरां कहती है कि मैं विरह के कारण अत्यन्त व्याकुल हूँ और तुम्हारे बिना मेरे प्राण तड़प रहे हैं।

विशेष—इस पद में मीरां पर नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। वर्णन मार्मिक है।

तुलना—१ सखि मोर पिया अबहु न आओल कुलिश-हिया।
नखर खोआयलु दिवस लिखि-लिखि नयन अंधायलु पिया पथ हेरि।
—विद्यापति

२ अँखड़ियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि पुकारि॥ —कबीर

३ मर्वाहि ढारि तू पेम न देखा। का जानसि कस होइ दुहेला॥
नैनन डिसिट करै जाहि दराहीं। देखि कर माव नाहीं॥
—जायसी

++

अखियाँ तरसाँ दरसण प्यासी ॥टेक॥
मग जोवाँ दिन बीताँ सजणी, नैण पड़्या दुखरासी।
डाराँ बैठ्याँ कोयल बोल्या, बोल सुण्या री गासी।
कड़वा बोल लोक जग बोल्या करस्याँ म्हारी हाँसी।
मीराँ हरि रे हाथ बिकाणी जणम जणम री दासी ॥७१॥

शब्दार्थ—तरसाँ=तरस रही हैं। दुखरासी=दुखों का ढेर अत्यधिक दुख। डाराँ=डाली। गासी=दुख से भरा हुआ।

अर्थ—हे सजनी ! मेरी आँखें प्रियतम के दर्शन के लिए तरस रही हैं और उन्हीं के दर्शनों की प्यासी हैं। उनकी राह देखते-देखते दिन बीत जाता है और विरह के कारण आँखों में दुखों के ढेर भरे हुए हैं। जब डाली पर बैठ कर कोयल बोली और मैंने उसका दुखपूर्ण बोल सुना तो मेरा दुख और भी अधिक उद्दीप्त हो गया। मेरे इस प्रेम के लिए संसार ने मेरी भर्त्सना की और मेरी हँसी उड़ाई। मीराँ कहती है कि मुझे जगत की भर्त्सना और उनकी हँसी की कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि मैं तो हरि के हाथ बिक गई हूँ और उसकी जन्म जन्मान्तरों से दासी हूँ।

विशेष—१ विरह-वर्णन परम्परागत है।

२ प्रकृति के उद्दीपन रूप का उल्लेख है।

३ संसार की अपने प्रति की गई कटुताओं की ओर कवयित्री संकेत है।

४ 'हाथ बिकाणी' मुहावरे से भावाभिव्यक्ति की सफल योजना।

५ मीराँ ने अनेक पदों में अपना और कृष्ण का जन्म-जन्मान्तर सम्बन्ध बताया है। इन पदों का उल्लेख पद ५० की टिप्पणी में किया जा चुका है।

तुलना—अँखियाँ हरि दरसन की प्यासी ।
देख्यौ चाहति कमलनैन कौं निसि-दिन रहति उदासी ॥
आए ऊधौ फिरि गए आँगन डारि गए गर फाँसी ।
केसरि तिलक मोतिनि की माला वृन्दावन के बासी ॥
काहू के मन की कोउ जानत लोगनि के मन हाँसी ।
सूरदास प्रभु तुम्हरे दरस कौं करवत लैहौं कासी ॥—सूरदास

++

जोगी मत जा मत जा मत जा पाँइ परूँ मैं तेरी चेरी हौं ॥टेक॥
प्रेम भगति को पैंड़ो ही न्यारो, हमकूँ गैल बता जा ।
अगर चँदण की चिता बणाऊँ अपणे हाथ जला जा ।
जल जल भई भसम की ढेरी अपणे अंग लगा जा ।
मीराँ कहै प्रभु गिरधरनागर, जोत में जोत मिला जा ॥७२॥

शब्दार्थ—चेरी=दासी । पैंड़ो=मार्ग । गैल=रास्ता । जोत=ज्योति ।

अर्थ—हे योगी ! तू मत जा । मैं तेरी दासी हूँ और तेरे पैरों में पड़कर यह विनती कर रही हूँ । प्रेम-भक्ति का मार्ग ही अनुपम है, उस समझना आसान काम नहीं है इसलिये मुझे वह मार्ग बता दे अर्थात् प्रेम-भक्ति की ओर अग्रसर कर दे । मैं तेरे विरह में इतनी दुःखी हूँ कि जीना नहीं चाहती इसलिए मैंने अगर (सुगन्धित पदार्थ) और चन्दन की चिता बनाई है । तू स्वयं अपने ही हाथों से इसमें आग लगा दे । मैं जब उस चिता में जलकर राख की ढेरी बन जाऊँ तो तू मुझे अपने शरीर पर लगा लेना । मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरिधर नागर ! ज्योति में ज्योति को मिला दे अर्थात् मैं तेरा ही एक अंश हूँ अतः इस अंश को भी अपने में ही मिला ले ।

विशेष —

१ वीप्सा अलंकार ।
२ अद्वैत भावना का उल्लेख ।
३ परम्परागत वर्णन ।

तुलना —

१ सून सेज हिय सालए रे, पिया बिनु घर मोय आजि।
बिनति करयों सहलोलिनि रे, मोहि देह अगिहर साजि॥

—विद्यापति

२ यहु तन जारौं मसि करूँ ज्यूं धूंआ जाई सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि॥ —कबीर

३ यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरैं जहँ पाउ॥ —जायसी

++

थें जीम्यां गिरधरलाल।
मीराँ दासी अरज कर्यां छै म्हारो लाल दयाल।
छप्पण भोग छत्तीसाँ बिंजण पावाँ जण प्रतिपाल।
राजभोग आरोग्याँ गिरधर, सम्मुख राखाँ थाल।
मीराँ दासी सरणाँ ज्यासी, कीज्यो बेग निहाल॥७१॥

शब्दार्थ—जीम्या=जीमना भोजन करना। लाल=प्रियतम। दयाल=दयालु। बिंजण=व्यंजन। आरोग्याँ=ग्रहण कर लिया। निहाल=प्रसन्न।

अर्थ—गिरधरलाल ने भोजन किया। उनकी दासी मीरा प्रार्थना करती है कि मेरा प्रियतम बड़ी दयालु कृष्ण है। ५६ भोग और ३६ व्यंजन उन लोक प्रतिपालक को प्राप्य हैं। गिरधर राजभोग ग्रहण करते हैं और सामने थाल को रखे हुए होते हैं। मीरा कहती है कि प्रभु मैं तुम्हारी दासी हूँ और तुम्हारी शरण में आ गई हूँ। शीघ्र अपनी कृपा का दान करके मुझे प्रसन्न कीजिए।

विशेष—

वल्लभ भक्ति-पद्धति में जो भोग का विधान किया गया है उसी का प्रभाव इस पद में परिलक्षित है।

++

छोड़ मत जाज्यो जी महाराज॥टेक॥
म्हा अबला बल म्हारो गिरधर थें म्हारो सरताज।

म्हा गुणहीन गुणागार नागर, म्हा हिवड़ो रो साज ।
जग तारण भोभीत निवारण थें राख्यॉं गजराज ।
हारयॉं जीवन सरण रावलॉं, कठे जावॉं व्रजराज ।
मीराँ रे प्रभु और ना कोई राखा अब री लाज ।।७४।।

शब्दार्थ—जाम्यो=जाना । महाराज=प्रियतम कृष्ण । गुणागार=गुणों का समूह । हिवड़ो रो=हृदय की । साज=शोभा । भोभीत=भयभीत संसार के दुखों के कारण उत्पन्न डर । निवारण=दूर करने वाला । रावलॉं=तुम्हारी । कठे=कहाँ ।

अर्थ—हे प्रियतम कृष्ण ! मुझको छोड़कर मत जाओ । मैं तो एक अबला हूँ—बलहीन स्त्री हूँ—और मेरा बल तो कृष्ण ही है अर्थात् तुम्हीं हो । तुम्हीं मेरे सरताज—सर्वोपरि वस्तु—हो । मैं गुणहीन हूँ और तुम सागर ! तुम गुणों के ढेर हो । तुम्हीं मेरे हृदय की शोभा हो । तुम संसार का उद्धार करने वाले और संसार के दुखों से उत्पन्न भय को दूर करने वाले हो । तुमने ही ग्राह से गजराज की रक्षा की थी । हारा और निराश जीवन तुम्हारी शरण में आकर ही आश्रय पाता है इसलिए हे व्रजराज ! मैं तुम्हें छोड़कर और कहाँ जाऊँ ? मीरा कहती है कि हे प्रभु ! तुम्हारे बिना मेरा और कोई नहीं है अतः अबकी बार मेरी लाज रख लो अर्थात् मुझे अपनी शरण में ले लो ।

विशेष—

१ परम्परागत वर्णन ।
२ मन की अनन्यता और अनुनय का सजीव चित्रण ।
३ इस पद में निम्नलिखित अन्तर्कथा है—

श्रीमद्भागवत में यह कथा आती है कि एक बार देवल मुनि श्वेत द्वीप में स्नान कर रहे थे कि हाहा नाम के किसी राक्षस ने उनका पैर पकड़ लिया । इससे रुष्ट होकर मुनि ने उसे ग्राह बन जाने का शाप दे दिया । इसी प्रकार एक बार इन्द्रद्युम्न राजा का उचित सत्कार न करने के कारण क्रुद्ध होकर अगस्त्य मुनि ने गज हो जाने का शाप दे दिया । संयोग से दोनों—ग्राह तथा गज—एक ही स्थान पर रहा करते थे । एक दिन जब गज अपने अन्य साथियों के साथ पानी पी रहा था तो ग्राह ने उसका पैर पकड़ लिया । गज ने बहुत

शक्ति लगाई, पर और न घट सका। अन्त में उसने कृष्ण को टेरा। गज की टेर सुनते ही कृष्ण नंगे पैरों दौड़े आये और ग्राह को मारकर गज की रक्षा की। साथ ही उसे पशु-योनि से मुक्त करके परम पद दे दिया।

पाठान्तर—छोड़ मत जाज्यो जी महाराज।
मैं अबला बल नाहिं गुसाईं तुम ही मेरे सिरताज।
मैं गुणहीन गुण नाहिं गुसाईं तुम समरथ महाराज।
थाँरी होइ के किणरे जाऊँ तुम ही हिवड़ा की साज।
मीराँ के प्रभु और न कोई राखो अब के लाज॥

तुलना—तू दयालु दीन हौं तू दानि हौं भिखारी। —तुलसीदास

++

ऐसी लगन लगाइ कहाँ तू जासी।।टेक।।
तुम देखे बिन कलि न परति है तलफि तलफि जिव जासी।
तेरे खातिर जोगण हूँगी करवत लूँगी कासी।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर चरण कँवल की दासी।।७१।।

शब्दार्थ—लगन=प्रेम। जासी=जाता है। कलि न परति है=चैन नहीं मिलता है। जिव=जी प्राण। करवत=आरे से कटना प्राचीन लोगों का यह विश्वास था कि काशी में आरे से कटने पर मुक्ति मिल जाती है।

अर्थ—हे प्रियतम! मुझसे इतना प्रेम करके अब तू कहाँ जाता है? मुझे क्यों छोड़ता है? तुम्हारे देखे बिना मेरे मन में चैन नहीं पड़ता और मैं तड़प तड़पकर प्राण खो दूँगी। तुम्हें प्राप्त करने के लिए मैं संसार के प्रति वैराग्य भावना अपनाकर जोगिन बन जाऊँगी और काशी में जाकर करवट ले लूँगी। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी गिरिधर नागर हैं और मैं उनके चरण-कमलों की दासी हूँ।

विशेष —

१ इस पद में प्रेम के गाम्भीर्य का प्रभावक वर्णन किया गया है।
२ इस पद की भाषा पर आधुनिक प्रभाव स्पष्ट है।
३ वर्णन में कोई नवीनता नहीं है।

++

पिया म्हारे नैणा आगां रहज्यो जी ।।टेक।।
नैणां आगां रहज्यो म्हांने भूल णा जाज्यो जी ।
भौ-सागर म्हां बूड्या चाहां स्याम बेग सुध लीज्यो जी ।
राणा भेज्या विष रो प्यालो, थें इमरत बर दीज्यो जी ।
मीरां रे प्रभु गिरधरनागर, मिल बिछुड़न मत कीज्यो जी ।।७६।।

शब्दार्थ—जाज्यो=जाना । बूड्या=डूबना । बर=इसके स्थान पर 'कर' होना चाहिए ।

अर्थ—हे प्रियतम ! सदैव मेरी आँखों के आगे ही रहना, मुझे छोड़कर अन्यत्र मत चले जाना । मेरी आँखों के आगे ही रहना, भूलकर भी मत चले जाना । मैं भव-सागर में डूबने वाली हूँ । हे स्याम ! हमारी जल्दी ही सुधि लीजिए और मुझे इस भव-सागर से पार कीजिए । राणा ने मुझे मारने के लिए विष का प्याला भेजा है, तुम उसे अमृत बना दो । मीरां कहती है कि हे गिरिधर नागर ! तुम मेरे स्वामी हो इसलिए मिलकर मुझसे बिछुड़ मत जाना ।

विशेष —

१ प्रथम और द्वितीय पंक्ति की आवृत्ति से भावों में विशेष प्रभावोत्पादकता आ गई है ।
२ भावों में कोई नवीनता नहीं है ।

++

थाँने काँई काँई बोल सुणावां म्हांरा सांवरा गिरधारी ।।टेक।।
पूरब जणम री प्रीत पुराणी जावा णा गिरधारी ।
सुन्दर बदन जोवतां साजण, थारी छबि बलहारी ।
म्हारे आँगण स्याम पधारो मंगल गावां नारी ।
मोती चौक पुरावां णेणां तण मण डारां वारी ।
चरण सरण री दासी मीरां जणम जणम री क्वाँरी ।।७७।।

शब्दार्थ—थाँने=तुझे । काँई-काँई=क्या-क्या । जोवतां=देखते ही ।

अर्थ—तुझे क्या-क्या कहकर समझाऊँ कि सांवरा गिरधारी मेरा प्रियतम है । हे गिरधारी ! मेरी तुम्हारी पूर्वजन्म की पुरानी प्रीति है अतः उसे छोड़ कर मत जाओ । हे साजन ! तुम्हारा सुन्दर मुख है जो देखते ही बनता है ।

तुम्हारी शोभा पर मैं न्योछावर होती हूँ। हे स्याम ! हमारे घर आओ। तुम्हारे स्वागत के लिए नारियाँ मंगल-गीत गा रही हैं। रत्नों से मोती चौक पुरा हुआ है। मैंने तुम्हारे ऊपर अपना तन-मन न्योछावर कर दिया है। मीराँ कहती है कि हे प्रियतम ! मैं तो तुम्हारी चरणों की दासी हूँ और तुम्हारी शरण में आ गई हूँ। मैं जन्म-जन्मान्तरों से अविवाहित हूँ क्योंकि तुम्हें छोड़ कर मैं और किसी को अपना प्रियतम नहीं बना सकती।

विशेष—इस पद में कृष्ण की रूप-छवि का वर्णन किया गया है जो वैष्णव भक्ति के सिद्धान्तों के अनुकूल है।

पाठान्तर—थाँने काँई-काँई कह समझावूँ म्हाँरा वाल्हा गिरधारी।
पूरब जनम की प्रीत हमारी अब नहीं जात निवारी॥
सुन्दर बदन जोवते सजनी प्रीत भई छै भारी।
म्हाँरे घर पधारो गिरधारी मंगल गावै नारी॥
मोती चौक पुराऊँ वाल्हा तन-मन तोपर वारी।
म्हारा सगपण तोसूँ साँवलिया जग सूँ नहीं विचारी॥
मीराँ कहै गोपिन को वाल्हा हम सूँ भयो ब्रह्मचारी।
चरन सरन है दासी तुम्हारी पलक न कीजै न्यारी॥

देखो माई हरि मन काठ कियो ॥टेक॥
आवन कह गयो अजूँ न आयो कर म्हाँने कोल गयो।
खान पान सुध बुध सब बिसर्यो कैसे म्हारो प्राण जियो।
थारो कोल बिरुद जग थारो थे काँई बिसर गयो।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर थे बिण फटत हियो ॥७८॥

शब्दार्थ—काठ=कठिन। कोल=वचन वायदा। फटत हियो=हृदय फटना बहुत अधिक दुःख देना।

अर्थ—हे सखी ! देखो कृष्ण ने अपना मन कितना कठिन कर लिया है अर्थात् मेरी सुध न लेकर अत्यन्त निर्मोहिता का परिचय दिया है। वह आने के लिए कह गया था लेकिन अभी तक नहीं आया। इसलिए हमसे उसने जो वायदा किया था वह भी बीत गया। उनके विरह में मेरा खाना-पीना और सुधि-बुधि सब बिसर गई है, अब तुम्हीं बताओ कि हमारे प्राण किस प्रकार

जीवित रहूँ अर्थात् मैं किस प्रकार जीवित रहूँ ? हे प्रियतम ! तुम्हारा वायदा तुम्हारे ही वाद के विरुद्ध सिद्ध हुआ । तुम क्यों बिसर गये ? मीरा कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधर नागर हैं और उनके बिना मेरा हृदय दुःख से फटा जा रहा है।

विशेष—'प्यारो कोल विरुद्ध जग थारो' में अवश्य भावोत्पादकता है वैसे सम्पूर्ण वर्णन में कोई नवीनता नहीं है। सारे वर्णन में परम्परा का ही पालन किया गया है।

पाठान्तर—दर्शो माइयाँ हरि मन काढ लिया।

आवन कहि गयो अजहूँ न आयो करि करि वचन गया।
खान पान सुध-बुध सब बिसरी कैसे करि मैं जियो ॥
बचन तुम्हार तुम्हीं बिसरे मन मेरो हर लियो।
मीराँ कहै प्रभु गिरधरनागर तुम बिन फाटत हिया ॥

तुलना—१ सखि मोर पिया
अबहु न आयोल कुलिस हिया—विद्यापति।

२ बहुत बड़ परदेसी की बात।
मंदिर अरध अवधि बदि हमसौं हरि अहार चलि जात ॥
ससि रिपु बरष सूर रिपु जुग बर, हर रिपु कीन्हो घात।
मघ पंचक लै गयो साँवरो तातें अति अकुलात ॥
नखत वेद ग्रह जोरि अर्ध करि सोई बनत अब खात।
सूरदास बस भई बिरह के कर मीजै पछितात ॥—सूरदास

जोगिया से प्रीति कियाँ दुख होई ॥टेक॥
प्रीति कियाँ सुख ना मोरी सजनी जोगी मित न कोइ।
रात दिवस कल नाहिं परत है तुम मिलियाँ बिनि मोइ।
ऐसी सूरत या जग माहीं फेरि न देखी सोइ।
मीराँ रे प्रभु कबरे मिलोगे मिलियाँ आनँद होइ ॥७६॥

शब्दार्थ—मित=मित्र वफादार। आँनद=आनन्द।

अर्थ—हे सजनी ! जोगी से—निर्मोही परदेसी से—प्रेम करने पर तो दुःख

ही होता है। इससे प्रीति करने पर सुख नहीं हुआ करता क्योंकि जोगी किसी का मित्र नहीं होता। हे जोगी प्रियतम ! तुम्हारे मिले बिना मुझे रात-दिन चैन नहीं पड़ता। हमेशा दुःख और विषाद में दुःखी रहती हूँ। जैसी तुम्हारी सूरत थी वैसी सूरत फिर इस संसार में नहीं देखी गई अर्थात् एक बार बिछुड़कर तुम फिर मुझे नहीं मिले। मीराँ कहती है कि हे मेरे प्रभु ! अब तुम मुझे कब मिलाओगे क्योंकि तुम्हारे मिलने से मुझे बहुत ही आनन्द प्राप्त होगा।

विशेष— जोगी मित न कोई बहुत भावात्मक प्रयोग है।

++

जोगियारी प्रीतड़ी है दुखड़ा रो मूल ॥टेक॥
हिल मिल बात बनावत मीठी पीछे जावत भूल।
तोड़त जेज करत नहिं सजनी जैसे चमेली के फूल।
मीराँ कहै प्रभु तुमरे दरस बिन लगत हिवड़ा में सूल ॥८०॥

शब्दार्थ—जोगियारी=जोगी की। प्रीतड़ी=प्रीति। दुखड़ा रो=दुःख मूल=जड़ कारण। जेज=देर। सूल=काँटे।

अर्थ—हे सजनी ! जोगी से प्रीति लगाना दुःख का कारण होता है पहले तो वह हिल-मिलकर मीठी-मीठी बातें बनाता है और फिर बाद में उन्हें भूल जाता है। उसे प्रेम को तोड़ते हुए देर नहीं लगती। वह प्रेम को इतनी ही जल्दी तोड़ देता है जिस प्रकार से चमेली का फूल। मीराँ कहती है कि प्रभु ! तुम्हारे दर्शन के बिना मेरे हृदय में काँटे चुभ रहे हैं अर्थात् मुझे बहुत दुःख हो रहा है।

विशेष—इस पद में कोई नया भाव नहीं है। पद ७९ का ही रूपान्तर है।

++

कोई दिन याद करो रमता राम अतीत ॥टेक॥
आसण माड अडिग होय बैठा, याही भजन की रीति।
मैं तो जाणूँ संग चलेगा, छाँड़ि गया अधबीच।
आत न दीसै जात न दीसै जोगी किसका मीत।
मीराँ कहै प्रभु गिरधरनागर चरणन आवै चीत ॥८१॥

शब्दार्थ—कोई दिन=किसी दिन कभी न कभी। रमता=घूमने-फिरने वाला। अतीत=निर्लिप्त विरक्त। आसण माड=आसन लगाकर। अकिंप=अचल निश्चल। चीत=चित्त।

अर्थ—हे निर्लिप्त राम! तुम किसी न किसी दिन तो मुझे याद करो और आकर दर्शन दो। तुम आसन जमाकर निश्चल रूप से बैठकर इसे ही भजन की रीति मान बैठे। वस्तुतः यह रीति—निर्लिप्त रहना—अनुचित है—मैंने तुमसे प्रेम करके यह मान लिया था कि तुम मेरे साथ चलोगे अर्थात् इस प्रीति का निर्वाह करोगे किन्तु तुम तो मुझे अधबीच में ही छोड़कर चले गये। जिस जोगी की कोई जाति-पाँति नहीं होती वह किसी का मित्र नहीं हो सकता। मीरां कहती है कि हे गिरधर नागर स्वामी! मेरा मन फिर भी तुम्हारे ही चरणों में लगा हुआ है।

विशेष—इस पद में नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

पाठान्तर—इस पद की प्रथम पंक्ति इस प्रकार भी मिलती है—

'कोइ दिन याद करोगे रमता राम अतीत।'

तुलना—तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।

आसण माँडि गुफा में बैठो, ध्यान हरि को लगायो ॥
गल बिच सेली हाथ हाजरियो अंग भभूत रमायो।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी भाग लिख्यो सो ही पायो ॥ —मीरां

++

✓ थाँरो रे मोहड़ा थाँसूँ म्हारी प्रीति ॥टेक॥
प्रेम भगति रो पैंडा म्हारो अवरण जाणाँ रीत।
इमरत पाइ विषाँ क्यूँ दीज्यौ कूँण गाँव री रीत।
मीरां रे प्रभु हरि अविणासी, अपणों जणाँरो मीत ॥८३॥

शब्दार्थ—मोहड़ा=मोह लेने वाले। पैंडा=मार्ग। अवरण=दूसरी। दूगाँव=रिवाज।

अर्थ—अरे मेरे मन को मोह लेने वाले योगी! मैंने तुम्हारी प्रीति जान ली है—तुम प्रीति करके धोखा देने वाले हो। हमारा मार्ग तो प्रेम और भक्ति

का है। इसके अतिरिक्त हम दूसरा मार्ग नहीं जानते। पहले तो तुमने अपना प्रेम रूपी अमृत हमें दिया था और अब विरह रूपी विष क्यों दे रहे हो। यह किस गाँव की—देश अथवा स्थान की—रीति है अर्थात् यह तो कहीं की भी रीति नहीं है। मीराँ कहती है कि हे मेरे अविनाशी प्रभु ! तुम मुझे अपना मित्र जानकर ग्रहण कर लो।

विशेष—'थाँरी म्हारी प्रीत' में उपालम्भ बहुत ही सबल एवं भावपूर्ण है।

++

पाठान्तर—आवो हरि निरमोहिड़ा जाणी थाँरी प्रीत।
लगन लगी जब प्रीत और ही, अब कछु औंधली रीत।
अमृत प्याय के विष क्यूँ दीजै, कूण गाँव की रीति।
मीराँ कहै प्रभु गिरधरनागर, आप गरज के मीत।

तुलना—जिन मधुकर अम्बुज रस चाख्यो क्यों करील फल भावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तज छेरी कौन दुहावै॥ —सूरदास

++

जावा दे जावा दे जोगी किसका मीत ॥टेक॥
सदा उदासी रहै मोरि सजनी निपट अटपटी रीत।
बोलत बचन मधुर से मानूं जोरत नाहीं प्रीत।
मैं जाणूं या पार निभैगी छांड़ि चले अधबीच।
मीराँ के प्रभु स्याम मनोहर प्रेम पियारा मीत॥ ८ ॥

शब्दार्थ—जावा दे=जाने दे। उदासी=उदासीन। निपट=बिल्कुल।

अर्थ—हे सजनी ! जाने दो क्योंकि जोगी किसी का मित्र नहीं होता अतः इसे रोकने से कोई लाभ नहीं होगा इस जोगी की यह बिल्कुल अटपटी रीति है कि जो इससे प्रेम करता है, उससे यह सदा उदासीन रहता है अर्थात् उससे प्रेम नहीं करता। मैं मानती हूँ कि यह मीठे और मधुर शब्द बोलता है किन्तु प्रीति नहीं जोड़ता—'हिम-मिल बात बणावत मीठी पीछे जावत भूल।' मैंने तो जाना था कि इस जोगी से प्रीति निभ जावेगी किन्तु यह तो बीच में ही छोड़कर चल दिया। मीराँ कहती है कि हे मनोहर श्याम ! तुम ही मेरे स्वामी और प्रेम-प्यारे मित्र हो।

विशेष—इस पद के भावों में पद नं० ७९ और ८० का समन्वय है।

++



धुतारा जोगी एकरसूं हँसि बोल ॥टेक॥
जगत बदीत करी मनमोहन, कहा बजावत ढोल।
अंग भभूति गले मृगछाला तू जन गुढ़िया खोल।
सदन सरोज बदन की सोभा, ऊभी जोऊँ कपोल।
सेली नाद बभूत न बटवो, अजू मुनी मुख खोल।
चढ़ती बैस नैण अणियाले तू घरि घरि मत डोल।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी चेरी भई बिन मोल ॥८४॥

शब्दार्थ—धुतारा=ठगने वाले। एकरसूं=एक बार ही। बदीत=विदित। गुढ़िया खोल=रहस्य को खोल दे। सदन=सद्य नवीन। सरोज=कमल। बदन=मुख। ऊभी=खड़ी-खड़ी। जोऊँ=देखती हैं। सेली=योगियों के पहनने की एक माला या चादर। नाद=योगियों के बजाने का एक बाजा। बभूत=भस्म। बटवो=योगियों की एक थैली। अजू=अब भी। मुनी=मौनी। बैस=अवस्था। अणियाले=अनियारे तीक्ष्ण। चेरी=दासी।

अर्थ—हे धूर्त योगी! एक बार हँस कर मुझ से बात कर ल। हे मनमोहन! तुमने मुझे जगत् में विदित कर दिया है अर्थात् तुम्हारे प्रति मेरा प्रेम सबको ही ज्ञात हो गया है और मैं भी अपनी इस प्रीति को ढोल बजा-बजाकर कहती हूँ। मैंने तेरे लिए अंगों पर भस्म रमा ली है और गले में मृगछाला पहन ली है। मेरे इस प्रेम का रहस्य तू प्रत्येक व्यक्ति से खोल दे अर्थात् मुझ से प्रेमप्रदर्शित करके जगत् को दिखा दे। तुम्हारे मुख की शोभा नवीन कमल के समान है। तुम्हारे सुन्दर कपोलों को मैं खड़ी-खड़ी देखती हूँ। मेरे पास योगियों की-सी न तो चादर है न उनकी-सी थैली है न उनका-सा बाजा है, किन्तु मेरा प्रेम तुम्हारे प्रति अपार है इसलिए हे मौनी! अब भी तू मुँह खोल और मुझसे बातें कर। तुम्हारी चढ़ती हुई—नित यौवन और शोभा को प्राप्त होती हुई—अवस्था है तुम्हारे नेत्र तीक्ष्ण हैं। इसलिए तू घर-घर मत जा क्योंकि अनेक भोली नारियाँ तुम्हारे रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध

हो जायेंगी। इससे दो प्रकार की ध्वनियाँ निकलती हैं—एक तो मीराँ का ईर्ष्या भाव क्योंकि वह नहीं चाहती कि उसके प्रियतम को अन्य स्त्रियाँ प्रेम करें दूसरी यह कि मैं तो तुम्हारी निष्ठुरता से दुखी हो ही, बेचारी अन्य स्त्रियाँ तो इस दुख से बच जायें तुम्हारी निष्ठुरता की शिका न बनें। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी तो अविनाशी हरि हैं जिनकी मैं बिन मोल के ही दासी बन गई हूँ अर्थात् मैंने उनके लिए स्वयं को पूर्णतः समर्पित कर दिया है।

विशेष—इस पद में नाथ निर्गुण और वैष्णव सम्प्रदायों का समन्वित प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। सेली नाथ अद्भुत नाथ-सम्प्रदाय के शब्द हैं अविनाशी निर्गुण सम्प्रदाय का जाना-माना शब्द है और कृष्ण की रूप-छवि का वर्णन वैष्णव-सम्प्रदाय के अनुकूल है।

पाठान्तर—धूतारा जोगी एक बेरियाँ मुख बोल रे।
कान कुण्डल गल शील सेली अवतरी मुनि मुख खोल रे।
राम रच्यो संगी बन जमुना ता दिन कीनी कोल रे॥
पूरब जनम की मैं हूँ गोपिका, अध बिच पड़ गयो भोल रे।
जगत पती से तुम करो मोहन अब क्यूं बजाओ ढोल रे॥
तेरे कारण सब जग त्याग्यो अब मोहि कर सों खोल रे।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर, चेरी भई बिन मोल रे॥

रमईया मेरे तोही सूँ लागी नेह ॥टेक॥
लागी प्रीत जिन तोड़ै रे बाला अधिको कीजै नेह।
जे हूँ ऐसी जानती रे बाला प्रीत कीयाँ दुख होय।
नगर ढंढोरो फेरती रे, प्रीत करो मत कोय।
बीर न खावै मारी रे, मूरख न कीजै मित्त।
खिण ताता खिण सीतला रे, खिण बैरी खिण मित्त।
प्रीत करै ते बावरा रे करि तोड़ै ते कूर।
प्रीत निभावण बलके चंचल, है कोई बिरला सूर॥

तुम पचलीरी की भूँतरौरे, हम बालू की भीत ।
अब तो क्यों कैसे बणे रे पुरब जनम की प्रीत ॥
एक थाणे तौपिया रे, इक आँबो इक बूल ।
थांकी रस नीको लग रे, थांकी भगत सूल ॥
ज्यूं डूंगर का बाहुला रे यूं ओछा तणा सनेह ।
बहता बहीजो उतावला रे, वे तो तटक बतावे छेह ॥
आयो सांवरा आवता रे, कौसण माया मोर ।
मीरां कूँ हरिजन मिल्या रे, ले गया पवन झकोर ॥८३॥

शब्दार्थ—नेह=प्रेम । बाला=बाल्हा प्रियतम । मिन=मत । दुख=दुख । ढंढोरो फेरी=ढोल बजा-बजाकर कहती । (बीर न बाजे पारी रे—इस पदांश का अर्थ स्पष्ट नहीं है) । मूरख=मूर्ख । मित=मित्र । पिसु=क्षण । ताता=गर्म । कूर=क्रूर निठुर । पभगा=बंधन बाधाएँ । गजगारी की भूँतरौरे=मुरई कबूतर । थाणे=स्थान पर । आँबो=आम । बूल=बबूल । नीको=अच्छा । भूल=शूल कांटे । डूंगर=ऊँचाई । बाहुला=बहने वाला मोल । तटक बतावे छेह=शीघ्र ही नष्ट कर देता है, या तोड़ देता है ।

अर्थ—हे रमणीय कृष्ण मेरा तो तुमसे ही प्रेम हो गया है । हे प्रियतम ! लगी हुई प्रीत को तोड़ो मत बल्कि मुझसे और अधिक प्रेम करो । हे प्रियतम ! यदि मैं ऐसा जानती कि प्रेम करने में दुःख होता है तो सारे नगर में —संसार में— ढोल बजा-बजाकर मैं इस बात की घोषणा करती कि किसी का भी प्रेम नहीं करना चाहिए । मूर्खों को मित्र नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार दूध क्षण में गर्म और ठंडा हो जाता है उसी प्रकार मूर्ख क्षण में ही प्रेम प्रदर्शित करने लगता है और क्षण में ही उदासीन हो जाता है— क्षण में ही शत्रु और क्षण में ही मित्र बन जाता है । जो व्यक्ति प्रेम करे, वह पागल है प्रेम करके जो उसे तोड़े वह निठुर है । ऐसा तो कोई विरला ही शूरवीर होता है । जो बाधाओं को दुःख सहकर भी प्रीति करता है और उसे निभाता है । हे प्रियतम ! तुम मुरई कबूतर के समान हो और मैं बालू की भीत (दीवार) के समान हूँ फिर भी हम साथ कैसे हो सकते हैं क्योंकि यह

तो पूर्वजन्म की प्रीत है। एक ही स्थान पर यदि आम और बबूल के वृक्ष को लगाया जाय तो आम का रस फिर भी मीठा होगा और बबूल काँटे ही प्रदान करेगा। तुच्छ प्रेम इस प्रकार का होता है जिस प्रकार से ऊँचाई से बहने वाला पानी का स्रोत होता है। वह जब बहता है तो बहुत तेजी से—उतावलेपन से—बहता है और शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अब सावन और भादों का महीना आ गया है। मोर बोलने लगा है। मीरां कहती है कि मुझे हरिजन मिला जिसके बचन से मुझे इस प्रकार आह्लाद हुआ जिस प्रकार पवन के झकोरे से होता है।

विशेष—१ इस पद मे उपमा अलंकार का बहुत सफल प्रयोग हुआ है।

२ तीसरी और चौथी पंक्तियों में भावों का प्रवाह सागर तरंगित हो रहा है।

३ प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन हुआ है।

++

गिरधर रीसाणा कौन गुणां ॥टेक॥
कछुक औगुण हम में काढ़ो मैं भी कान सुणां ॥
मैं तो दासी थारी जनम जनम की थें साहब सुगणा।
मीरां कहे प्रभु गिरधरनागर थारोई नाम भणां ॥८६॥

शब्दार्थ—रीसाणा=अप्रसन्न होना। कौन गुणां=किस कारण। काढ़ो=निकालो। कान सुणां=कानों से सुन लूँ। सुगणां=गुणी श्रेष्ठ। थारोई=तुम्हारा। भणां=जपा करती हूँ।

अर्थ—हे गिरधर! तुम किस कारण मुझ से अप्रसन्न हो। हम में कुछ तो दोष निकालो ताकि मैं उन दोषों को स्वयं अपने कानों से सुन लूँ। मैं तो तुम्हारी जन्म-जन्म की दासी हूँ और तुम बहुत गुणवान तथा श्रेष्ठ हो। ध्वनि यह निकलती है कि गुणवान को तो वैसे ही दूसरों के दोषों पर ध्यान नहीं देना चाहिए और फिर मैं तो तुम्हारी जन्म-जन्मान्तरों की दासी हूँ अतः मेरे दोष तो तुम्हें बिल्कुल ही नहीं देखने चाहिए। मीरां कहती है कि हे प्रभुनागर! मैं तो तुम्हारे ही नाम का जप किया करती हूँ तुम्हारे अतिरिक्त किसी अन्य देव को

अपना ध्यान में भी नहीं लाती अतः अप्रसन्नता छोड़कर तुम्हें मेरे ऊपर असीम कृपा-दृष्टि करनी चाहिए।

विशेष—इस पद की तीसरी पंक्ति में उक्ति-वैचित्र्य है जो प्रायः प्रत्येक भक्त कवि के काव्य में मिलता है।

पाठान्तर—गिरधर रूसणु जी कौन गुनाँह।
कछु इक औगुण काढ़ो म्हाँ में, म्हैं भी कानाँ सुणाँ॥
मैं दासी थारी जनम जनम की, थे साहिब सुगणाँ।
काई बात सूं करवी रूसणु, क्यों दुख पावो छो मणाँ॥
किरपा करि मोहि दरसण दीज्यो, बीते दिवस घणाँ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, थारो ही नाँव गणाँ॥

तुलना—प्रभु मोरे अवगुण चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो चाहो तो पार करो॥ —सूरदास

हरि थें हर्या जण री भीर ॥टेक॥
द्रोपता री लाज राख्याँ थे बढ़ायाँ चीर॥
भगत कारण रूप नरहरि, धर्यां आप सरीर।
बूड़तो गजराज राख्यो, कट्यौ कुञ्जर भीर।
दासि मीराँ लाल गिरधर, हरो म्हारी भीर ॥८७॥

शब्दार्थ—जन=भक्त। भीर=संकट। नरहरि=नृसिंह। बूड़तो=डूबता हुआ। राख्यो=रक्षा की। कुञ्जर=हाथी।

अर्थ—हे हरि! तुमने हमेशा भक्तों के संकटों को नष्ट किया है। तुमने दुःशासन द्वारा वस्त्रहीन करने का प्रयास करते हुए द्रौपदी की लाज की रक्षा की और उसके वस्त्र को अनन्त बना दिया। तुमने प्रह्लाद के कारण नृसिंह का रूप धारण किया और उसके नास्तिक पिता हिरण्यकशिपु की हत्या करके भक्त प्रह्लाद की रक्षा की। तुमने डूबते हुए हाथी को बचाया और उसके संकटों का विमोचन किया। हे लाल गिरधर! मीराँ तुम्हारी दासी है अतः हमारे भी संकटों को दूर करो।

विशेष—१ भक्त पहले अपने आराध्य के गुणों का वर्णन करके अपने

कार्य का बखान करते हैं प्रायः सभी भक्त कवियों ने इसी प्रणाली को अपनाया है। मीराँ के उक्त पद में भी यही परम्परा दृष्टिगोचर होती है।

२ इस पद में निम्नलिखित मर्मकथायें हैं—

द्रोपदी की लाज राखना—जब महाराज धृतराष्ट्र ने पाँडवों को हस्तिनापुर का राज्य दे दिया तो पाँडवों ने वहाँ पर एक शीशमहल बनवाया। इस महल की विशेषता यह थी कि जहाँ इसमें पानी था वहाँ सूखा दिखाई देता था। एक बार दुर्योधन इस महल को देखने के लिए गया और भूल से पानी के हौज में गिर गया। द्रोपदी ने उस परिहास में अंधे का पुत्र भी अंधा कह दिया। दुर्योधन ने इस परिहास का बदला लेने का संकल्प कर लिया।

कुछ समय बाद जब दुर्योधन ने चालाकी से जुएँ में महाराज युधिष्ठिर को हराकर उनका सारा राजपाट ले लिया तो साथ में द्रोपदी को भी जीत लिया। इसके बाद उसने अपने अनुज दुःशासन को आज्ञा दी कि वह द्रोपदी को उसके महल से खींच कर सभा में ले आये। चाहे वह कैसी अवस्था में हो। दुःशासन ने अपने भाई की आज्ञा का पालन किया। जब द्रोपदी सभा में आ गई तो दुर्योधन के आदेशानुसार दुःशासन उसे वस्त्रहीन करने लगा। द्रोपदी ने और कोई आश्रय न देख कर कृष्ण की विनती की। कृष्ण ने द्रोपदी की साड़ी इतनी लम्बी कर दी कि दुःशासन खींचते-खींचते हार गया पर वह समाप्त न हुई। इस प्रकार कृष्ण ने द्रोपदी की लाज बचाई।

हिन्दी में इस कथा का वर्णन पर्याप्त पाया जाता है। एक रीतिकालीन कवि ने इसी घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है—

'सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है
कि सारी ही की नारी है, कि नारी की ही सारी है।

भगत कारण रूप नरहरि—प्रसिद्ध दैत्यराज हिरण्यकशिपु ने घोर तपस्या करके यह वरदान प्राप्त कर लिया था कि वह न तो दिन में मारा जाय न रात में मारा जावे न बारह महीनों में मारा जावे न आदमी से मरे और न पशु से मरे। जब उसको यह वरदान मिल गया तो उसे बड़ा घमंड हो गया और उसने अपने राज्य में घोषणा कर दी कि जो भी ईश्वर का नाम लेगा उसे मृत्यु दण्ड मिलेगा।

हिरण्यकशिपु का पुत्र प्रह्लाद बहुत बड़ा ईश्वर भक्त था। इसी कारण उसे अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं। कभी उसे हाथी से कुचलवाने का प्रयत्न किया गया तो कभी आग में जलाने का और कभी पर्वत की चोटी से गिराने का। इन भीषण कष्टों से भी जब प्रह्लाद का बाल भी बाँका न हुआ तो उसे गर्म लोहे से जलाने का प्रबन्ध किया गया। जब गर्म खम्भे में प्रह्लाद बाँधा जाने वाला था कि भगवान कृष्ण उस खम्भे में से नृसिंह (आधा आदमी और आधा सिंह) का रूप धारण करके एकदम बाहर निकल आए और हिरण्यकशिपु को अपने नाखूनों से फाड़ डाला। इस प्रकार इन्होंने अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा की।

बूड़तो गजराज राख्यो—इसकी अन्तर्कथा ७४वें पद की व्याख्या में दी जा चुकी है।

पाठान्तर—हरि तुम हरो जन की भीर।
द्रोपदी की लाज राख्यो, तुम बढ़ायो चीर॥
भक्त कारन रूप नरहरि धार्यो आप सरीर।
हिरनकस्यप मार लीन्हो धर्यो नाहिं धीर॥
बूड़ते गजराज राख्यो, किया बाहर नीर।
दास मीरा लाल गिरधर, दुःख जहाँ तहाँ पीर॥

इस पद में 'पीर' के स्थान पर 'भीर' शब्द अधिक उपयुक्त है क्योंकि इस प्रसंग में 'पीर' का कोई अर्थ नहीं है। राजस्थानी में 'भीर' का अर्थ है 'साथ' या 'साथ देने वाला'। यहाँ यह अर्थ अभिप्रेत है।

++

✓ म्हाने निभाज्यो, बाँह गह्यांरी लाज ॥टेक॥
असरण सरण कह्याँ गिरधारी पतित उधारण पाज।
भौसागर मझधार अधारां थें बिण घणो अकाज।
जग जग भीर हरी भगतारी, दीज्यो मोच्छ नेवाज।
मीरां सरण गह्यां चरणांरी लाज रख्यां महाराज ॥८८॥

शब्दार्थ—निभाज्यो=निभा दीजिए। बाँह गह्यांरि=बाँह पकड़ने की लज्जा रखे थी। पाज=प्रण। थें बिण=तुम्हारे बिना। अकाज=हानि।

युग-जुग=युग-युगों से । भीर=संकट । हीयाँ=हीया । मोच्छ=मोक्ष । नेवाज=दयालु ।

अर्थ—हे कृष्ण ! अब तो मुझे अपना लेने की लाज निभा दीजिये अर्थात् अब तक तुमने जो मेरी उपेक्षा की है वही काफी है अब इस उपेक्षाभाव को छोड़कर मुझ पर कृपा कीजिए । हे गिरधारी ! सुना है कि तुम शरणहीन व्यक्ति को शरण देने वाले हो और तुम्हारा प्रण पापियों का उद्धार करने का है । मैं शरणहीन भी हूँ और पापी भी हूँ इसलिए मेरे लिए न सही अपने प्रण और मर्यादा की रक्षा के लिए ही मुझे शरण दीजिए । मैं निराधार—निराश्रित—होकर इस संसार रूपी सागर में डूब रही हूँ । यदि तुमने मुझ पर दया नहीं की तो तुम्हारे बिना मुझे बहुत हानि होगी । युग-युगों से ही तुम अपने भक्तों के संकटों का निवारण करते आये हो और तुम मोक्ष-दायक और दयालु दिखाई दिए हो । मीरां कहती है कि हे महाराज ! मैंने तुम्हारे चरणों की शरण ग्रहण कर ली है अतः मेरी लाज रखो ।

विशेष—इस स्तुति में परम्परा का पालन है । कोई नवीनता नहीं है ।

× ×

हरि बिन कूण गती मेरी ॥टेक॥
तुम मेरे प्रतिपाल कहियै मैं रावरी चेरी ।
आदि अंत निज नाँव तेरो हीया में फेरी ।
बेरि बेरि पुकारि कहूँ प्रभु आरति है तेरी ।
यौ संसार बिकार सागर बीच में घेरी ।
नाव फाटी प्रभु पाल बाँधो बूडत है बेरी ।
बिरहणि पिवकी बाट जोवै राखिल्यो नेरी ।
दासि मीराँ राम रटत है मैं सरण हूँ तेरी ॥८६॥

शब्दार्थ—कूण=कौन । गती=गति दशा । प्रतिपाल=पालन करने वाले । रावरी चेरी=तुम्हारी दासी । नाँव=नाम । हीया=हृदय । बेरि-बेरि=बार-बार । आरति=आर्ति प्रबल इच्छा । बिकार=दुःख । बेरी=बेड़ा नाव । पिव की=प्रियतम की । नेरी=पास ।

अर्थ—हे हरि! तुम्हारे बिना मेरी कौन गति है? अर्थात् तुम्हारे बिना मेरा कहीं भी ठिकाना नहीं है। तुम मेरा पालन करने वाले कहलाते हो और मैं तुम्हारी दासी हूँ। मैं रात दिन में—हर समय में—तुम्हारा ही नाम रटती हूँ। हे प्रभु! तुम्हारे दर्शन की मेरी प्रबल इच्छा है यह संसार दुःखों से भरा हुआ सागर है मैं जिसके बीच में घिर गई हूँ। मेरी नाव टूट गई है और वह डूबी जा रही है। इसलिए हे प्रभु! इसका पाल बाँधो इसको डूबने से बचाओ। तुम्हारे विरह में तुम्हारी प्रिया विरहिणी बनकर प्रियतम की (तुम्हारी) प्रतीक्षा कर रही है, अतः मुझे अपने पास रखो अपनी शरण में ले लो। दासी मीरां कहती है कि मैं राम रटती हूँ और तुम्हारी शरण में आ गई हूँ।

विशेष—वीप्सा और रूपक अलंकार।

तुलना—अबकै माधव मोहि उधारि।

मगन हौं भव अम्बुनिधि में कृपासिन्धु मुरारि॥
नीर अति गंभीर माया लोभ लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटत मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सेवार।
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम-नौका ओर॥
थक्यो बीच बेहाल बिह्वल सुनहु करुना मूल।
स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु सूर ब्रज के कूल॥ —सूरदास

× ×

प्रभु जी थे कहाँ गया नेहड़ा लगाय ॥टेक॥
छोड़्या म्हां बिस्वास सँगाती प्रम री बाती बलाय।
बिरह समंद में छोड़ गया छो नेह री नाव चलाय।
मीरां रे प्रभु कबरे मिलोगे थें बिन रह्यो न जाय ॥९०॥

शब्दार्थ—नेहड़ा=नेह, स्नेह। बिस्वास सँगाती=विश्वासघात करने वाला। समंद=समुद्र। नेह री=प्रेम की।

अर्थ—हे प्रभु! तुम मुझसे प्रेम करके कहाँ चले गए। हे विश्वास

पाती ! तुमने मेरे हृदय में प्रेम की बत्ती जलाकर मुझे छोड़ दिया ? प्रेम की नाव चलाकर तुम मुझे विरह के समुद्र में छोड़ गए हो। मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! तुम मुझे कब दर्शन दोगे ? क्योंकि तुम्हारे बिना मुझसे रहा नहीं जाता।

विशेष—१ 'प्रेम री बाती' और 'विरह समँद' में रूपक अलंकार।
२ 'रे' की प्लुत ध्वनि से हृदय की अथाह वेदना साकार हो ही उठी है।

पाठान्तर—पिया ते कहाँ गयो नेहरा लगाय।
छाँड़ि गयो अब कहाँ बिसोसी, प्रेम की बाती बराय।
विरह समुद्र में छाड़ि गया पिव, नेह की नाव चलाय।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर तुम बिन रह्यो न जाय॥

× ×

डारि गयो मनमोहन पासी ॥टेक॥
आँबाँ की डालि कोइल इक बोलै मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी।
विरह की मारी मैं बन बन डोलूँ प्राण तजूँ करवत ल्यूँ कासी।
मीराँ रे प्रभु हरि अविनासी, तुम मेरे ठाकुर मैं तेरी दासी ॥६१॥

शब्दार्थ—डारि गयो=डाल गया। पासी=फाँसी। आँबाँ=आम। केरी=की। करवत=करवट, आरे से चिरना।

भाव—मनमोहन कृष्ण मेरे गले में फाँसी डाल गया है। आम की डाली पर बैठ कर कोयल बोल रही है, जिससे मेरी विरहाग्नि और भी बढ़ रही है। यह कैसी विडम्बना है कि मैं तो विरह में मर रही हूँ और संसार इसे मेरा पागलपन समझकर हँस रहा है। मेरी विरह-वेदना इतनी तीव्र हो गई है कि इसकी मारी मैं वन-वन प्रियतम को खोजने के लिए मारी-मारी फिर रही हूँ। इससे तो अच्छा यही है कि मैं अपने प्राणों को तज दूँ या काशी जाकर करवट ले लूँ—स्वयं को आरे से चिरवा लूँ। मीराँ कहती है कि हे अविनाशी और स्वामी प्रभु ! तुम मेरे ठाकुर (स्वामी) हो और मैं तुम्हारी दासी हूँ।

विशेष—

१ 'डारि गयो मनमोहन पासी' यह पंक्ति बहुत ही भावात्मक है।

२ 'आँबा की डालि कोयल इक बोलै' में प्रकृति का उद्दीपन रूप है।
३ 'मेरो मरण अरु जग केरी हाँसी' में प्रेम की विवशता साकार हो उठी है।

पाठान्तर—डारि गयो रे गले मोहन फाँसी।

ऊँची सी अटारी पर मेहँदा बरसत,
बून्द लगी उसी तीर की गाँसी।
अमुवा की डाली पर कोयल बोलत,
म्हाँरो तो मरनो भयो औरी भयो हाँसी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर
थे तो मेरा ठाकुर, मैं तो थारी दासी॥

तुलना—नेह लगाय त्यागि गये तृन सम डारि गये गल फाँसी। —सूरदास

× ×

✓माई म्हारी हरिहूँ न बूझ्याँ बात ।टेक।
पंड माँसूं प्राण पापी निकसि क्यूं णा जात।
पटा णाँ खोल्या मुखाँ णा बोल्या, साँझ भयाँ प्रभात।
अबोलणाँ जुग बीतण लागो कायाँरी कुसलात।
सावण आवण हरि आवण री सुण्या म्हाणे बात।
घोर रैणाँ बीजु चमकाँ बार गिणताँ प्रभात।
मीराँ दासी स्याम राती ललक जीवणाँ जात ॥६२॥

शब्दार्थ—न बूझ्याँ बात=बात न पूछना कोई बात न करना। पंड माँसूं=शरीर में से। पटा=पट घूँघट। अबोलणाँ=बिना बोले ही। कायाँरी=देह की। कुसलात=कुशल। रैणाँ=रैन रात। बीजु=बिजली। बार गिणताँ=घड़ी गिनते-गिनते।

अर्थ—हे सखी! कृष्ण ने हमारी कोई भी बात नहीं पूछी अर्थात् हम से बिल्कुल भी बातें नहीं कीं। इस उदासीनता के कारण मुझे इतना दुःख है कि इस शरीर में से यह पापी प्राण क्यों नहीं निकल जाते। उन्होंने न तो मेरा घूँघट ही हटाया और न मुख से बातें ही कीं। मैं साँझ को राह देखती रही और इसी तरह प्रभात हो गया। बिना बोले का समय इतनी कठिनता से बीता कि एक एक पल एक युग के समान बीता। अतः हमारी देह कुशल है ?

अर्थात् इस प्रकार स्थिति में कौन कुशल रह सकती है। मैंने तो यह बात सुनी थी कि हरि सावन में आ जायेंगे किन्तु वे अभी तक नहीं आये। मैं अकेली हूँ रात्रि अंधकारपूर्ण है बिजली चमक रही है और मैं घड़ियों का भिन्न-भिन्न कर प्रभात को प्राप्त करती हूँ अर्थात् भयकर रातें घड़ियाँ गिनते-गिनते ही कटती है। मीरा कहती है कि मैं तो कृष्ण की दासी हूँ और उनके ही प्रेम में रंगी हुई हूँ। मेरा जीवन कसकते हुए जा रहा है अर्थात् मिलन की महत्वाकांक्षा लिए ही मेरे दिन कट रहे हैं।

विशेष—इस पद में विरह की अभिव्यक्ति बहुत ही सफल एवं मार्मिक हुई है। प्रकृति के उद्दीपन रूप ने इस मार्मिकता में और भी चार चाँद लगा दिये हैं।

पाठान्तर—माई म्हाँरी हरि न बूझी बात।
पिंड में से प्राण पापी निकस क्यूँ नहीं जात।
रैण अंधेरी बिरह घेरी तारा गिणत निसि जात।
ले कटारी कंठ चीरूँ, करूँगी अपघात॥
पाट न खोल्या, मुखाँ न बोल्यो साँझ लग परभात।
अबोलना में अवधि बीती काहे की कुसलात॥
सुपन में हरि दरस दीन्हों मैं न जाण्यो हरि जात।
नैनाँ म्हाँरा उघड़ि आया रही मन पछतात॥
आवण आवण होय रह्यो री नहीं आवण की बात।
मीराँ व्याकुल विरहणी रे, बाल ज्यों बिललात॥

तुलना—नहिं आनि परै कछू, या तन को केहि भाँहते पापी न प्रान तजै।
—हरिश्चन्द्र

× ∧

परम सनेही राम की नीति ओलूँ री आवै ॥टेक॥
राम हमारे हम हैं राम के, हरि बिन कछू न सुहावै।
आवण कह गये अजहुँ न आये जिवड़ो अति उकलावै।

चरण कँवल की लगनि लगी नित बिन दरसण दुख पावै।

मीराँ कूँ प्रभु दरसण दीज्यो आँणद बरण्यूँ न जाय ॥६३॥

शब्दार्थ—मीति=व्यवहार। भोळूं=याद। दरसावै=मालूम होगा। बरण्यु न जावै=वर्णन नहीं किया जा सकता।

अर्थ—अत्यन्त प्रेम करने वाले राम के व्यवहार की निरन्तर याद आती रहती है। राम हमारा है और हम राम के हैं अर्थात् हम दोनों में अभेद है इसीलिए हमें हरि के बिना कुछ अच्छा नहीं लगता। राम आने की—वापस लौटने की—कह गये थे किन्तु आज भी लौटकर नहीं आये। यही कारण है कि मेरा जी बहुत ही व्याकुल हो रहा है। हे रमैया! मुझे तुम्हारे दर्शनों की आशा लगी हुई है। न जाने हरि कब दर्शन देंगे? मेरे मन में उनके चरण-कमलों की नित लगन लगी रहती है और बिना दर्शन के मेरा मन बहुत दुःख पा रहा है। मीराँ कहती है कि हे प्रभु! तुम हमें अपना दर्शन दो। उस दर्शन से जो आनन्द मिलेगा वह अवर्णनीय है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

विशेष—वर्णन में कोई नवीनता नहीं है केवल परम्परा का पालन है।

× ×

सांवलिया म्हारो छाय रह्या परदेस ॥टेक॥
म्हारा बिछड्या फेर न मिलिया भेज्या णा एक सन्देस।
रतण आभरण भूखण छाड्याँ खोर कियाँ सिर केस।
भगवाँ भेख धरयाँ थें कारण ढूंढ्याँ चार्याँ देस।
मीराँ रे प्रभु स्याम मिलण बिणा जीवनि जनम अनेस ॥६४॥

शब्दार्थ—छाय रह्या=बसा हुआ। सन्देस=सन्देश। खोर कियाँ=सिर मुड़ा लिया। अनेस=अप्रिय बुरा।

अर्थ—हमारा कृष्ण परदेश में बसा हुआ है। वह जब से बिछुड़कर गया है तब से न तो वह आकर मिला ही और न उसने कोई सन्देश ही भेजा है। उसकी रट लगाते हुए, उस याद करते-करते हमने आभूषण और भोजन छोड़ दिया है और सिर मुड़ा लिया है। हे प्रभु! तुम्हारे कारण ही हमने भगवाँ वेश धारण कर लिया है और तुम्हें चारों देशों में—चारों दिशाओं में—ढूंढ रही हैं। मीराँ कहती है कि अपने स्वामी कृष्ण के मिले बिना यह जीवन और जन्म अप्रिय बन गया है नीरस हो गया है।

विशेष—अभिव्यक्ति में कोई नवीनता नहीं है। बल्कि परम्परा का पालन है।

+ +

स्याम बिना सखि रह्या ण जावाँ ॥टेक॥
तण मण जीवण प्रीतम वारयाँ थारे रूप लुभावाँ।
खाण पाण म्हाणे फीकाँ सो लागाँ नैणा रह्याँ मुरझावाँ।
निस दिन जोवाँ बाट मुरारी कबरो दरसण पावाँ।
बार बार थारी अरजाँ करसूँ रैण गवाँ दिन जावाँ।
मीरा रे हरि थे मिलियाँ बिण तरस तरस जीयाँ जावाँ ॥१३॥

शब्दार्थ—वारयाँ=न्यौछावर करना। लुभावाँ=मोहित होना। फीकाँ=अस्वाद। निसदिन=रातदिन। जोवाँ=देखना। बाट=राह प्रतीक्षा। कबरो=कब। तरस-तरस=तड़प-तड़प। जीयाँ=जी प्राण।

अर्थ—हे सखी! कृष्ण के दर्शन बिना रहा नहीं जाता। हे प्रियतम! मैंने अपना तन मन और जीवन तुम पर न्यौछावर कर दिया है और तुम्हारे रूप पर मोहित हो गई हूँ। तुम्हारे बिना मुझे खाना-पीना सब बेस्वाद लगता है और आँखें मुरझा गई हैं। हे मुरारि! मैं रात-दिन तुम्हारे आने की प्रतीक्षा करती रहती हूँ। अतः बताओ कि तुम मुझे कब दर्शन दोगे? बार-बार तुम्हारी विनती करते हुए मैं रात-दिन गवाँ रही हूँ अर्थात् रात-दिन तुम्हारी ही विनती करती रहती हूँ। मीरा कहती है कि हे हरि! तुम्हारे मिले बिना मैं तड़प-तड़प कर मर रही हूँ।

विशेष—भक्त भगवान् के बिना अपना अस्तित्व ही नहीं समझता। यही उसकी अनन्य भाव की भक्ति है। मीरा के इस पद में यही अनन्य भाव वर्णित है।

पाठान्तर —

१ रमैया बिन मोसूँ रह्योइ न जाय।
खान पान मोहि फीको सो लागै नैणाँ रहे मुरझाइ॥
बार-बार मैं अरज करत हूँ रैण गई दिन जाइ।
मीराँ कहै प्रभु तुम मिलिया बिन, तरस-तरस तन जाइ॥

७ पिय बिन रह्योइ न जाइ।
तन मन मेरो पिया पर वारूँ बार-बार बलि जाइ।
निस दिन जोऊँ बाट पिया की, कबर मिलोगे आइ।
मीराँ के प्रभु आस तुम्हारी लीजो कंठ लगाइ॥

तुलना—हरि बिन अपनो को संसार।
माया-लोभ-मोह है भरि काल-नदी की धार॥ —सूरदास

× ×

हेरी म्हां दरदे दिवाणी म्हारां दरद न जाण्यां कोय ॥टेक॥
घायल री गत घायल जाण्यां, हिवड़ो अगण संजोय।
जौहर की गति जौहरी जाणै क्या जाण्यां जिण खोय।
दरद की मार्यां दर दर डोल्यां बद मिल्या नहिं कोय।
मीराँ री प्रभु पीर मिटाँगां जब बैद साँवरो होय ॥६६॥

शब्दार्थ—दरदे दिवाणी=विरह के दुःख से पागल। अगण=आग। जौहर=रत्न। बैद=वैद्य। साँवरो=कृष्ण।

अर्थ—सखी! मैं तो कृष्ण के विरह के दुःख से पागल हो गई हूँ किन्तु मेरे इस दर्द को कोई नहीं जानता। इस दर्द को तो वही जान सकता है। जिसके हृदय में विरह की आग लगी हुई हो। घायल की गति को घायल ही जानता है। रत्न की परख तो जौहरी ही कर सकता है। जिस व्यक्ति ने रत्न खो दिया है वह उसका मूल्य क्या जाने? मैं इस विरह-जन्य दर्द के कारण दर-दर घूमती-भटकती फिर रही हूँ लेकिन मुझे कोई ऐसा वैद्य नहीं मिला जो मेरे इस दुःख को दूर कर दे। मीराँ कहती है कि मेरी यह वेदना तो तभी मिट सकती है जब स्वयं कृष्ण जी ही वैद्य बनकर इसका इलाज करें अर्थात् आकर दर्शन दें।

विशेष—१ दृष्टान्त अलंकार।
२ 'घायल री गत घायल जाण्यां' मुहावरे का सुन्दर प्रयोग।

पाठान्तर—
१ हरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाने कोय
सूली ऊपर सेज हमारी किस बिध सोना होय

गगन मंडल पै सेज पिया की, किस बिध मिलना होय।
घायल की गति घायल जानै की जिन लाई होय॥
जौहरी की गति जौहरी जानै कि जिन जौहर होय।
दरद की मारी बन-बन डोलूँ बैद मिला नहिं कोय॥
मीराँ की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद साँवलियाँ होई॥

७ राम की दिवानी मेरो दरद नहिं जाने कोई।
घायल की घायल जानै, जो कोई घायल होई।
शेषनाग पै सेज पिया की किस बिध मिलना होइ॥
दरद की मारी बन-बन डोलूँ बैद मिला नहीं कोई।
मीराँ की पीर प्रभु तभी मिटैगी, बैद साँवलियाँ होई॥

तुलना—१ चोट सताणी बिरह की सब तन जर जर होई।
मारणहारा जाणि है, कै जिहि लागी सोई॥ —कबीर

२ हाथों दूख कहिए, हो बीरा। जेहि सुनि कै लागै पर पीरा॥—जायसी

३ आगी अन्तर मैं करैं बाहिर को बिन बाहिर कोउ न मानतु है।
दुख औ सुख हानि औ लाभ सबै घर की कोउ बाहर भानतु है।
कवि ठाकुर आपनि चातुरी सो सब ही सब भाँति बखानतु है।
पर बीर मिले बिछुरे की बिथा मिलि कै बिछुरे सोई जानतु है॥
—ठाकुर

× ×

पीया बिन रह्यां न जायां ॥टेक॥
तण मण जीवण प्रीतम वार्यां।
निस दिन जोवां बाट छब रूप लुभायां।
मीरां रे प्रभु आसा थारी दासी कंठ लगायां ॥९७॥

शब्दार्थ—पीया=प्रियतम। छब=शोभा। थारी=तुम्हारी। कंठ=गला मन।

अर्थ—बिना प्रियतम के रहा नहीं जाता। मैंने अपना तन, मन और जीवन अपने प्रियतम पर न्यौछावर कर दिया है। मैं उसकी शोभा और रूप पर

मोहित हो गई हूँ। मीराँ कहती है कि हे प्रियतम! मेरे मन में तुम्हारे मिलने की आशा समाई हुई है।

× ×

गातो साँवरो री म्हासूँ तनक न तोड्यो जाय ॥टेक॥
पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी री लोग कह्याँ पिंडवाय।
बाबल बैद बुलाइया री म्हारी बाँह दिखाय।
बैद मरण ण जाण्यो री म्हारो हियड़ो करकाँ जाय।
मीराँ व्याकुल बिरहणी री प्रभु दरसण दीज्यो आय ॥९८॥

शब्दार्थ—गातो=नाता सम्बन्ध। पानाँ=पत्ता। पिंडवाय=पांडुरोग पीलिया रोग। मरण=मृत्यु यहाँ 'मरम' शब्द अधिक उपयुक्त है जिसका अर्थ है रहस्य। करकाँ जाय=फट रहा है।

अर्थ—हे सखि! मेरा श्याम से इतना अधिक सम्बन्ध हो गया है कि वह अब किसी भी प्रकार नहीं तोड़ा जा सकता। उनके विरह में मैं पान की तरह पीली पड़ गई हूँ किन्तु लोग मेरी विरह-वेदना को नहीं समझते और कहते हैं कि मुझे पीलिया रोग हो गया है। इसीलिए मेरे पिता जी ने एक वैद्य को बुलाया और पकड़ कर मेरी बाँह दिखाई। भला वह वैद्य मेरी वेदना के रहस्य को समझ सकता था? उसे क्या पता था कि मेरा हृदय किसी के विरह में फटा जा रहा है। मीराँ कहती है कि हे प्रभु! मैं तुम्हारे विरह के कारण बहुत ही दुखी हूँ अब आकर मुझे दर्शन दीजिए।

विशेष—'पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी री लोग कह्याँ पिंडवाय' में उपमा अलंकार के साथ-साथ भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

पाठान्तर—नातो हरि नाँव का माई, मोसूँ तनक न बिसर्यो जाई।
पानाँ ज्यूँ पीली भई, लोग कहैं पिंड रोग।
छानें लाँघण मैं किया जी, राम मिलण के जोग॥
बाबल बैद बुलाइया, पकड़ दिखाई म्हाँरी बाँह।
मूरख बैद मरम नहिं जाणै, करक कलेजा माँहि॥
बैद आयो घर आपणे, म्हाँरो नाँव न लेइ।
मैं तो दाझी बिरह री, तू काहे को दारू देइ।

काढ़ि करेजो मैं धरूँ, कागा तू ले जाइ।
जा देसाँ म्हाँरो पिव बसे, वे देखे तू खाइ।
छिनि आँगनि छिनि मँदिरा, छिनि छिनि ठाढ़ि होई।
घाइल ज्यूँ घूमत फिरूँ, म्हारो मरम न जाने कोई॥
तन सूखि पिंजर भयो, सूखी वच्छा की छाँहाँ।
आँगलियारी मूँदड़ी म्हाँरे आवण लागी बाँहाँ॥
रे रे पापी पपीहड़ा पीव का नाम न लइ।
पिय मिले तो मैं जीयूँ, नातरि त्यागूँ जीव॥
कोइक हरजन सामले रे पिय कारण जिय देइ।
मीराँ व्याकुल बिरहनी पिव बिन कमी सनेह॥

तुलना—कै बिरहिणि कूँ मीच दे कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा मोपै सह्या न जाइ॥—कबीर

× ×

को बिरहिनी को दुख जाणै हो ॥टेक॥
जा घट बिरहा सोइ लखिहै कै कोइ हरिजन मानै हो।
रोगी अंतर बैद बसत है बैद ही औषद जाणै हो।
बिरह दरद उरि अंतरि माँहि हरि बिनि सब सुख कानै हो।
दुगधा कारण फिरै दुखारी सुरत बसी सुत मानै हो।
चातग स्वाति बूँद मन माँही पीव पीव उकळाणै हो।
सब जग कूड़ो कंटक दुनिया दरद न कोई पिछाणै हो।
मीराँ के पति आप रमैया दूजो नहिं कोइ छाणै हो ॥११॥

शब्दार्थ—घट=हृदय। अन्तर=हृदय। औषद=औषधि दवा। उरि=हृदय। कानै=व्यर्थ। दुगधा=दूध देने वाली व्याई हुई। सुरत=स्मृति। सुत मानै=पुत्र में बछड़े। चातक=चातक। उकळाणै हो=व्याकुल होता है दुख झेलता। कंटक=काँटा दुख देने वाली। दरद=दर्द।

अर्थ—हे सखि! इस संसार में बिरहिणी के दुख को कौन जानता है? अर्थात् कोई नहीं जानता। जिस हृदय में बिरह की वेदना होती है वही उसे जान सकता है या कोई हरिभक्त जान सकता है। जिस प्रकार रोगी के हृदय

में वैद्य बसता है और वैद्य ही औषधि जानता है उसी प्रकार मेरे हृदय में हरि के विरह का दर्द समाया हुआ है और इसे हरि ही जान सकता है। हरि के बिना संसार के सारे सुख व्यर्थ हैं। जिस प्रकार नवीन ब्याई हुई गाय अपने बछड़े में बस जाती है अर्थात् उसे अपने सुत को छोड़कर और किसी की सुधि नहीं रहती उसी प्रकार मैं हरि के लिए ही दुखी हूँ उनके अलावा मुझे और कुछ नहीं सूझता। जिस प्रकार चातक का मन स्वाति नक्षत्र की बूंद में ही बसता है और वह अपने प्रियतम बादल से मिलने के लिए आकुल रहता है, उसी प्रकार मैं मनसा सर्वस्व हरि के लिए न्यौछावर करके उसके लिए तड़प रही हूँ। यह सारा संसार धुएँ के समान व्यर्थ और त्याज्य है यह दुनिया वैरी के समान दुःख देने वाली है इसीलिए इसमें मेरा कोई विरहजन्य दुःख नहीं मानता। मीरा कहती है कि मेरे प्रियतम तो स्वयं हरि हैं और उनके अतिरिक्त और कहीं भी मेरे लिए कोई दूसरा नहीं है अर्थात् वे ही एकमात्र मेरे आराध्य हैं।

विशेष—गाय की उपमा नवीन है चातक की परम्परागत है। हृदय के भावों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

तुलना—यही भाव मीरां के इस पद में है—

हेरी म्हां दरद दिवाणी म्हारा दरद न जाण्यां कोय।
घायल री गत घायल जाण्यां हिवड़ो अगण सँजोय।
जौहर की गत जौहरी जाणै क्या जाण्यां जिण खोय॥
दरद री मार्‌यां दर दर डोल्यां बैद मिल्यां नहिं कोय।
मीरां री प्रभु पीर मिटांगां जब बैद साँवरो होय॥

++

रमैया बिन नींद न आवै।

नींद न आवै बिरह सतावै प्रेम की आँच डुलावै॥टेक॥
बिन पिया जोत मंदिर अंधियारो दीपक दाय न आवै।
पिया बिन मेरी सेज अलूनी जागत रैण बिहावै।
पिया कब रे घर आवै।
दादुर मोर पपीहा बोलै कोयल सबद सुणावै।
घुमट घटा ऊलर होइ आई दामिन दमक डरावै।

नैन भर लावै।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी वेदन कूण बुतावै।
बिरह नागण मोरी काया डसी है लहर लहर जिव जावै।
जड़ी घस लावै।
कोई सखी सहेली सजनी पिया कूँ आन मिलावै।
मीराँ कूँ प्रभु कब रे मिलोगे मन मोहन मोहि भावै।
कब हँस कर बतलावै ॥१००॥

शब्दार्थ—आँच=ताप। डुलाव=इधर-उधर डुलाती फिरती है, बेचैन किये रहती है। जोत=ज्योति प्रकाश। मंदिर=घर। भाव=पसन्द। अलूणी=फीकी। झमर होई आई=झुक आई। वेदन=वेदना को। बुतावै=शांत करे। जड़ी=औषधि।

अर्थ—हरि के विरह में मैं इतनी दुखी हूँ कि उनके बिना नींद भी नहीं आती। नींद भी नहीं आती और उनका विरह भी सताता है। प्रेम की आग इधर-उधर डुलाती रहती है अर्थात् बेचैन किये रहती है। बिना प्रियतम की ज्योति से मेरा मन-मन्दिर अंधकारपूर्ण है और उनके अतिरिक्त मुझे और कोई दीपक पसन्द नहीं आता अर्थात् अन्य देव की आराधना मैं नहीं कर सकती। बिना प्रियतम के मेरी सेज फीकी है, आनन्दहीन है। इसीलिए जागते-जागते ही मैं रात काटती हूँ।

न जाने प्रियतम कब घर आयेंगे? सावन का उद्दीपक महीना भी आ गया है। मेंढक मोर और पपीहा बोलने लगे हैं। कोयल भी उद्दीपक शब्दों में बोलने लगी है। घुमड़-घुमड़ कर घटाएँ झुक आई हैं और बिजली चमक-चमक कर डरा रही है।

प्रियतम के विरह में निरन्तर नैनों से पानी झरता रहता है। हे मेरी सजनी! इस दारुण विरह के कारण मैं तो इतनी किं-कर्तव्य-विमूढ़ हो गई हूँ कि मेरी समझ में यह भी नहीं आता कि क्या करूँ कहाँ जाऊँ? मेरी वेदना को बताने वाला—परखने वाला—भी तो कोई नहीं है। विरह की नागिन मेरे शरीर को डस रही है जिससे विष की लहरें रह रहकर मन में उठ रही हैं।

मेरे इस विष को उतारने के लिए कौन जड़ी (औषधि) मिलकर लायेगा? मेरी ऐसी कौन-सी सखी सहेली और सजनी है जो आकर मुझे मेरे प्रियतम से मिला दे। मीरां कहती है कि हे प्रभु! तुम मुझको कब मिलोगे, क्योंकि तुम्हारे मन को मोहने वाले रूप ने मुझे मोह लिया है। तुम मुझसे कब हँस कर बातें करोगे?

विशेष —

१ विरह-वर्णन में कोई नवीनता नहीं है। सारा वर्णन परम्परागत है।
२ प्रकृति का उद्दीपक रूप में वर्णन किया गया है।
३ 'विरह नागन' में रूपक अलंकार है।

तुलना —

१ हमको जागत रैनि बिहानी।
कमलनैन जगजीवन की सखि गावत अकथ कहानी।
विरह अगाह होत निसि हमकों बिनु हरि समुद समानी॥
क्यों करि पावहि बिरहिनि पारहि बिनु केवट अगवानी।
उदित सूर चकई मिलाप निसि अलि पु मिले अरबिन्दहि॥
सूर हमें दिन-राति दुसह दुख कहा कहैं गोबिन्दहि।
२ पिय बिनु नागिनी कारी रात।
जौ कहुँ जामिनि उवति जुन्हैया डसि उलटी ह्वै जात॥
जंत्र न फुरत मंत्र नहि लागत प्रीति सिरानी जात।
सूर स्याम बिनु बिकल बिरहिनी मुरि-मुरि लहरैं खात—सूरदास

पाठान्तर—सइयाँ, तुम बिन नींद न आवै हो।
पलक पलक मोहिं जुग सौं बीतै, छिनि छिनि बिरह जरावै हो॥
प्रीतम बिनि तिम जाइ न सजनी, दीपग भवन न भावै हो।
फूलन सेज्या सूल होइ लागी, जागति रैण बिहावै हो॥
कासूँ कहूँ कुण मानै मेरी, कह्याँ न को पतियावै हो।
प्रीतम पंनग डस्यो कर मेरो, लहरी लहरी जिव जावै हो॥

दादुर मोर पपइया बोलै, कोइल सबद सुणावै हो।
उमगि घटा घन छहरी आई, बिजु चमक डरावै हो॥
है कोई जग में राम सनेही, जे दर माझ मिटावै हो।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, नेणाँ देख्याँ भावै हो॥

++

नींदड़ी आवाँ णा सारी रात कुण बिधि होय परभात ॥टेक॥
चमक उठी सुपनाँ सुध सजनी सुध णा भूल्याँ जात।
तलफाँ तलफाँ जियरो जावाँ कब मिलस्याँ दीनानाथ।
भयाँ बावरा सुध बुध भूलाँ पीव जाण्याँ म्हारी बात।
मीराँ पीड़ाँ सोइ जाण मरण जीवण जिण हाथ ॥१०१॥

शब्दार्थ—नींदड़ी=नींद। कुण बिधि=किस प्रकार से। चमक उठी=चौंक उठी। तलफाँ-तलफाँ=तड़प-तड़प कर। पीड़ाँ=पीड़ा वेदना।

अर्थ—मुझे प्रियतम के विरह में सारी रात नींद नहीं आती और यही सोचती हूँ कि न जाने किस प्रकार प्रभात होगा रात कटेगी? हे सजनी! मैं अपने प्रियतम को स्वप्न में देखकर चौंक पड़ी। उनकी उस समय जो छवि देखी थी उसकी सुधि भुलाये नहीं भूलती। मेरा तड़प-तड़प कर प्राण निकल रहा है। हे दीनानाथ! कृपा कर बताओ कि तुम कब मुझे दर्शन दोगे? मेरा मन तुम्हारे विरह में पागल हो गया है और अपनी सब सुधि बुधि खो बैठा है। हे प्रियतम! मेरी अवस्था का ध्यान करो और शीघ्र से शीघ्र दर्शन दो। मीराँ कहती है कि मेरी विरह-वेदना को तो मेरा वही प्रियतम जान सकता है जिसके हाथों में मेरा जीवन और मृत्यु है।

विशेष—

विरह-भावना की मार्मिक अभिव्यक्ति है।

पाठान्तर—नींदड़ली नहीं आवै सारी रात, किस विध होइ परभात।
चमक उठी सुपने सुध भूली, चन्द्रकला न सोहात।
तलफ तलफ जिय जाय हमारो, कब र मिले दीनानाथ।
भई हूँ दिवानी तन सुध भूली, कोई न जाने म्हारी बात।
मीराँ कहै बीती सोइ जानै, मरण जीवन उन हाथ॥

तुलना—

हमकौं सपनेहू मैं सोच।
जा दिन तैं बिछुरे नंदनंदन ता दिन तैं यह पोच।
मनु गुपाल आए मेरे गृह, हँसि कर भुजा गही।
कहा कहौं बैरिनि भई निद्रा निमिष और न रही॥
ज्यौं चकई प्रतिबिंब देखि कै आनँदी पिय जानि।
सूर पवन मिलि निठुर बिधाता चपल कियौ जल आनि॥—सूरदास

× ×

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ लिख्योरी न जाय ॥टेक॥
कलम धरत मेरो कर काँपत है नैन रहे झड़ लाय।
बात कहूँ तो कहत न आवै, जीव रह्यो डरराय।
बिपत हमारी देख तुम चाले कहिया हरिजी सूँ जाय।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर चरण ही कँवल रखाय॥१०२॥

शब्दार्थ—पतियाँ=पत्र। कर=हाथ। झड़ लाय=झड़ बरस रहे हैं।

भाव—मैं अपने प्रियतम को पत्र कैसे लिखूँ क्योंकि मुझसे पत्र लिखा नहीं जाता। कागज पर कलम रखते ही मेरा हाथ काँपने लगता है और प्रियतम की सुधि आते ही आँखों से निरंतर आँसू झरने लगते हैं। मैं जो बात कहना चाहती हूँ वह कही नहीं जा रही है। मेरा मन बहुत अधिक डर रहा है। हे सन्देशवाहक! तुम हमारी विपत्ति को देख ही चुके हो। अतः कृष्ण से जाकर इसे जबानी ही कह देना। मीराँ कहती है कि हे मेरे स्वामी गिरधर नागर! तुम्हारे चरण-कमलों में ही मेरी रक्षा हो सकती है अतः अपने चरण-कमलों में ही मुझे स्थान दीजिए।

विशेष—

प्रियतम को पत्र लिखने में असमर्थता प्रकट करना साहित्य की प्राचीन परम्परा है। मीराँ ने इस पद में इसी परम्परा का सफलतापूर्वक पालन किया है।

तुलना—

१ यहु तन जालौं मसि करौं लिखौं राम का नाउँ।
लेखणि करूँ करंक की लिखि-लिखि राम पठाउँ। —कबीर

२ निरखति अंक स्याम सुन्दर के बार बार लावति लै छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम स्याम जू पाती॥
—सूरदास

३ बिरहा-रवि-सौं घट-ब्योम तच्यो बिजुरी सी खिवै इकली छतियाँ।
हिम-सागर तें दृग मेघ भर उघरे बरसैं दिन औ रतियाँ॥
घनआनन्द जान अनोखी दसा न भयौ दई कैसें लिखौं पतियाँ।
नित सावन दीठि सु बैठक मैं टपकै बरुनी तिहि ओलतियाँ॥
—घनानन्द

× ×

होली पिया बिन लागाँ री खारी ॥टेक॥
सूनो गाँव देस सब सूनो सूनी सेज अटारी
सूनी बिरहन पिव बिन डोलै तज गया पीव पियारी।
बिरहा दुख भारी।
देस बिदेसाँ णा जावाँ म्हारो अणेसा भारी।
गणताँ गणताँ घिस गयाँ रेखाँ आंगरियाँ री सारी।
आयाँ णा री मुरारी।
बाज्यौ झाँझ मृदंग मुरलिया बाज्याँ कर इकतारी।
आयाँ बसंत पिया घर णारी म्हारी पीड़ा भारी।
स्याम क्याँरी बिसारी।
ठाड़ी अरज कराँ गिरधारी, राख्याँ लाज हमारी।
मीराँ रे प्रभु मिलज्यो माधो जनम जनम री क्वाँरी।
मणे लागी दरसण तारी ॥१०१॥

शब्दार्थ—खारी=फीकी आनन्दहीन। अणेसा=अन्देसा संशय। क्वाँरी=अविवाहित।

अर्थ—हे सखि ! प्रियतम के बिना होली का महोत्सव आनन्दहीन बन गया है। उनके बिना सारा गाँव और सारा देश सूना लगता है, बल्कि अटारी और सेज भी सूनी है। प्रत्येक प्रकार के आनन्द से रहित होकर विरहिणी प्रियतम के बिना उनकी खोज में वन-वन भटकती हुई फिर रही है। वह मिल

अपनी प्यारी को छोड़ गया है और वह बेचारी विरह के दुःख से मर रही है।

मैं देश-विदेश भी नहीं जा सकती क्योंकि मुझे भारी संशय है—संशय यह है कि वे मुझे अब अपना भी सकेंगे या नहीं। उनके आने की अवधि को गिनते गिनते मेरी उँगलियों के नाखून घिस गए हैं लेकिन कृष्ण अब भी नहीं आये।

झाँझ, मृदंग, मुरली, इकतारा आदि सभी बाजे बज रहे हैं और प्रियतम की याद को उकसा रहे हैं। बसन्त की मादक ऋतु आ गई किन्तु मेरा प्रियतम अभी तक वापस नहीं लौटा। इसी कारण मेरी विरह-वेदना और भी गहरी हो गई है।

न जाने कृष्ण ने मुझको क्यों त्याग दिया है। हे गिरधारी! मैं खड़ी होकर विनती कर रही हूँ कि अब तो हमारी लाज बचाओ। मीरां कहती है कि हे मेरे स्वामी माधव! मुझसे मिलिए, क्योंकि मैं तो तुम्हें वरण करने के लिए जन्म-जन्म से अविवाहित चली आ रही हूँ और मैं केवल तुम्हारी शरण में आई हूँ तुम्हारे बिना अन्यत्र कोई ठिकाना नहीं है।

विशेष —

१ प्रकृति का उद्दीपन रूप में चित्रण किया गया है जिससे भावों में अधिक प्रभावोत्पादकता आ गई है।

२ होली के साथ बसन्त का वर्णन अनुचित है। होली के वर्णन के चारों पद मीरां के शेष सभी पदों से सर्वथा भिन्न हैं। इनकी शैली भी भिन्न है। इनकी भाषा प्रमुखतया ब्रजभाषा होते हुए भी राजस्थानी से प्रभावित है। शुद्ध ब्रजभाषा और ठेठ राजस्थानी का यह सम्मिश्रण गंभीरतापूर्वक विचारणीय है।

तुलना —

१ सखि मोर पिया अबहु न आयोल कुलिस हिया।
नखर खोयायलु दिवस लिखि-लिखि
नयन अँधायलु पिया पथ पेखि ॥—विद्यापति

२ जिन घर कन्ता ते सुखी तिन्ह गारौ तिन्ह गर्ब।
कंत पियारा बाहिरै, हम सुख भूला सर्ब ॥—जायसी

१ फागुन महीना की कहौं ना परै बात बिन—
रातें दिनें बीतत सुने तें डफ-घोर कौं।
कोऊ उठै तान गाय मान मान पैठि जाय
हाय चित चौप पै न पाऊँ चितचोर कौं।
सबी है बहुत कहूँ सिसि पास बोकरि सों
कासौं कहौं सहौं हौं वियोग झकझोर कौं।
मेरो मन मानी या बिसासी बनमाली बिन
बावरे लौं दौरी दौरी परै सब ओर कौं।।—घनानन्द

× ×

होली पिया बिण म्हाणे णा भावाँ घर आँगणाँ ण सुहावाँ।।टेक।।
दीयाँ चौक पुरावाँ हेली पिया परदेस सजावाँ।
सूनी सेजाँ ब्याल बुझायाँ जागाँ रैण बितावाँ।
नींद णेणाँ णा आवाँ।
कब री ठाढ़ी म्हा मग जोवाँ निसदिन बिरह जगावाँ।
क्यासूँ मणरी बिथा बतावाँ, हिवड़ो रहा अकुलावाँ।
पिया कब दरस दखावाँ।
मीराँ णे कोई परम सनेही म्हारो सँदेसो लावाँ।
वा बिरियाँ कब होसी म्हारी हस पिय कंठ लगावाँ।
मीराँ होली गावाँ ॥१०५॥

शब्दार्थ—भावाँ=अच्छा लगना सुहाना। हेली=सखी। ब्याल=दीप। मणरी=मन की बिथा=व्यथा। बिरियाँ=अवसर।

अर्थ—हे सखि! बिना प्रियतम के मुझे न तो यह होली अच्छी लगती है न घर अच्छा लगता है और न आँगन अर्थात् प्रियतम के बिना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता। परदेश में तो प्रियतम ने दीप जलाये होंगे चौक पूरा होगा और किसी अन्य नारी के साथ अपनी होली अच्छी तरह मनाई होगी किन्तु हम तो उनके बिना यह सेज साँपिनी की तरह विषैली लगती है। मैं जाग-जागकर ही रात बिताती हूँ। मेरी आँखों में नींद भी नहीं आती।

मैं कब से खड़ी हुई अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही हूँ जिसके कारण मेरी विरह-वेदना रात-दिन और भी अधिक उमड़ती है। हे सखि ! मैं किससे अपने मन की व्यथा बताऊँ ? मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। न जाने प्रियतम कब दर्शन देंगे।

मुझे अपना ऐसा कोई भी परम-स्नेही दिखाई नहीं दिया जो प्रियतम का सन्देश लाकर मुझको दे। न जाने वह अवसर कब आयेगा जब प्रियतम आकर और हँसकर मुझे अपने गले से लगायेंगे और मीरां हृदय में भरकर हाँसी के गीतों को गायसी।

विशेष—परम्परागत वर्णन है।

पाठान्तर—होली पिया बिन मोहि न भावै, घर आँगन न सुहावै।
दीपक जोय कहा करूँ सजनी, पिय परदेस रहावै।
सूनी सेज जहर ज्यूँ लागै, सुसक-सुसक जिय जावै।
नींद न आवै॥
कब की ठाढ़ी मैं मग जोऊँ, निसदिन बिरह सतावै।
कहा कहूँ कुछ कहत न आवै, हिवड़ो अति अकुलावै।
पिया कब दरस दिखावै॥
ऐसा है कोइ परम सनेही, तुरत सन्देसो ल्यावै।
वा बिरियां कद होसी, मोकूँ हँसकरि निकट बुलावै।
मीरां मिल होली गावै॥

++

इक अरज सुनो मोरी मैं किन संग खेलूँ होरी॥टेक॥
तुम तो जाय बिदेसां छाये हमसे रहे चितचोरी।
तन आभूषण छोड्यो सब ही, तज दियो पाट पटोरी।
मिलन की लग रही डोरी।
आप मिल्या बिन कल न परत है त्याग दियो तिलक तमोली।
मीरां के प्रभु मिलज्यो माधव सुणज्यो अरज मोरी
दरस बिन बिरहणी हारी॥१०२॥

शब्दार्थ—पाट=वस्त्र। पटोरी=साज-शृ गार। डोरी=आशा। कल न परत है=चैन नहीं मिलता। तमोली=पान। खोरी=दुःखी।

अर्थ—हे प्रियतम! मेरी एक प्रार्थना सुनो और मुझे यह बताओ कि मैं तुम्हारे बिना किसके साथ होली खेलूँ? तुम तो जाकर विदेश में बस गये और हमसे हमारा दिल चुराकर ले गये। तुम्हारे विरह में मैंने अपने शरीर पर आभूषण पहनने छोड़ दिए हैं सुन्दर वस्त्र पहनने और साज शृ गार करना भी छोड़ दिया है।

तुमसे मिलने की आशा लगी हुई है। तुम्हारे मिले बिना मुझे तनिक भी चैन नहीं मिलता। इसीलिए मैंने तिलक लगाना और पान खाना छोड़ दिया है। मीराँ कहती है कि हे मेरे प्रभु माधव? मुझसे जल्दी मिलिए और मेरी यह विनती सुनिये कि तुम्हारे दर्शन के बिना मैं विरहिणी बहुत ही दुखी हूँ।

विशेष—इस प्रकार का भाव मीराँ के अनेक पदों में मिलता है। जैसे—

नहि भावै थाँरो देसलड़ो रँगरूड़ो।
थाँरे देसाँ में राणा साध नहीं छै, लोग बसे सब कूड़ो।
गहणा गाँठी राणा हम सब त्यागा त्याग्यो कररो चूड़ो॥
काजल टीकी हम सब त्याग्या त्याग्यो छै बाँधन जूड़ो।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर बर पायो छै पूरो।

××

किण संग खेलूँ होली पिया तज गये हैं अकेली॥टेक॥
माणिक मोती सब हम छोड़े गल में पहनी सेली।
भोजन भवन भलो नहिं लागै पिया कारण भई सेली।
मुझे दूरी क्यूँ म्हेली।
अब तुम प्रीत अवर सूं जोड़ी हमसे करी क्यूँ पहेली।
बहु दिन बीते अजहुँ न आये, लग रही तालावेली।
किण बिलमाये हेली।
स्याम बिना जियड़ो मुरझावे जैसे जल बिन बेली।
मीराँ कूँ प्रभु दरसण दीज्यो, जनम जनम की चेली।
दरस बिन खड़ी दुहेली॥१०६॥

शब्दार्थ—सैली=माला । पैसी=पागल । म्हेली=डाल दिया है । पहेली=पहिली प्रारम्भ में । तालाबेली=बेचनी । बिलमाये=छोड़ना त्यागना । बेली=बेल लता । दुहेली=दुःखी दुःखिया ।

अर्थ—हे सखि ! मुझे मेरे प्रियतम अकेली छोड़ गये हैं अब तुम्ही बताओ कि मैं किसके साथ होली खेलूं । मैंने माणिक और मोती पहनने छोड़ दिए हैं और गले में वैराग्यभावना की सूचक माला पहन ली है । प्रियतम के बिना न तो मुझे महल अच्छा लगता है और न खाना-पीना । मैं तो अपने प्रियतम के कारण पागल हो गई हूँ ।

हे प्रियतम ! मुझे क्यों अलग और अपने से दूर डाल दिया है । अब तो तुमने किसी दूसरी प्रेमिका से प्रीति जोड़ ली है । यदि तुम्हें ऐसा ही करना था तो प्रारम्भ में मुझसे क्यों प्रेम किया था । बहुत दिन हो गये हैं, किन्तु तुम अब भी नहीं आये । तुमसे मिलने के लिए मैं बहुत बेचैनी अनुभव कर रही हूँ ।

हे सखि ! न जाने प्रियतम ने मुझे क्यों छोड़ दिया । श्याम के बिना मेरा मन मुरझाया हुआ है उसी प्रकार से जिस प्रकार पानी के बिना लता मुरझा जाती है । मीरां कहती है कि हे प्रभु ! अब मुझे दर्शन दीजिये क्योंकि मैं तो तुम्हारी जन्म-जन्मान्तरों की दासी हूँ और तुम्हारे दर्शन के बिना बहुत दुखी हूँ ।

विशेष १ विरह भावना की मार्मिक अभिव्यक्ति ।
२ 'हुबस करी क्यू पहेली' में उपालम्भ के साथ विरह-वेदना की स्वाभाविकता मुखरित हो उठी है ।
३ उदाहरण अलंकार ।
४ नाथ-पंथ का स्पष्ट प्रभाव ।

तुलना—

१ चौपई अनि जैसी मछिरा उदर न भरई नीर ।
एयू तुम्ह कारनि केसवा जन तालाबेली कबीर ॥ —कबीर

२ बिनु जल कमल सूख जनु बेली । पदमावति निज कंत दुहेली ॥ —जायसी

++

मतवारो बादर आए रे हरि को सनेसो कबहुँ न लाये रे ॥टेक॥
दादर मोर पपइया बोलै कोयल सबद सुनावे रे।
(इक) कारी अँधियारी बिजली चमकै बिरहनि अति डरपावे रे।
(इक) गाजै बाजै पवन मधुरिया मेहा अति झड़ लावे रे।
(इक) कारी नाग बिरह अति जारी मीराँ मन हरि भावे रे ॥१०७॥

शब्दार्थ—सनेसा=सन्देश। कबहुँ=कभी भी कुछ भी। दादर=मेंढक। मधुरिया=मन्दगामी धीरे-धीरे चलने वाला।

अर्थ—सावन भादों के मतवाले बादल उमड़-घुमड़कर आ गये हैं लेकिन मेरे प्रियतम कृष्ण का सन्देश कुछ भी नहीं आए। बादलों के छा जाने और बरसने के कारण चारों ओर उद्दीपक वातावरण बन गया है। मेंढक मोर और पपीहा ने बोलना प्रारम्भ कर दिया है कोयल अपनी मधुर वाणी में बोलने लगी है। अँधियारी काली रात में बिजली चमकने लगी है जो मुझ विरहिणी को बहुत अधिक डराती है। धीरे-धीरे चलने वाला पवन भी गरज-गरजकर घोर भयानक शब्द करके चलने लगा है। मेह लगातार बरसता है। इस उद्दीपक वातावरण में यह विरह रूपी काली नागिन मुझे जलाए जा रही है। मीराँ कहती है कि मैं इन सभी दुखों को इसलिए सहन कर रही हूँ कि मुझे हरि से प्रेम हो गया है।

विशेष—विरह के अन्तर्गत बारहमासे का वर्णन करना परम्परागत है। मीराँ ने इस पद में इसी परम्परा का पालन किया है।

तुलना —

१ सखि हे हमर दुखक नहि ओर।
ई भर बादर माह भादर सून मन्दिर मोर॥
झम्पि घन गरजति संतत भुवन भरि बरसंतिया।
कन्त पाहुन काम दारुन सघन खर शर हंतिया॥ —विद्यापति

२ कारी कूर कोकिला! कहाँ को बैर काढ़ति री
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै।
पैंड़े परे पापी ये कलापी निसद्यौस ज्यौंही
चातक! घातक त्यौंही तू हू कान फोरि लै।

आनँद के घन प्रान-जीवन सुजान बिना
जानि कै अकेली सब घेरो दल जोरि कै।
जो लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि कै॥ —घनानन्द

भर भादौं दूभर अति भारी। कैसे भरौं रैनि अँधियारी॥
मँदिर सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डसा॥
रहौं अकेलि गहे एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी॥
चमकि बीज घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा॥
बरिस मघा झँकोरि झँकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी॥
—जायसी

++

बादल देखाँ झरी स्याम मैं बादल देखाँ झरी ॥टेक॥
काला पीला घटा उमड्याँ बरस्यौ चार घरी।
जित जोयाँ जित पाणी पाणी प्यासा भूम हरी।
म्हारा पिया परदेसाँ बसताँ भीज्याँ बार खरी।
मीराँ रे प्रभु हरि अविनासी करस्यौं प्रीत खरी ॥१०८॥

शब्दार्थ—झरी=रो पड़ी। जोयाँ=देखा। पाणी पाणी=पानी ही पानी। भूम=भूमि, पृथ्वी। बार=बाहर। खरी=सच्ची।

अर्थ—हे श्याम ! मैं आसमान में उमड़ते हुए बादल को देखकर विरह-दुःख के कारण रो पड़ी। आकाश में काली-पीली घटाएँ उमड़ कर घिर आईं और चार घड़ी तक पानी बरसता रहा। जिधर देखा उधर पानी ही पानी दिखाई दिया जिससे प्यासी पृथ्वी हरी भरी हो गई। हमारा प्रियतम परदेश में रहता है इसलिए उसकी प्रतीक्षा करती हुई मैं बाहर द्वार पर ही खड़ी भीगती रही। मीरां कहती है कि हे अविनाशी प्रभु ! तुम्हें सच्ची प्रीति करनी चाहिए, अर्थात् जिस प्रकार यह पृथ्वी हरी-भरी हो गई है अथवा अन्य विरहिणियों के पति परदेश से आ गये हैं उसी प्रकार तुम्हें भी आकर मेरा दुःख दूर करना चाहिए। यही सच्ची प्रीति की कसौटी है।

विशेष —

१ प्रकृति के उद्दीपक रूप की पृष्ठभूमि में भावों का बहुत ही मार्मिक वर्णन हुआ है।

२ 'भीज्यां बार खरी' में प्रेमिका के मन की मिलन-आतुरता और प्रियतम की निष्ठुरता साकार हो उठी है।

पाठान्तर—बादल देखि डरी हो स्याम, बादल देखि डरी।
काली पीली घटा उमंगी बरस्यो एक घरी।
जित जाऊँ तित पाणी ही पाणी, हुई सब भोम हरी॥
जाको पिया परदेस बसत है भीजै बाहर खरी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, कीज्यो प्रीत खरी॥

तुलना—बरसैं तरसैं सरसैं न कहूँ बरसैं हहि धावक छई।
निरखैं परसैं करसैं हरसैं उपजी अभिलाषनि लाख जई॥
घनआनंद ही उमए इन पै बहु भाँतिनि ये उन रंग रई।
रसमूरति स्यामहि देखत ही सजनी अँखियाँ रसरासि भई॥

—घनानन्द

++

तुमरे कारण सब सुख छोड्या अब मोहि क्यूं तरसावो हो ॥टेक॥
विरह बिथा लागी उर अन्तर, सो तुम आय बुझावो हो।
अब छोड़त नाहिं बनै प्रभु जी हँसि करि तुरत बुलावो हो।
मीराँ दासी जनम जनम की अंग से अंग लगावो हो ॥१०६॥

शब्दार्थ— तुमरे=तुम्हारे। उर अन्तर=हृदय में।

अर्थ—हे प्रियतम! मैंने तुम्हारे कारण सब सुख छोड़ दिया है, इसलिए अब मुझे क्यों तड़पा रहे हो। शीघ्र दर्शन देकर मेरी विरह-व्यथा को जो हृदय में लगी हुई है क्यों नहीं बुझाते? अर्थात् मुझे विरह के दुःख से छुड़ाओ। मेरी प्रीत इतनी गहन हो गई है कि अब छोड़ते भी नहीं बनती। अब प्रसन्न होकर मुझे अपनी शरण में लो। मीराँ कहती है कि मैं तो तुम्हारी जन्म जन्मान्तर की दासी हूँ इसलिए मेरा सहर्ष आलिंगन करो।

साजन घर आवो जी मिठबोला ॥टेक॥
कब की ठाढ़ी पथ निहारूँ, थारो आयां होसी भला ।
आवो निसंक संक मत मानो, आयां ही सुख रहेला ।
तन मन वार करूँ न्यौछावर दीज्यो स्याम मोहेला ।
आतुर बहुत बिलम नहीं करनो आयां ही रंग रहेला ।
तेरे कारण सब रंग त्याग्या, काजल तिलक तमोला ।
तुम देख्यां बिन कल न परत है कर धर रही कपोला ।
मीरा दासी जनम जनम की, दिल की घुंडी खोला ॥११०॥

शब्दार्थ—मिठबोला=मीठा बोलने वाला मृदुभाषी । ठाढ़ी=खड़ी हुई । भली=शृंगार । निसंक=शंका से रहित होकर । रहेला=रहेगा । मोहेला=दर्शन । बिलम=विलम्ब देर । रंग रहेला=सुख रहेगा । रंग=सुख । तमोला=पान । कल=चैन । कपोला=गाल । घुंडी=गाँठ दुख ।

अर्थ—हे मृदुभाषी प्रियतम ! मेरे घर आओ । मैं कब की खड़ी हुई तुम्हारा मार्ग देख रही हूँ आतुरता से प्रार्थना कर रही हूँ । तुम्हारे आने से ही मेरा भला होगा । तुम शंका से रहित होकर बस आओ और किसी प्रकार की शंका मत मानो । तुम्हारे आने से ही मेरा सुख रह सकेगा । हे श्याम ! मुझे अपना दर्शन दीजिए । मैं तुम पर अपना तन मन न्यौछावर करती हूँ । मैं तुम से मिलने के लिए आतुर हूँ अब देरी मत कीजिए और शीघ्र दर्शन दीजिए । मैंने तुम्हारे लिए सब सुख छोड़ दिये हैं । आँखों में काजल लगाना माथे पर तिलक लगाना और पान खाना छोड़ दिया है । तुम्हारे देखे बिना मुझे चैन ही पड़ती और इसलिए मैं अपने गालों को अपनी हथेली पर रखकर हुए हूँ, अर्थात् चिन्तामग्न हूँ । मीरा कहती है कि मैं तो तुम्हारी जन्म जन्मान्तर की दासी हूँ अब मेरे मन के दुःखों को दूर कीजिए ।

पाठान्तर—
१ सजन घर आवो जी मीठा बोलो ।
बिन देखे मोहे कल न पड़त है, कर पर रही कपोलो ।
आवो निसंक संक नहिं कीजे, हिलमिल कर रंग घोलो ।

तेर कारण सब रंग तजिया काजल तिलक तमोलाँ।
मीराँ दासी जनम जनम की, दिल की घुंडी खोलाँ॥

= साजन घर आयो जी मीठाँ बोलाँ।
कब की ठाढ़ी पंथ निहारूँ, कर घर रही कपोलाँ।
तन मन वार हिलमिल के रंग घोलाँ॥
आतुर बिरहिनी विलंब नहीं। करना आयो जी रँग रहलाँ।
मीराँ तो गिरधर बिन देख्याँ छिन मासाँ छिन तोलाँ।

× ×

तुम आवो जी प्रीतम मेरे, नित बिरहणी मारग हेरे ॥टेक॥
दुःख मेटण सुख दायक तुम ही किरपा करिज्यो मेरे।
बहुत दिनों की जोऊँ मारग अब क्यूँ करो रे अबेरे।
आतर अधिक कहूँ कि जावे आज्यौ मित सबेरे।
मीराँ दासी चरन की हम तेरे तुम मेरे ॥१११॥

शब्दार्थ—मारग हेर—पथ देखती है प्रतीक्षा करती है। सुख दायक=सुख देने वाले। मेरे=निकट। जोऊँ=देखती हूँ। अबेरे=देर। आतर=आतुर, व्याकुल मित=प्रियतम। सबेरे=शीघ्र।

अर्थ—हे मेरे प्रियतम। तुम आओ और दर्शन दो क्योंकि यह बिरहिणी प्रतिदिन तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहती है। तुम दुःख को दूर करने वाले और सुख को देने वाले हो। अतः कृपा करके मुझे अपने निकट ले लीजिए, अपनी शरण में रख लीजिए। मैं बहुत दिनों से तुम्हारा पथ निहार रही हूँ तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ अब न जाने तुम दर्शन देने में क्यों देरी कर रहे हो। मैं तुमसे मिलने के लिए बहुत व्याकुल हूँ किन्तु अपनी इस व्याकुलता को किसी के साथ भी तो नहीं कह सकती। हे प्रियतम ! मुझसे शीघ्र मिलिए। मीराँ कहती है कि मैं तो तुम्हारे चरणों की दासी हूँ। मैं तुम्हारी हूँ और तुम मेरे हो।

विशेष—अद्वैत भावना का प्रकाशन होने से सन्त-मत का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

× ×

कैसे जिऊं री माई हरि बिन कैसे जिऊं री ।।टेक।।
उदक दादुर पीनवत है जल से ही उपजाई। [12]
पल एक जल कूं मीन बिसरे, तलफत मरै जाई।
पिया बिन पीली भई रे, ज्यों काठ घुन खाय।
औषध मूल न संचरै रे बाला बद फिरि जाय।
उदासी होय बन बन फिरूँ, रे बिथा तन छाई।
दासी मीरां लाल गिरधर, मिल्या है सुखदाई ।।११२।।

शब्दार्थ — उदक=पानी। मीन=मछली। तलफत=तड़प कर। बाला=बल्लभ प्रियतम।

अर्थ—हे सखि! हरि के बिना मेरा जीवित रहना मुश्किल है। जिस प्रकार मेंढ़क पानी से उत्पन्न होता है और पानी में ही पलता है, जिस प्रकार मछली पानी से बिछुड़ने पर एक पल भी जीवित नहीं रहती और तड़प कर मर जाती है उसी प्रकार हरि के बिना मेरी गति हो रही है। मैं प्रियतम के बिना पीली पड़ गई हूँ और उनके विरह में उसी प्रकार जर्जर हो रही हूँ जिस प्रकार लकड़ी को घुन खा जाता है। मेरी इस विरह-व्यथा पर औषधि का बिल्कुल भी प्रभाव नहीं होता और हे प्रियतम! वैद्य निराश होकर लौट जाता है। मैं प्रियतम के बिना उदास होकर वन-वन खोज में मारी-मारी फिर रही हूं। विरह-व्यथा मेरे समस्त शरीर में व्याप्त हो रही है। मीरां कहती है कि मैं गिरिधर लाल की दासी हूँ और वह सुख देने वाला गिरधर मुझे मिल गया है।

विशेष—इस पद की अंतिम पंक्ति का सम्पूर्ण पद से कोई मेल नहीं मालूम होता है क्योंकि सम्पूर्ण पद में विरहाभिव्यक्ति है किन्तु अंतिम पंक्ति में मिलन का संकेत है। इस पद में विरह-वर्णन की प्रधानता होने के कारण अर्थ-संगति के लिये इस मिलन को मानसिक ही समझना चाहिए।

++

भीड़ छाँड़ि बीर बैद मेरे पीर न्यारी है ।।टेक।।
करक कलेजे मारी औषध न लागे थांरी।
तुम घरि आवो बैद मेरे पीर भारी है।

विरहिन विरह बाढ़्यो ताते दुख भयो गाढ़ो।
विरह के बाण ले विरहनि मारी है।
चित ही पिया की प्यारी नेकहूँ न होवे न्यारी।
मीराँ तो आकार बाँध वैद गिरधारी है ।।११३।।

शब्दार्थ—पीर=पीड़ा। कारक=कसक चोट। ओखद=औषधि। विरहित=प्रियतम का विरह। चित=याद। आकार=दुखी।

अर्थ—हे वैद्य! तुम नीद छोड़कर अपने घर जाओ क्योंकि मेरी पीड़ा निराली है यह हृदय की कसक है जिस पर तुम्हारी औषधि काम नहीं कर सकती। हे वैद्य! तुम अपने घर जाओ मेरी पीड़ा भारी है। मेरा विरह प्रियतम के बिना बढ़ गया है जिसके कारण दुःख अत्यधिक हो गया है। प्रियतम ने, विरह के बाणों को लेकर मुझ विरहिणी पर मार दिया है। मुझे अपने प्रियतम की याद ही प्यारी लगती है जो क्षणिक भी अलग नहीं होती। मीराँ कहती है कि मैं दुखी हूँ और मेरे इस दुख का उपचार वैद्य गिरिधारी ही कर सकता है

× ×

पपइया म्हारो कब रो बैर चितारयाँ ।।टेक।।
म्हा सोवूँ छी अपणे भवण मां पियु पियु करताँ पुकारयाँ।
दाध्या ऊपर लूण लगायाँ हिवड़ो करवत सारयाँ।
ऊभ्याँ बैठ्याँ बिरछरी डाली बोल्या कंठ णा सारयाँ।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, हरि चरणाँ चित धारयाँ ।।११४।।

शब्दार्थ—चितार्यो=याद किया। सोवूँ छी=सोती थी। दाध्या=जला हुआ। लूण=नमक। दाध्या ऊपर लूण लगायाँ=जले पर नमक लगाना वेदना को और अधिक बढ़ाना। करवत=आरा। सार्यो=चला दिया। कंठणा सार्यो=खूब चिल्लाता रहा, गला फाड़ता रहा। धार्यो=लगा दिया।

अर्थ—हे पपीहा! न जाने तुमने हमसे कब का बैर याद किया है अर्थात् निकाला है जो इस प्रकार पी-पी चिल्लाकर मेरी विरह-व्यथा को बढ़

रहे हो। मैं तो निश्चिन्त हो अपने महल में सो रही थी कि तुम पी-पी करके चिल्लाने लगे। तुम्हारी इस प्रकार की पुकार ने मेरी वेदना को और भी अधिक बढ़ा दिया तथा मेरे हृदय पर आरा चला दिया। तू तो वृक्ष की डाली पर चुप बैठा हुआ था कि गला फाड़-फाड़कर चिल्लाने लगा। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधर नागर है और उन्ही के चरणों में मैंने अपना मन लगा दिया है।

विशेष —

१ इस पद में अनेक मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

२ कथन परम्परागत है।

++

पपइया रे पिव की बाणि न बोल ।।टेक।।
सुणि पावेली बिरहुणी रे थारो रालैली पांख मरोड़।
चोंच कटाऊं पपइया रे, ऊपरि कालर लूण।
पिव मेरा मैं पीव की रे तू पिव कहैसु कूण।
थारा सबद सुहावणा रे, जो पिव मेला आज।
चोंच मढ़ाऊं थारी सोवनी रे, तू मेरे सिरताज।
प्रीतम कू पतियाँ लिखूं कउवा तू ले जाइ।
जाइ प्रीतम सूं यूं कहै रे थांरी बिरहुणि धान न खाइ।
मीरां दासी व्याकुली रे, पिव पिव करत बिहाइ।
बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी तुम बिनि रह्यो ही न जाइ ।।११५।।

शब्दार्थ—पिव की=प्रियतम की। पावेली=पावेगी। रालैली=रखेगी। कालर=काला। मेला=मिल जाता। धान=धान्य अन्न।

अर्थ—हे पपीहा! तू प्रियतम की वाणी न बोल। यदि विरहिणी तेरे शब्दों को सुन लगी तो तेरे पंखों को मरोड़ कर रख देगी। हे पपीहा! मैं तेरी चोंच कटवा दूंगी और तेरे ऊपर काला नमक लगा दूंगी ताकि तू फिर किसी विरहिणी को न सता सके। प्रियतम मेरा है और मैं प्रियतम की हूँ तू पी की पुकार लगाने वाला कौन होता है? यदि प्रियतम आज मुझ से मिल जाता होता

तो तेरा शब्द बहुत सुहावना लगता। जिस दिन मेरा प्रियतम आ आवेगा उस दिन सोने से तेरी चोंच मढ़वाऊँगी और तू मेरा सिरताज होगा। हे कौवा! मैं प्रियतम को पत्री लिखूँगी और तू उसे प्रियतम के पास ले जाना। जाकर प्रियतम से यह कहना कि तुम्हारे विरह में दुखी विरहिणी ने अन्न खाना छोड़ दिया है। तेरी दासी मीरां बहुत व्याकुल है और प्रियतम की याद करती हुई अपने प्राणों को खो रही है। इसलिए हे अन्तर्यामी! तुम उससे शीघ्र ही मिलो क्योंकि तुम बिना उससे रहा नहीं जाता।

विशेष—वर्णन परम्परागत है।

तुलना —

१ काक भाख निज भाखह रे, पहु आओत मोरा।
खीर खाँड भोजन देब रे भरि कनक कटोरा॥—विद्यापति

२ पिय सौं कहेहु सँदेसरा ऐ भँवरा ऐ काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई तेहिक धुँआ हम लाग॥—जायसी

३ बैरी वियोग की हूकनी जारत हूकि उठै अबकी अपराधक।
बेधत प्रान बिना ही कमान सुबान से बोल सो नाम ह्वै घातक।
लोचनि ही पचियै बचियै किन डारत सो तन लाएँ महातक।
है घनआनन्द आय इते उन पैडे परयो इत पातकी चातक॥

—घनानन्द

× ×

हे मेरो मन मोहना।
आयो नहीं सखीरी हे मेरो॰ ॥टेक॥
कै कहुँ काज किया संतन का कै कहुँ गैल भुलावना।
कहा करूँ कित जाऊँ मोरी सजनी लाग्यो है बिरह सतावना।
मीरां दासी दरसण प्यासी हरि चरणाँ चित लावना॥११६॥

शब्दार्थ—कै=या तो। गैल=मार्ग राह।

अर्थ—हे सखी! मेरे मन को मोहित करने वाला कृष्ण अब भी नहीं आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि या तो वह साधुओं के आचरण में लग गया है अर्थात् उसने वैराग्य भावना धारण कर ली है, या यहाँ आने का

मार्ग भूल गया है। हे मेरी सजनी! समझ में नहीं आता कि अब क्या करूँ और कहाँ जाऊँ क्योंकि विरह ने सताना शुरू कर दिया है। मीरां कहती है, कि मैं तो हरि के दर्शन की प्यासी हूँ और मेरा मन हरि के चरणों में ही लग गया है अत उनके बिना मुझसे रहा नहीं जा सकता।

विशेष—विरह-भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति है।

तुलना—जब तें तुम आवन आस दई तब तें तरसौं अब आपही यूं।
मन आतुरता मन ही में बसी मनभावन! प्रान सुभाय ही यूं॥
—घनानन्द

× ×

री म्हां बैठ्यां जागां जगत सब सोवां ॥टेक॥
बिरहण बैठ्यां रंगमहल मां नेणा लड्यां पोवां।
इक बिरहणि हम ऐसी देखी अँसुवन की माला पोवां।
तारां गणतां रैण बिहावां सुख घड़ियारी जोवां।
मीरां रे प्रभु गिरधरनागर मिल बिछड्यां णा होवां॥११७॥

शब्दार्थ—नेणा लड्या=आँखें लड़ गई प्रेम हो गया। पोवें=पिरोना, बनाना। रैण=रात। जोवां=प्रतीक्षा करना।

अर्थ—हे सखि! मैं बैठी-बैठी विरह-वेदना के कारण जागती रहती हूँ और सारा जगत आराम से सोता रहता है। विरहिणी रंगमहल पर बैठी हुई थी कि अचानक प्रियतम से आँखें लड़ गई। हमने एक विरहिणी ऐसी देखी कि जो आँसुओं की माला बना रही थी अर्थात् निरन्तर आँसू बहा रही थी। उसने सुख की घड़ियों की प्रतीक्षा में तारे गिनते-गिनते रात बिता दी। मीरां कहती है कि हे स्वामी गिरधर नागर! मिलकर बिछुड़ना बहुत ही दुखद होता है इसलिए किसी का भी मिलकर बिछुड़ना नहीं होना चाहिए।

विशेष—'नेणा लड्यां' 'तारां गणतां रैण बिहावां' आदि मुहावरों का सुन्दर प्रयोग है।

तुलना—सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागै अरु रोवै॥—कबीर

× ×

सखी म्हारी नींद नसाणी हो ।
पिय रो पंथ निहारत सब रैण बिहाणी हो ॥टेक॥
सखियन सब मिल सीख दयां मन एक न मानी हो ।
बिन देख्यां कल ना पड़ां मन रोस णा ठानी हो ।
अंग खीण व्याकुल भयां मुख पिय पिय बाणी हो ।
अन्तर वेदन बिरह री म्हारी पीड़ ना जाणी हो ।
ज्यूं चातक घनकूं रटै, मछरी ज्यूं पाणी हो ।
मीरां व्याकुल बिरहणी सुध बुध बिसराणी हो ॥११८॥

शब्दार्थ—नसाणी=नष्ट होना । कल ना पड़ां=चैन नहीं मिलता । खीण=क्षीण । अन्तर=आन्तरिक । बिसराणी=छोड़ दी ।

अर्थ—हे सखि ! प्रिय के विरह के कारण मैं तो सो भी नहीं पाती मेरी नींद ही नष्ट हो गई है । प्रियतम का मार्ग देखते-देखते मेरी सारी रात बीत जाती है । मेरी सारी सखियों ने मिलकर मुझे अनेक प्रकार की शिक्षाएँ दीं अनेक प्रकार से समझाया किन्तु मेरे मन ने उनकी एक भी बात नहीं मानी । मुझे बिना प्रिय को देखे चैन नहीं पड़ता और मन ने रोष न करने का निश्चय कर लिया है । विरह के कारण मेरा शरीर क्षीण हो गया है और मुख से केवल प्रियतम के शब्द ही निकल रहे हैं । हे सखि ! मेरी विरह की वेदना आन्तरिक है इसीलिए इसे कोई नहीं जानता । जिस प्रकार चातक बादल की रट लगाता है मछली पानी की रट लगाती है उसी प्रकार मैं भी अपने प्रियतम की रट लगाये हुए हूँ । मीरां कहती है कि मैं विरह-वेदना के कारण इतनी व्याकुल हो गई हूँ कि अपनी सुधि-बुधि भी छोड़ दी है अर्थात मुझे किसी प्रकार का होश नहीं रहा है ।

× ×

सांवरी सूरत मन रे बसी ॥टेक॥
गिरधर ध्यान धरो निसवासर, मण मोहण म्हारे बसी ।
कहा करां कित जावां सजणी म्हारो स्याम डसी ।
मीरां रे प्रभु कबरे मिलोगे नित नव प्रीत रसी ॥११९॥

शब्दार्थ—मूरत=सूरत। निसबासर=रात दिन। स्याम डसी=काले साँप ने काट लिया है कृष्ण का विरह व्याप्त है। रसी=प्रभावित कर चुकी है।

अर्थ—मेरे मन में कृष्ण की साँवरी सूरत बस गई है। मैं रात-दिन कृष्ण का ही ध्यान करती रहती हूँ क्योंकि मेरे मन में उसी मन को मोहने वाले कृष्ण की मूर्ति बस गई है। हे सजनी! विरह-वेदना के कारण मैं इतनी कर्तव्य-विमूढ़ हो गई हूँ कि यह भी पता नहीं कि मैं क्या करूँ और कहाँ जाऊँ। मैं तो कृष्ण के विरह के दुःख से बहुत दुःखी हूँ मुझे कृष्ण रूपी काले साँप ने काट लिया है। मीरां कहती है कि हे प्रभु! अब तुम मुझसे कब मिलोगे क्योंकि मुझे तुम्हारी नित नवीन प्रीति प्रभावित कर चुकी है।

विशेष स्याम डसी श्लिष्ट प्रयोग है।

पाठान्तर—सखी मन स्याम सूरत बसी।
मुकुट कुंडल करत बन्सी, मंद मुख पर हँसी॥
बावरी काऊ कहे मा को कोइ कहे कुलनासी।
दुग्नी का अमयारी पाइ लाल कुतिया मुसी॥
दारया पूँघट लाइ गातो, मन्त रुम्मों लुसी।
नील चोला पहन गल में भक्त मारग घुमी॥
ओम पानी नाहि पियो, छाइ याहर फिमी॥
दासी मीर, लाल गिरधर, प्रेम फंद में फंसी॥

तुलना—रावरे रूप की रीति अनूप नया नया लागत ज्यों ज्यों निहारियें।
—घनानन्द

++

✓ प्रभु बिनि ना सरै माई।
मेरा प्राण निकस्या जात हरी बिन ना सरै माई ॥टेक॥
कमठ दादुर बसत जल में जल से उपजाई।
मीन जल के बाहर कीना तुरत मर जाई।
काठ लकरी बन परी काठ घुन खाई।

मै मगन प्रभु द्वार आये, भसम हो जाई।
बन बन ढूँढत मैं फिरी, आली सुधि नहीं पाई।
एक बेर दरसण दीजै सब कसर मिटि जाई।
पात ज्यूं पीरी परी अब बिपत तन छाई।
दासी मीराँ लाल गिरधर मिल्यां सुख छाई ॥१२०॥

शब्दार्थ—सरे=सफल होना काम बनाना। कमठ=कछुआ। कसर=कमी। पात=पत्ता।

अर्थ—हे सखि ! स्वामी के मिले बिना काम नहीं बन सकता। क्योंकि हरि के मिले बिना मेरा प्राण निकला जा रहा है। कछुआ और मेढक जल में बसते हैं और जल से ही उत्पन्न होते हैं किन्तु उनका प्रेम यथार्थ नहीं है क्योंकि वे जल के बाहर रहकर भी जीवित रहते हैं। सच्चा प्रेम तो मछली का है जिसे जल से बाहर किया जाये तो तुरन्त मर जाती है। मेरा प्रेम भी मछली की भाँति है। कटी हुई लकड़ी जब तक वन में पड़ी रहती है तब तक उसमें घुन लगता रहता है। जब प्रियतम उसमें आग लगा देता है तो भस्म हो जाती है। इसी प्रकार जब तक मन में विरह की आग नहीं लगती तब तक हमारी कालिमा नहीं मिटती। हे सखि ! मैं अपने प्रियतम की खोज करती हुई वन-वन मारी फिरी पर उनका कोई पता नहीं चला। हे प्रियतम ! केवल एक बार दर्शन दे दीजिए, उसी से मेरी सब कमियाँ पूरी हो जायगी। मैं विरह-वेदना के कारण उसी प्रकार पीली पड़ गई हूँ जिस प्रकार पत्ता पीला पड़ जाता है। मेरे शरीर पर विपत्ति छाई हुई है। मीरा कहती है कि हे गिरधर लाल ! मैं तो तुम्हारी दासी हूँ। इसलिए मुझसे मिलिए ताकि उससे मेरे सब ओर सुख छा जाएँ।
विशेष—परम्परागत उपमानों का प्रयोग।

++

हरि बिन क्यूं जिवां री माय ॥टेक॥
स्याम बिना बौरी भयां मण काठ ज्यूं घुण खाय।
मूल ओखद णा लग्यां म्हाणे प्रेम पीड़ा खाय।
मीण जल बिछुड्यां णा जीवां तलफ मर मर जाय।
ढूंढतां बन स्याम डोलां मुरलिया धुण पाय।
मीरां रे प्रभु लाल गिरधर, वेग मिलास्यो आय ॥१२१॥

शब्दार्थ—जिवाँ=जीवित रहना। बौरी=पागल। मूल=सच्ची। ओखद=औषधि।

अर्थ—हे सखी! मैं हरि के बिना किस प्रकार जीवित रह सकती हूँ। कृष्ण के बिना मैं पागल हो गई हूँ और विरह मेरे मन को इसी प्रकार खा रहा है जिस प्रकार घुन काठ को खा जाता है। मेरे रोग की सच्ची औषधि नहीं मिली इसलिए प्रेम की पीड़ा मुझे खाये जा रही है। जिस प्रकार जल से बिछुड़ने पर मछली जीवित नहीं रहती और तड़प-तड़प कर मर जाती है। उसी प्रकार हरि के बिना मेरा जीवित रहना असम्भव है। मैं कृष्ण की मुरली की ध्वनि पर ढूँढती हुई वन-वन डोलती हूँ। मीरां कहती है कि हे लाल गिरधर! मुझ से शीघ्र आकर मिलिए और मेरी विरह-वेदना को दूर कीजिए।

पाठान्तर—कैसे जिऊँ री माई, हरि बिन कैसे जिऊँ री।
उदक दादुर मीनपत है, जल से ही उपजाइ।
पल एक जल कूँ मीन बिसर, तलफत मर जाई॥
पिया बिन पीली भई र, ज्यों काठ घुन खाय।
औषध मूल न संचरै रे, बाला बैद फिरि जाय॥
उदासी होय बन-बन फिरूँ, र बिथा तन छाइ।
दासी मीराँ लाल गिरधर, मिल्या है सुखदाइ॥

× ×

स्याम मिलण रे काज सखी, उर आरति जागी॥टेक॥
तलफ तलफ कल णा पड़ाँ बिरहानल लागी।
निसदिन पथ निहाराँ पिवरो पलक णा पल भर लागी।
पीव पीव म्हाँ रटाँ रैण दिन लोक लाज कुल त्यागी।
बिरह भवंगम डस्याँ कलेजा माँ लहर हलाहल जागी।
मीराँ व्याकुल अति अकुलाणी स्याम उमंगा लागी॥१२३॥

शब्दार्थ—आरति=दुख विरह वेदना। भवंगम=भुजंग साँप। हलाहल=विष। उमंग=मिलने की उमंग।

अर्थ—हे सखी! कृष्ण के मिलने के लिए ही मेरे हृदय में विरह-वेदना

उत्पन्न हुई है क्योंकि प्रियतम के मिलने का एक मात्र साधन वेदना ही है। मेरे मन में इस प्रकार की विरह की आग लगी हुई है कि रात-दिन तड़पती रहती हूँ और एक पल के लिए भी चैन नहीं मिलता। रात दिन प्रियतम का मार्ग देखती रहती हूँ और एक पल के लिये भी आँखें नहीं लगती। नींद नहीं आती। मैंने लोक और कुल की लाज को छोड़कर रात-दिन प्रियतम का नाम रटना प्रारम्भ कर दिया है। विरह के साँप ने मेरे हृदय पर काट लिया है जिससे मेरे सारे शरीर में विष की लहरें दौड़ रही हैं। हे श्याम! मीरा तुम्हारे विरह में अत्यन्त व्याकुल और दुःखी है तथा तुम्हारे दर्शनों की उमंग लिए हुए है

विशेष—'विरह भुजंगम' में रूपक अलंकार।

तुलना —हँसि हँसि कन्त न पाइए, जिनि पाया तिनि रोई।
जो हाँसेही हरि मिलै तो नहीं दुहागनि कोई॥ —कबीर

/ सइयाँ तुम बिनि नींद न आवै हो।
पलक पलक मोहि जुग से बीतै छिनि छिनि बिरह जरावै हो।
प्रीतम बिनि तिमिर आइ न सजनी दीपक भवन न भावै हो।
फूलन सेज सूल होइ लागी जागत रैण बिहावै हो।
कासूं कहूं कुण मानै मेरी कह्यो न को पतियावै हो।
प्रीतम पनंग डस्यो कर मेरो लहरि लहरि जिव जावै हो।
दादर मोर पपइया बोलै कोइल सबद सुणावै हो।
उमगि घटा घन उलटि आई दामिनि दमक डरावै हो।
है कोई जग में राम सनेही ऐ धरि साल मिटावै हो
मीरां के प्रभु हरि अबिनासी नैणां देख्यां भावै हो। १२१॥

शब्दार्थ—तिमिर=अन्धकार। सूल=काँटे। पतियावै—विश्वास करना। पनंग=पन्नग सर्प। दादर=दादुर, मेंढक। साल=दुःख।

अर्थ—हे सखी! मुझे प्रियतम को देखे बिना नींद नहीं आती। उनके विरह से मुझे एक-एक पल युग के समान बीतता है और प्रत्येक क्षण विरह वेदना जलाती रही है। हे सखि! बिना प्रियतम के मन का अन्धकार (अज्ञान)

दूर नहीं हो सकता और लौकिक दीपक मन को अच्छा नहीं लगता अर्थात् लौकिक पदार्थ आकर्षित नहीं कर सकते। फूलों की शैया अब मेरे लिए काँटों की सेज बन गई है अर्थात् सुख के क्षण दुःख के युग बन गये हैं। मैं विरह-वेदना के कारण जागते-जागते ही रात बिता देती हूँ। अपनी इस वेदना को मैं किस से कहूँ कौन मेरी बात को ठीक मान सकता है ? मैंने जब अपनी वेदना अन्य लोगों को सुनाई तो किसी ने भी विश्वास नहीं किया। प्रियतम रूपी साँप ने मेरा हाथ काट लिया है जिस का विष सारे शरीर में लहरा रहा है। मेंढक और पपीहा बोलने लगे हैं कोयल कूकने लगी है। बादल उमड़ कर भर आये हैं और बिजली चमक-चमक कर डरा रही है। क्या कोई इस जग में राम का ऐसा प्रेमी व्यक्ति है जो सान्त्वना देकर मेरे हृदय के दुःख को दूर कर मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो अविनाशी हरि हैं जिन्हें मिलना ही मुझे अच्छा लगता है।

विशेष—वर्णन परम्परागत है। अनेक विषयों का असंगत समावेश प्रकट करता है कि यह अनेक पदों का समन्वय है।

तुलना— छाए परदेस नाम प्यारे सँग लै सँदेस
मो मन सँदेस आनी सांसनि दबै मरै।
मोरनि की कूक सुनि उठति हिये मैं हूँक
कूक नहीं बानिक करेजो काढ़िब धरै।
दामिनी की कौंध लखि चौंधी मरत बाव
अंग अंग मीरियी समीर परसैं जरै।
देरि पूँटि मारे बहैया ने अानंदघन यौं
बादर मर्दइयानि दावौलौं ज्यौं करै॥

—घनानन्द

××

१ स्याम सुन्दर पर वारां जीवड़ा डारां स्याम ॥टेर॥
थारे कारण जग जनम त्यागां लोक लाज कुल डारां।
थे देख्यां बिन कल णा पड़तां, नैणां चलतां धारां।

क्यासूं कहूं कोण बुझावां, कठण बिरहरी धारां।
मीरां रे प्रभु दरसण दीज्यो थे चरणां आधारां ॥१२५॥

शब्दार्थ—वारी=न्यौछावर कर दिया। जीवड़ा=जीवन। छोजां बसतां धारां=आँखों से धारा बहती है निरन्तर आँसू बहते रहते हैं। बुझावां=शान्त करना। कठण=कठिन। आधारां=आधार।

अर्थ—हे सखि मैंने अपना जीवन श्याम सुन्दर (कृष्ण) पर न्यौछावर कर दिया है। हे कृष्ण ! तुम्हारे लिए मैंने जगत के आदमियों का छोड़ दिया है लोक की लाज को दूर फेंक दिया है तुम्हारे देखे बिना मुझे चैन नहीं मिलता। विरह-वेदना के कारण आँखों से निरन्तर आँसू बहते रहते हैं। मैं अपनी वेदना किससे कहूँ। कौन इसको शान्त करेगा ? विरह की धार बड़ी कठिन है। मीरां कहती है कि हे मेरे प्रभु ! मुझे दर्शन दीजिए क्योंकि मेरा आधार तो तुम्हारे चरण ही है।

विशेष—विरह वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति है।

तुलना—प्रेमसुबानि तिहारे वियोग ही सौं बरषा-रितु बालि सी आय भई।
हिय-गोपनि बारनि कोपनि आनर साज पै ऊपर छाय गई।
घनआनन्द जान सदा हित झूमनि घूमनि देखिये नित नई।
अलि मेघ दया करि ह्वै हहा अबला किथौं भूमि रही गुरई ॥

—घनानन्द

× ×

करणां सुणि स्याम मेरी।
मैं तो होइ रही चेरी तेरी ॥टेक॥
दरसण कारण भई बावरी, बिरह बिथा तन घेरी।
तेरे कारण जोगण हूंगी दूंगी नग्र बिच फेरी।
कुंज सब हेरी हेरी।
अंग भभूत लगे पिय हाला यो तन भसम करूँ री।
अजहूं न मिल्या राम अबिनासी बन बन बिच फिरूं री।
रोऊं नित टेरी टेरी।

जन मीराँ कूँ गिरधर मिलिया दुख मेटण सुख भेरी।
रोम रोम साता भइ उर में मिटि गई फेरा फेरी।
रहूँ चरननि तरि चेरी ॥१२४॥

शब्दार्थ—करुणा=करुण प्रार्थना। चेरी=चली दासी। बिथा=व्यथा। नग=नगर। मिरगछाला=मृगछाला। भेरी=पहुँचाने वाले। रोम रोम=रोम-रोम। साता=शान्ति। फेराफेरी=आवागमन। तरि=तले नीचे।

अर्थ—मीराँ कहती है कि हे श्याम! मेरी करुण प्रार्थना सुनो। मैं तो तुम्हारी दासी हो गई हूँ। तुम्हारे दर्शन करने के लिए मैं पागल हो गई हूँ और विरह-व्यथा ने मेरे शरीर को घेर लिया है। मैं प्रत्येक कूचे में तुमको ढूँढती फिर रही हूँ। मैंने तुम्हारे लिए अंगों पर भस्म लगा ली है मृगछाला पहन ली है और इस प्रकार मैं अपने शरीर को तुम्हारी साधना में भस्म कर दूँगी। मेरा अविनाशी प्रियतम राम! मुझे आज भी नहीं मिला है, इसीलिए उसकी खोज में बन-बन फिरूँगी और उसको टेर लगा-लगाकर रोऊँगी। हे प्रभु! अपनी दासी मीराँ को अनन्य दर्शन दीजिए। दुःख का नाश करो और सुख प्रदान करो। मेरे हृदय और रोम रोम में शान्ति छा गई है। इसीलिए मैं आवागमन के चक्कर से छूट गई हूँ। अब तुम्हारे चरणों के नीचे हो रहूँगी अर्थात् निरन्तर तुम्हारे चरणों की सेवा करती रहूँगी।

विशेष—१ भाषा के प्रवाह में सरलगति है।

२ नाथ-सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट है।

++

पिया अब घर आज्यो मेरे, तुम मोरे हूँ तोरे ॥टेक॥
मैं जन तेरा पंथ निहारूँ, मारग चितवत तोरे।
अवध बदीती अजहुँ न आये दुतियन सूँ नेह जोरे।
मीराँ कहे प्रभु कबरे मिलोगे दरसन बिन दिन दोरे ॥१२५॥

शब्दार्थ—चितवत=देखना। अवध=अवधि। बदीती=निश्चित की थी। दुतियन सूँ=दूसरों से। नेह=स्नेह। दोरे=कठिन।

अर्थ—हे प्रियतम! अब तुम मेरे घर आ जाओ, क्योंकि तुम मेरे हो और

मैं तुम्हारी हूँ। मैं तुम्हारी दासी तुम्हारे आने की प्रतीक्षा में तुम्हारा मा देख रही हूँ। तुमने आने की अवधि निश्चित की थी किन्तु तुम अब तक न आये हो। तुमने दूसरों से प्रेम स्थापित कर लिया है। मीरां कहती है कि मेरे प्रभु ! तुम मुझसे कब मिलोगे ? तुम्हारे दर्शन के बिना मुझे दिन काटन कठिन हो रहा है।

विशेष—१ प्रेम-मार्ग में सौतिया-डाह का वर्णन परम्परागत है। मीरां ने न 'दुतियन सूं नेह लगाए' कहकर इसी परम्परा का पालन किया है

२ निर्गुण परम्परा एवं अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट है।

३ इस पद की भाषा प्रधानतः ब्रज भाषा है किन्तु कुछ राजस्थान भाषा के प्रयोग भी है।

++

भुवण पति थे घरां आज्यौ जी।
बिथा लग्यां तण जराँ जीवण तपता बिरह बुझाज्यौ जी ॥टेक॥
रोवत रोवत डोलतां सब रैण बिहावां जी।
भूख गयां निदरा गयां पापी जीव णा जावां जी।
दुखिया णा सुखिया करो म्हाणे दरसण दीज्यौ जी।
मीरां व्याकुल बिरहणी अब बिलम णा कीज्यौ जी ॥१२७॥

शब्दार्थ—भुवणपति=भुवनपति संसार के स्वामी। घरि=घर। बिथा व्यथा। बिहावां=बिताना। निदरा=निद्रा नींद। बिलम=विलम्ब देर।

अर्थ—हे संसार के स्वामी ! तुम अब हमारे घर आओ। मेरे तन में विर की व्यथा लगी हुई है जिसने सारे जीवन को जला दिया है। इसलिए तु दर्शन देकर इस विरह की आग को बुझाओ। रोते-रोते और इधर उधर डोल हुए मेरी सारी रात बीत जाती है। भूख भी चली गई, नींद भी समाप्त हो गई किन्तु पापी मन नहीं जाता मृत्यु भी प्राप्त नहीं होता। इस दुखिया को सुखी बनाओ और मुझे दर्शन दो। मीरां कहती है कि मैं विरह में व्याकुल हूँ अतः अब देरी मत करो और तुरन्त दर्शन देकर इस विरहजन्य अपार दुःख को दूर करो।

विशेष—१ 'झूरत नयां निसरत गयां पापी जीव ना जावां जी' में विरह की अभिव्यक्ति अत्यन्त मार्मिक है।

२ पद की भाषा राजस्थानी है।

++

जोगी म्हांनै दरस दियाँ सुख होइ।
नातर दुख जग मांहि जीवड़ो, निस दिन झूरै तोइ।
दरद दिवानी भई बावरी डोली सबही देस।
मीरां दासी भई है पंडर पलट्या काला केस ॥१२८॥

शब्दार्थ—जोगी=प्रियतम। म्हांनै=मुझको। नातर=नहीं तो। झूरै=व्याकुल रहना। तोइ=तेरे लिए। पंडर=सफेद। पलट्या=बदल गया। केस=बाल।

अर्थ—हे प्रियतम! तुम्हारे दर्शन देने से ही मुझे सुख मिल सकेगा। नहीं तो इस संसार में दुःखी होकर ही जीना पड़ेगा और तेरे लिए रात दिन विरह से व्याकुल होती रहूँगी। मैं दर्द में पागल होकर बावरी हो गई हूँ और तुम्हें प्राप्त करने के लिए सभी स्थानों पर घूम आई हूँ। मीरां कहती है कि हे प्रभु! मैं तुम्हारी दासी हूँ। तुम्हारे विरह में मैं सफेद हो गई हूँ और मेरे बाल भी सफेद हो गए हैं।

विशेष—भावों में कोई नवीनता नहीं है।

++

म्हारे घर रमतो ही जोगिया तू आव ॥टेक॥
कानां बिच कुंडल गले बिच सेली अंग भभूत रमाय।
तुम देख्यां बिन कल न पड़त है ग्रिह अंगणो न सुहाय।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी दरसण दीज्यो मोकूं आय ॥१२९॥

शब्दार्थ—रमतो ही=विचरण करता हुआ ही। ग्रिह=गृह घर। दीज्यो=दीजिये न।

अर्थ—हे प्रियतम! यदि केवल मेरे लिए तुम मेरे घर नहीं आ सकते तो इधर उधर विचरण करते हुए ही आ जाओ। मैंने तुम्हारे लिए जोगन धारण कर लिया है—कानों में कुण्डल धारण किए हैं गले में गूदड़ी डाल ली है और

शरीर पर भभूती लगा ली है। तुम्हें देखे बिना मुझे चैन नहीं मिलता और घर तथा आँगन कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मीराँ कहती है कि हे मेरे प्रभु! तुम अविनाशी हो, अतः मुझे आकर दर्शन क्यों नहीं दे देते?

++

√ आवाँ मन मोहणा जी जोवाँ थारी बाट ॥टेक॥
थारे पास म्हारे नेक न आवाँ, नैणा खुला कपाट।
थे आय बिण सुख णा म्हारो हियड़ो घणा उचाट।
मीराँ थे बिण भई बावरी, छाँड्या णा णिरबाट ॥१३ ॥

शब्दार्थ—थारी बाट=तुम्हारी राह। कपाट=किवाड़। उचाट=व्याकुल। णिरबाट=निराश्रय असहाय।

अर्थ—हे मनमोहन! तुम आकर दर्शन दो। मैं तुम्हारी राह देख रही हूँ। तुम्हारे विरह में मुझे खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। आँखों के किवाड़ हर समय खुले रहते हैं अर्थात् मैं निर्निमेष दृष्टि से तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहती हूँ। तुम्हारे आये बिना मुझे सुख नहीं मिल सकता और मेरा हृदय बहुत ही अधिक व्याकुल है। मीराँ कहती है कि हे प्रियतम! मैं तुम्हारे विरह में पागल हो गई हूँ इसलिए मुझसे दूर रहकर मुझे असहाय अवस्था में मत छोड़ो।

++

√ आवो मनमोहना जी मीठो थारो बोल ॥टेक॥
बालपनाँ की प्रीति रमइयाजी कदे नाहिं आयो थारो तोल।
दरसण बिन मोहि जक न परत है चित्त मेरो डाँवाडोल।
मीराँ कहै मैं भई रावरी कहो तो बजाऊँ ढोल ॥१३१॥ √

शब्दार्थ—बोल=वाणी। कदे नाहिं=कभी भी नहीं। जक=चैन।

अर्थ—हे मनमोहन! तुम मेरे घर आओ और मुझे दर्शन दो। तुम्हारी वाणी मीठी है। हे रमैया! हमारी और तुम्हारी प्रीति तो बचपन की है जिसे तुमने कभी भी उचित महत्व नहीं दिया है। तुम्हारे दर्शन के बिना मुझे चैन नहीं मिलता। तुम्हारे विरह में मेरा मन डाँवाडोल हो रहा है। मीराँ कहती है कि मैं तुम्हारे विरह में बावरी हो गई हूँ। कहो तो अपनी इस प्रीति का ढिंढोरा पीट दूँ।

तुलना—सरिकाई को प्रेम कहौ अलि कैसे छूटे ? —सूरदास

++

प्यारे दरसण दीज्यो आय थें बिण रह्या ण जाय । टेक।
जल बिण कँवल चंद बिण रजनी थे बिणा जीवण जाय ।
आकुल व्याकुल रैण बिहावाँ बिरह कलेजो खाय
दिवस णा भूख ण निदरा रैणा मुखाँ सूं कह्या ण जाय ।
कौण सुणे कासूँ कहियारी मिल पिव तपन बुझाय ।
क्यूँ तरसावाँ अन्तरजामी आय मिलो दुख जाय ।
मीराँ दासी जनम जनम री, थारो नेह लगाय ।।११२।।

शब्दार्थ—थें बिण=तुम्हारे बिना । कलेजा=हृदय । तपन=दुःख ।

अर्थ—हे प्यारे प्रियतम ! मुझे आकर दर्शन दीजिये क्योंकि तुम्हारे बिना मुझसे रहा नहीं जाता । जिस प्रकार जल के बिना कमल नष्ट हो जाता है और चन्द्रमा के बिना रात सूनी होती है, उसी प्रकार तुम्हारे बिना मेरा जीवन नष्ट हो रहा है । मैं आकुल-व्याकुल होकर रात काटती हूँ विरह का दुःख मेरे हृदय को खा रहा है । विरह-दुःख के कारण न मुझे दिन में भूख लगती है और न रात को नींद आती है । अपनी विरह-वेदना से मैं वर्णन भी तो नहीं कर सकती । मैं किससे अपनी व्यथा कहूँ मेरी व्यथा को सुनने वाला है ही कौन ? हे प्रियतम ! तुम मुझे देखकर मेरे विरह-दुःख को मिटाओ । हे अन्तर्यामी ! मुझे क्यों तरसा रहे हो । आकर मिलो जिससे मेरा दुःख दूर हो जाए । मीराँ कहती है कि मैं तो तुम्हारी जन्म जन्म की दासी हूँ और तुमसे ही प्रेम लगाए बैठी हूँ ।

विशेष—१ इस पद में आई भावनाएँ मीराँ के अनेक पदों में मिलती हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में अनेक पदों की पंक्तियाँ समाविष्ट हो गई हैं ।

२ विनोक्ति और दृष्टान्त अलंकार है ।

पाठान्तर—प्यारे दरसन दीज्यो रे, आइ रे आइ ।
तुम बिन रह्यो न जाइ रे जाइ ।
जल बिन कमल चन्द बिन रजनी ।

ऐसे तुम दरसण बिन सजनी।
किरपा करिके वेग पधारो, बिरह करेजा खाइ रे खाइ
दिवस न भूखि नींद नहीं रैना।
मुख सूँ कहत न आवै बैना।
मिलिकर ताप बुझाइ रे बुझाइ।
आकुल व्याकुल फिरूँ रैन दिन,
क्यूँ तरसावो अन्तरजामी।
आए मिलो किरपा करि स्वामी।
मीराँ दासी जनम जनम की पड़ गी तुम्हारे पाइ रे पाइ

++

घड़ी चैण ना आवड़ाँ थे दरसण बिण मोय।
धाम न भावे नींद न आवै, बिरह सतावै मोय।
घायल री घूमा फिरूँ म्हारो दरद न जाण्यां कोय।
प्राण गमायाँ झूरताँ रे नैण गुमायाँ रोय।
पंथ निहाराँ डगर मझाराँ ऊभी मारग जोय।
मीराँ रे प्रभु कब रे मिलोगा थे मिल्याँ सुख होय ॥१११॥

शब्दार्थ—घड़ी चण न आवड़ाँ=एक पल के लिए भी चैन नहीं मिलता। धाम=घर। झूरताँ=शोकावेश में ही।

अर्थ—हे प्रियतम ! तुम्हारे दर्शन के बिना मुझे पल भर के लिए भी चैन नहीं मिलता। इस विरह के कारण न तो मुझे अपना घर अच्छा लगता है न रात को नींद आती है। विरह मुझे बहुत सताता है। मैं विरह-दुख में घायल होकर घूम रही हूँ किन्तु मेरे इस दुख को कोई नहीं जानता। मैंने शोकावेश में ही रोते रोते अपनी आँखें फोड़ ली हैं और प्राणों को गवाँ दिया है। मैं तुम्हारी राह देखती रहती हूँ और तुम्हारे मार्ग में खड़ी-खड़ी तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहती हूँ। मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! तुम मुझे कब मिलोगे क्योंकि तुम्हारे मिलने पर ही मुझे वास्तविक आनन्द प्राप्त होगा।

पाठान्तर—घड़ी एक नहिं आवड़े तुम दरसण बिन मोय।
तुम ही मेरे प्राण जी, कासूँ जीवण होय।

धान न भावै नींद न आवै, बिरह सतावै मोय।
घायल सी घूमत फिरूं रे, मेरो दरद न जाणे कोय।
दिवस तो खाय गमायो रे रैण गमाई सोय।
प्राण गमायो झूरताँ रे, नैण गमाया रोय।
जो मैं ऐसा जाणती प्रीत किए दुख होय।
नगर ढिंढोरा फेरती रे, प्रीत न कीज्यो कोय।
पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ ऊभी मारग जोई।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होई॥

++

दरस बिण दूखां म्हारा नैण ॥टेक॥
सबदां सुणतां मेरी छतियां कांपी मीठो थारो बैण।
बिरह बिथा कासूं री कह्यां पैठी करवत मैण।
कल णा परतां पल हरि मग जोवां भयां छमासी रैण।
थें बिछड्यां म्हां कलपां प्रभुजी म्हारो गयो सब चैण।
मीरां रे प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटण सुख दैण ॥११४॥

शब्दार्थ—सबदां=शब्दों को। सुणतां=सुनते ही याद करते ही। बैण=वचन वाणी। पैठी करवत=आरी चल गई। मैण=पूरी-पूरी। छमासी=छः मास की बहुत लम्बी।

अर्थ—हे प्रभु! तुम्हारे दर्शन के लिए तुम्हारी राह देखते-देखते मेरी आँखें दुखने लगीं। तुम्हारी याद आते ही मेरा हृदय काँपने लगता है और तुम्हारे मीठे वचन—प्रेम भरे वचन—याद आ जाते हैं। मैं अपनी विरह-व्यथा किससे कहूँ? विरह की आरी पूरी तरह से मेरे दिल पर चल गई है। मुझे तुम्हारे बिना क्षणिक भी चैन नहीं पड़ता। मैं तुम्हारी राह देखती रहती हूँ। तुम्हारे विरह में रात बहुत लम्बी हो जाती है। हे प्रभु जी! तुम्हारे बिछुड़ने पर मैं तड़प रही हूँ। मेरा सारा चैन समाप्त हो गया है। मीरां कहती है कि हे प्रभु! तुम कब मिलोगे क्योंकि तुम ही दुःख को मिटाने वाले और सुख को देने वाले हो।

विशेष—भाषा में कोई नवीनता नहीं है।

पाठान्तर—कहीं-कहीं इस पद में यह पंक्ति भी मिलती है—

'अब के तुम बिछड़े मेरे प्रभु जी कबहुँ न पायो चैन।'

++

म्हाणे क्यां तरसावां ॥टेक॥
थारे कारण कुल जग छाड्यां अब थें क्यां बिसरावां।
बिरह बिथा ल्याया उर अन्तर, थें आस्यां णा बुझावां।
अब छाड्यां णा बणे मुरारी सरण गह्यां बड़ जावां।
मीरां दासी जणम जणम री भगतां पैज णिभावां ॥११५॥

शब्दार्थ—म्हाणे=मुझको। क्यां तरसावां=क्यों सताते हो। पैज णिभावां=प्रण पूरा करो।

अर्थ—हे प्रियतम ! न जाने तुम मुझे क्यों सताते हो ? तुम्हारे कारण ही तो मैंने परिवार और संसार को त्याग दिया है इसलिए अब तुमने मुझे क्यों छोड़ दिया। तुम्ही ने मेरे हृदय में विरह-व्यथा उत्पन्न की थी। मुझे आशा थी कि तुम्ही इसको बुझाओगे लेकिन न जाने क्यों तुम अब इसको नहीं बुझा रहे हो ? हे मुरारी ! अब तो तुम मुझको छोड़ भी नहीं सकते क्योंकि मैंने पूर्णतया तुम्हारी शरण ग्रहण करली है। मीरां कहती है कि मैं तो तुम्हारी जन्म जन्म की दासी हूँ। अतः भक्तों के प्रति उद्धार करने का आपका जो प्रण है, उसको पूर्ण करो अर्थात् मेरा उद्धार करो।

++

नागर नन्दकुमार लाग्यो थारो नेह ॥टेक॥
मुरली धुण सुण बीसरां म्हारो कुणबो गेह।
पाणी पीर णा जाणई मीण तलफि तज्यां देह।
दीपक जाण्या पीर णा पतंग जल्यां जल खेह।
मीरां रे प्रभु सांवरे रे, थें बिण देह अदेह ॥११६॥

शब्दार्थ—नागर=चतुर, रसिक। नेह=स्नेह प्रेम। धुण=ध्वनि। बीसरां=भूल गया। कुणबो=कुटुम्ब खानदान। गेह=घर। मीण=मीन मछली। तलफि=तड़पकर। खेह=धूल राख। अदेह=बिना देह।

अर्थ—हे रसिक कृष्ण ! मेरा प्रेम तो तुमसे लग गया है। तुम्हारी मुरली की ध्वनि को सुनकर मैं बंध और घर को छोड़कर उसी स्थान को चल देती हूँ जहाँ पर तुम मुरली बजाते हो। पानी के अभाव में मछली तड़प-तड़पकर अपने प्राणों को तज देती है पर पानी उसकी व्यथा को नहीं जानता। पतंग (शलभ) दीपक की लौ में जलकर अपने जीवन को समाप्त कर देता है किन्तु दीपक उसकी प्रेम-पीर को नहीं जानता। मीरा कहती है कि हे प्रभु ! इसी प्रकार मैं तुम्हारे लिए तुम्हारे विरह में देह को धारण किए हुए भी बिना देह के बन गई हूँ पर तुम मेरी पीड़ा को समझकर मुझे दर्शन ही नहीं देते अर्थात् मैं तुम्हारे विरह में जीवित होते हुए भी निर्जीव बन गई हूँ।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार।

तुलना—जब हरि मुरली अधर धरी।
गृह-व्यौपार तजे आरज-पंथ चलत न संक करी।
पद रिपु पट अँटक्यो न सम्हारति उलट न पलट खरी॥ —सूरदास

म्हारी जनम मरण रो साथी थाने णा बिसर्यां दिन राती ॥टेक॥
थां देख्यां बिण कल ण पड़तां जाणे म्हारी छाती।
ऊंचां चढ़चढ़ पंथ निहार्यां कलप कलप अँखियां राती।
भो सागर जग बंधण झूंठां झूंठां कुलरा न्याती।
पल पल थारो रूप निहारां निरख निरख मदमाती।
मीरां रे प्रभु गिरधरनागर, हरि चरणां चित राती ॥११७॥

शब्दार्थ—थाने=तुमको। थां=तुम्हें। कलप-कलप=रो-रोकर। भो सागर=भव सागर, संसार रूपी सागर। कुलरा न्याती=कुल और सम्बन्धी। मदमाती=मस्त हो जाती हूँ। राती=प्रेम अनुरक्त।

अर्थ—हे कृष्ण ! तुम तो मेरे जन्म-जन्म के साथी हो इसीलिए मैं तुम्हें दिन या रात में अर्थात् किसी भी समय नहीं भूलती। मेरा दिल इस बात को जानता है कि तुमको देखे बिना मुझे किसी भी प्रकार चैन नहीं मिलता। मैंने तुम्हारी प्रतीक्षा में आतुरता के कारण ऊँचा चढ़-चढ़कर तुम्हारा रास्ता देखा और तुम्हारे विरह में रो-रोकर मेरी आँखें भी लाल हो गई। इस संसार

इन्ही सांसारिक तथा जगत् के सब बंधन झूठे हैं। कुल और अन्य सम्बन्धी भी झूठे हैं। प्रत्येक पल मैंने तुम्हारे रूप को देखा और उसे देख-देखकर मैं मग्न हो जाती हूँ। मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरधरनागर ! मेरा चित्त तो तुम्हारे चरणों में ही अनुरक्त हो गया है अतः तुम्हारे बिना मेरा अन्यत्र ठिकाना नहीं है, इसीलिए दर्शन देकर मुझे दुःख से छुड़ाइये।

विशेष—प्रस्तुत पद में कोई नवीनता नहीं है केवल परम्परा का पालन है।

पाठान्तर—

म्हारो जनम मरण रो साथी, थाँने नहीं बिसरूँ दिन राती ॥
तुम देख्याँ बिन कल न पड़त है, जानत मेरी छाती ।
ऊँची चढ़ चढ़ पंथ निहारूँ, रोय रोय अँखियाँ राती ॥
यो संसार सकल जग झूठो, झूठा कुल रा न्याती ।
दोऊ कर जोड़्याँ अरज करत हूँ, सुण लीजो मेरी बाती ॥
यो मन मेरो बड़ा हरामी, ज्यूँ मदमातो हाथी ।
सतगुरु हस्त धर्या सिर ऊपर, आँकुस दै समझाती ॥
पल पल तेरा रूप निहारूँ, निरख निरख सुख पाती ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, हरि चरणाँ चित राती ॥

++

सजन सुध ज्यूँ जाणे त्यूँ लीजै हो ॥टेक॥
तुम बिन मोरे अवर न कोई क्रिपा रावरी कीजै हो ।
दिन नहिं भूख रैण नहिं निंदरा यूँ तन पलपल छीजै हो ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर मिल बिछड़न मत कीजै हो ॥११८॥

शब्दार्थ—अवर=और । रावरी=अपनी । छीजै हो=क्षीण होता जाता है।

अर्थ—हे प्रियतम ! जिस प्रकार तुम ठीक समझो उसी प्रकार मेरी सुधि लो। तुम्हारे बिना मेरा और कोई सहारा नहीं है इसलिए मुझ पर अपनी कृपा करो। तुम्हारे विरह के कारण न तो मुझे दिन में भूख लगती है और न रात को नींद आती है। इस प्रकार मेरा शरीर तड़प-तड़प कर क्षीण होता

जाता है। मीरां कहती है कि हे प्रभु गिरधरनागर! तुम कभी भी मिलकर न बिछड़ा क्योंकि वियोग का दुख बहुत ही मर्मान्तक होता है।

विशेष—यही भाव मीरां के अन्य पदों में भी पाया जाता है।

पाठान्तर—

१ म्हाँरी सुध ज्यों जाणो त्यों लीजो जी।
पल पल भीतर पंथ निहारूँ, दरसण म्हाँनै दीजो जी।
मैं तो हूँ बहु औगुणकारी, औगुण चित मत दीजो जी॥
मैं तो दासी थारे चरण कँवल की, मिल बिछुरन मत कीजो जी।
मीराँ तो सतगुरु जी सरणै हरि चरणाँ चित दीजो जी॥

२ साजन सुधि ज्यों जाणो त्यों लीज्यो जी।
म्हे तो दासी जनम जनम की किरपा रावरी कीज्यो जी।
अन्न पंजल जागत सोवत कबहूँक याद करीज्यो जी॥
तुम पतिव्रता नारी बिना प्रभु काहूँ सों न पतीज्यो जी।
साचो प्रेम प्रीत सों नातो ताही सों तुम रीझ्यो जी॥
रात दिवस आठि ध्यान तिहारो आनही दरसन दीज्यो जी।
मीरा के प्रभु गिरधरनागर, मिलि बिछुरन मत कीज्यो जी॥

३ थे म्हारी सुध ज्यौं जाणूँ त्यूँ लीज्यो।
आप बिना मोहि कछु न सुहावै वेगा ही दरसण दीज्यो।
मैं मद मागण करम अभागण, आगम चित मत दीज्यो॥
विरह लगी पल छिन न लगत है, तो मन यूँ ही छीज्यो।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी दरसाँ साखनति ज्यो॥

४२

स्याम मिलण रो घणो उमावो नित उठ जोऊँ बाटड़ियाँ ॥टेक॥
दरस बिना मोहि कुछ न सुहावै जक न पड़त है आँखड़ियाँ।
तलफत तलफत बहु दिन बीता पड़ी बिरह की पासड़ियाँ।
अब तो वेगि दया करि साहिब मैं तो तुम्हारी दासड़ियाँ।
नैण दुखी दरसण कूँ तरसैं नाभि न बैठें सांसड़ियाँ।
रात दिवस यह आरति मेरे कब हरि राखै पासड़ियाँ।

लागि लगनि छुटण की नाहीं प्रब क्यू कीजे प्रोटड़ियाँ।
मीरां के प्रभु कबरे मिलोगे पूरो मन की प्रासड़ियाँ ॥१३६॥

शब्दार्थ—क्यो=अधिक। उमावो=उत्साह उत्कंठा। वाटड़िया=राह, मार्ग। कल=चैन। तलफत-तलफत=तड़पते-तड़पते। पासड़ियाँ=पाश, फाँसी। नाभिन=नभ। प्रारति=प्रार्त दुःख विनती। पासड़ियाँ=पास। प्रोटड़ियाँ=प्रोट उपेक्षा भाव। पूरो=पूरी करोगे।

अर्थ—मुझे कृष्ण से मिलने की बहुत उत्कंठा है इसलिए नित प्रति उठकर उनकी प्रतीक्षा करती रहती हूँ। उनके दर्शन के बिना मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता और आँखों को चैन नहीं मिलता। हे श्याम! तुम्हारे विरह में तड़पते हुए मुझे बहुत दिन बीत गये हैं गले में विरह की फाँसी पड़ी हुई है इसलिए अब तो जल्दी ही दया कीजिए—दर्शन दीजिए, क्योंकि मैं तो तुम्हारी दासी हूँ। आर्त दुखी होकर तुम्हारे दर्शन के लिए तरस रही हूँ और साँसें नभ में आ गई हैं अर्थात् मैं मरणासन्न हू। मुझे रात-दिन यही दुख रहता है अथवा यही विनती करती रहती हूँ कि हरि कब मुझ अपने पास रक्खेंगे? आप से जो प्रेम लग गया है, वह तो छूट नहीं सकता इसलिए अब आप दर्शन देने में क्यों उपेक्षा किया रहे हैं। मीरां कहती है कि हे प्रभु! तुम कब मुझ से मिलोगे और मेरे मन की आशा को पूरा करोगे? अर्थात् तुम मुझ शीघ्र ही दर्शन दो।

म्हारे घर होता जाज्यो महाराज ॥टेक॥
नित बिछाउं हिवड़ो वास्यूं सर पर राखयूं बिराज।
पाँवड़ो म्हारो भाग सवारण जगत उधारण काज।
संकट मेट्या भगत जणारां थाप्यां पुन्न रा पाज।
मीरां रे प्रभु गिरधरनागर बाँह गह्यारी लाज ॥१४०॥

शब्दार्थ—बिछास्यूं=बिछाऊँगी। वास्यूं—रक्खूँगी। पावणों=पाहुना अतिथि। उधारण काज=उद्धार काज के लिए। भगतणें=भक्तों का। थाप्यां=स्थापित की है। पाज=मर्यादा।

अर्थ—भगवान् को सम्बोधित करती हुई मीरां कहती है कि हे महाराज!

हमारे घर होते हुए जाना। मैं तुम्हारे मार्ग में अपनी आँखें बिछाऊँगी तुम्हें हृदय में रखूँगी और अपने सिर पर सुशोभित करूँगी। हे अतिथि! यदि तुम उद्धार करने के लिए हमारे घर आ जाओ तो हमारा भाग्य सुधर जाये। तुमने तो सर्वदा भक्तजनों के सङ्कटों को दूर किया है और पापों को मिटाकर पुण्य की मर्यादा स्थापित की है। मीराँ कहती है कि मेरे गिरधर नागर प्रभु! मेरे हाथ को ग्रहण करने की लाज को अवश्य रखो अर्थात् मेरे घर आकर दर्शन देकर कृतार्थ करो।

पाठान्तर—म्हाँरे घर होता जाज्यो महाराज।
मग के दिन टाला दे जाओ, सिर पर राखूँ बिराज॥
पावणड़ा म्हाँके भले ही पधारो, सब ही सुधारण काज।
म्हें तो जनम जनम की दासी, थें म्हारौं सिरताज।
म्हें तो थुरी छाँ थाँके भली छै पधोरी तुम गक सरराज।
थाँने हम सब दिन की चिन्ता, तुम सबके हो गरीब निवाज।
मबके मुकुट सिरोमनि सिर पर मानूँ पुण्य की साज।
मीराँ क प्रभु गिरधरनागर, थाँने गह की लाज।

इस पद की तीन पंक्तियाँ इस प्रकार भी मिलती हैं—
हाना जाग्यो राज, महलाँ म्हाँरे होता जाज्यो राज।
मैं अगुणी मेरा साहब सुगुणा सन्त सँवार काज।
मीराँ के प्रभु मन्दिर पधारो कर केसरिया साज॥
× ×
सजणी कब मिलस्याँ पिव म्हारी।
चरण कँवल गिरधर सुख देस्याँ राख्याँ नैणाँ नेरा।
णिरखाँ म्हारो चाव घणेरो सुखड़ा देस्या थारी।
व्याकुल प्राण धरयाँणा धीरज बेग हरयाँ म्हा पीराँ।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, थे बिण तपन घणेरा॥१४१॥

शब्दार्थ—पिव=प्रियतम। नेरा=समीप सामने। णिरखाँ=निरखने का दर्शन करने का। धरयाँणा धीरज=धैर्य नहीं धरता। सुखड़ा=सुख। घणेरा=अधिक।

अर्थ—हे सजनी ! न जाने हमारा प्रियतम हम से कब मिलेगा ? वह गिरिधर अपने चरण-कमलों में आश्रय देकर मुझे सुख देगा और मेरी आँखों के समीप रहेगा अर्थात् सदा मेरे सामने रहेगा। उनके दर्शन करने के लिए मेरे मन में बहुत ही उत्कंठा है। हे गिरिधर ! जब से मैंने तुम्हारा मुख देखा है तब से मेरे प्राण व्याकुल हो गये हैं और किसी भी प्रकार धैर्य धारण नहीं करते। इसलिए तुरन्त दर्शन देकर मेरी पीड़ा (वेदना) को दूर कीजिए। मीरां कहती है कि हे गिरिधर नागर स्वामी ! तुम्हारे बिना मुझे बहुत ही दुःख है।

++

म्हारो सुध ज्यूं जाणो ज्यूं लीजो जी ॥टेक॥
पल-पल भीतर पंथ निहारू दरसण म्हाने दीजो जी।
मैं तो हूं बहु औगुणहारी औगुण चित मत दीजो जी।
मैं तो दासी थारे चरण कँवल की मिल बिछुरन मत कीजो जी।
मीरां तो सतगुर जी सरणे हरि चरणां चित दीजो जी ॥१५८॥

शब्दार्थ—औगुणहारी=अवगुणों से भरी हुई। चित मत दीजो=ध्यान मत दीजिए।

अर्थ—हे प्रियतम जिस प्रकार तुम उचित समझो उसी प्रकार मेरी सुधि लो मैं प्रत्येक पल तुम्हारे पंथ को निहार रही हूँ। इसलिए मुझे अवश्य दर्शन दीजिए। मैं बहुत अवगुणों से भरी हुई हूं। आप मेरे अवगुणों पर ध्यान मत दीजिए। मैं तो तुम्हारे चरण-कमलों की दासी हूँ इसलिए मुझसे मिलकर मत बिछुड़िए। मीरां कहती है कि मैं तो सतगुरु की शरण में हूं और मैंने हरि के चरणों में अपना मन लगा दिया है।

विशेष—इस पद में दैन्य भावना एवं समर्पण भावना दोनों की अभिव्यक्ति हुई है। ऐसा ही भाव मीरां के अन्य पदों में भी मिलता है।

तुलना—

१ कबीरा कुतिया राम की मुतिया मेरा नाँव।
गले राम की जेवरी जित खैंचे तित जाँव ॥ —कबीर

२ प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।
... समदरसी है नाम तिहारो ... ॥ —सूरदास

म्हारे घर आज्यो प्रियतम प्यारा, तुम बिन सब जग खारा ।।टेक।।
तन मन धन सब भेंट करू ओ भजन करूं मैं थारा ।
तुम गुणवंत बड़े गुणसागर मैं हूं जी औगणहारा ।
मैं निगुणी गुण एकौ नाहीं तुम हो बगसण हारा ।
मीराँ कहै प्रभु कबहि मिलोगे थां बिन नैण दुख्यारा ।।१४३।।

शब्दार्थ—खारा = फीका आनन्दहीन । निगुणी = गुण रहित । बगसण हार = क्षमा करने वाले । दुख्यारा = दुखी ।

अर्थ—हे प्रियतम प्यारे ! हमारे घर आ जाओ । तुम्हारे बिना सारा संसार आनन्दहीन दिखाई पड़ता है । मैं अपना तन-मन और धन तुम पर अर्पण कर दूंगी और तुम्हारा ही भजन (चिन्तन) करूंगी । तुम गुणवान हो और गुणों के सागर हो मैं अवगुणों से भरी हुई हूं । मैं निगुणी हूं मुझ मे एक भी गुण नहीं है किन्तु तुम तो अपने भक्तों को क्षमा करने वाले हो । मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! तुम कब मिलोगे क्योंकि तुम्हारी प्रतीक्षा करते करते मेरी आँखें दुखी हो गई हैं, दुखने लगी हैं ।

विशेष—परम्परागत वर्णन है ।

पाठान्तर—म्हारे डेरे आज्यो जी महाराज ।
चुणि चुणि कलियाँ सेज बिछाऊं नख सिख पहर्यो साज ।
जनम जनम की दासी तेरी तुम मेरे सिरताज ।
मीरा के प्रभु हरी अविनासी, दरसण दीज्यो आज ।।

तुलना—प्रभु हौं सब पतितन को टीको ।
और पतित सब दिवस चारि के हौं तो जनमत ही को ।।—सूरदास

थारी-थारी हो राम हूं थारी, तुम आगया गती हमारी ।।टेक।।
तुम देख्यां बिन कल न पड़त है जोऊं बाट तुम्हारी ।
कूण सखी सूं तुम रँग राते हम सूं अधिक पियारी ।
किरपा कर मोहि दरसण दीज्यो सब तकसीर बिसारी ।
तुम सरणागत परमदयाला भवजल तार मुरारी ।
मीराँ दासी तुम चरणन की बार बार बलिहारी ।।१४४।।

शब्दार्थ—वारी-वारी=निछावर हो गई हूँ। आज्यो=आ जाओ। रंग राते=अनुरक्त हो गये हो। तकसीर=अपराध। भवजल=भवसागर। तार=पार करो।

अर्थ—हे राम ! मैं तुम्हारे ऊपर न्यौछावर हो गई हूँ इसलिए तुम हमारी गली आ जाओ। तुम्हारे देखे बिना मुझे चैन नहीं पड़ता और मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करती रहती हूँ। न जाने तुम किस अन्य सखी के साथ अनुरक्त हो गये हो न जाने हमसे अधिक प्यारी तुम्हें कौन-सी सखी लगती है। कृपा करके मुझे दर्शन दो और मेरे सारे अपराधों को भूल जाओ। तुम शरण में आये हुए व्यक्ति की लाज रखने वाले हो अत्यन्त दयालु हो इसलिए कृपा करके मुझे भवसागर से पार कर दीजिए। मीराँ कहती है कि हे स्वामी ! मैं तो तुम्हारे चरणों की दासी हूँ और बार-बार तुम पर बलिहारी होती हूँ।

++

म्हारे आज्यो जी रामाँ थारे आवत आस्याँ सामाँ ॥टेक॥
तुम मिलियाँ मैं बोहो सुख पाऊं सरैं मनोरथ कामा।
तुम बिच हम बिच अंतर नाहिं जैसे सूरज घामा।
मीराँ के मन अवर न माने चाहे सुन्दर स्यामाँ ॥१४५॥

शब्दार्थ—थारे आवत=तुम्हारे आने पर। आस्या=होगी। सामाँ=शान्ति। बोहो=बहुत। सरैं=पूर्ण हो जायेंगे। कामा=इच्छित। घामा=धूप।

अर्थ—हे राम ! हमारे घर आ जाओ क्योंकि तुम्हारे आने से मुझे शान्ति प्राप्त होगी। तुम से मिलन के बाद मुझे बहुत सुख मिलेगा और मेरे सारे इच्छित मनोरथ पूर्ण हो जायेंगे। जिस प्रकार सूरज और धूप में कोई द्वैत भावना नहीं होती उसी प्रकार मेरे तुम्हारे बीच कोई अन्तर नहीं है। मीराँ कहती है कि मेरा मन तो श्यामसुन्दर को चाहता है, इसलिए यह किसी अन्य की इच्छा नहीं कर सकता।

विशेष—'तुम बिच हम बिच अन्तर नाहीं जैसे सूरज घामा' में अद्वैत भावों

का सुन्दर वर्णन है इस प्रकार के वर्णन निर्गुण सन्तों में प्रायः
मिलता है।

तुलना—चित्रित तू मैं हूँ रेखा क्रम मधुर राग मैं स्वर-संगम।
तू असीम मैं सीमा का भ्रम काया-छाया में रहस्यमय॥
—महादेवी वर्मा

++

पिया मोहि दरसण दीजै हो।
बेर बेर मैं टेरहूँ अहे क्रिपा कीजै हो॥टेक॥
जेठ महीने जल बिना पंछी दुख होई हो।
मोर असाढ़ाँ कुरलहे घन चात्रग सोई हो।
सावण में झड़ लागियो सखि तीजाँ खेलै हो।
भादव नदियाँ वहै दूरी जिन मेलै हो।
सीप स्वाति ही झेलती आसोजाँ सोई हो।
देव काती में पूजहे मेरे तुम होई हो।
मगसर ठंड बहोती पड़ै मोहि बेगि सम्हालो हो।
पोस मही पाला घणा अबही तुम न्हालो हो।
महा मही बसंत पंचमी फागाँ सब गावै हो।
फागुण फागा खेल है बणराइ जरावै हो।
चैत चित्त में ऊपजी दरसण तुम दीजै हो।
बैसाख बणराइ फूलवै कोइल कुरलीजै हो।
काग उड़ावत दिन गया बूझूँ पंडित जोसी हो।
मीरा बिरहणि व्याकुली दरसण कब होसी हो॥१४५॥

शब्दार्थ—बेर बेर=बार-बार। अहे=अब। कुरलहे=करुण शब्द करते
है। सोई=उसी प्रकार का करुण शब्द। आसोजाँ=क्वार मास। काती=
कार्तिक। मगसर=अगहन। न्हालो=आकर देख लो। माह=माघ मास
फागाँ=होली के गीत। बणराइ=वनराजि अर्थात् समस्त वन। ऊपजी=
उत्पन्न हुई। कुरलीजै=करुण शब्द करती है। पिंडत=पंडित। जोसी=
ज्योतिषी।

अर्थ—हे प्रियतम ! मुझे दर्शन दीजिए मैं बार-बार इस बात की टेर लगा रही हूँ कि अब तो मुझ पर अवश्य कृपा कीजिए। जेठ का महीना आ गया है और बिना जल के पक्षी दुखी हो रहे हैं। आषाढ़ महीने में मोर बादल के लिए करुण शब्द कर रहे हैं। ऐसा ही कारुणिक शब्द चातक भी कर रहे हैं। सावन का महीना आ गया है चारों ओर बून्दों की झड़ी लग रही है। सभी सखियाँ उल्लास में भर कर तीज खेल रही हैं। भादों के महीने में नदियाँ पानी से भर कर बहने लगती हैं। जो प्रियतम दूर है वे मिल नहीं पाये हैं। क्वार मास में स्वाती नक्षत्र की बूंद को सीप ही मन में रही है धारण कर रही है। कार्तिक मास में सभी नारियाँ अपने देवों को पूज रही हैं, किन्तु मैं किस की पूजा करूँ क्योंकि केवल तुम ही तो मेरे हो और तुम्हीं मेरे पास नहीं हो। अगहन के मास में बहुत अधिक सर्दी पड़ रही है। इसलिए कृपा कर तुरन्त मेरी रक्षा कीजिए। पूस के महीने में पृथ्वी पर अधिक मात्रा में पाला पड़ रहा है। यह पाला मुझे किस प्रकार सता रहा है इसे तुम स्वयं ही आकर देख लो। माघ का महीना आने पर पृथ्वी पर बसंत पंचमी आ गई। सब लोग होली के गीत गाते हैं। फाल्गुन के महीने में सब लोग फाग खेलते हैं किन्तु यह बसन्त ऋतु मुझे जला रही है मेरी विरह भावना को उद्दीप्त कर रही है चैत के महीने में तुमसे मिलने की इच्छा और अधिक उत्पन्न हो गई है इसलिए तुम मुझे दर्शन दो। वैशाख के महीने में वनराज फूल गया है अर्थात् सर्वत्र प्रकृति सुषमा दृष्टिगोचर होती है। कोयल पंचम स्वर में बोलती है। प्रियतम के आने की सूचना की आशा से कौवे को उड़ाते हुए सारा दिन बीत गया पंडितों और ज्योतिषियों से भी इस विषय में बहुत कुछ पूछा किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। मीराँ कहती है कि मैं विरह से व्याकुल हूँ अब हे प्रियतम ! कृपा करके बताओ कि अब कब दर्शन होंगे ? भाव यह है कि प्रकृति के उद्दीपन रूप के कारण मेरी विरह-वेदना और भी अधिक हो गई है। अब शीघ्रातिशीघ्र दर्शन देकर इस वेदना को दूर कीजिए।

विशेष —

१ विरह-वर्णन के अन्तर्गत बारहमासे का वर्णन करने की परम्परागत है। मीराँ ने भी इस पद में इसी परम्परा का पालन किया है।

२ आदिकाल से ही कौवा प्रियतम के आने की सूचना देने वाला माना जाता रहा है । विरहिणी कहती है कि हे काग ! यदि मेरा प्रियतम आ रहा हो तो तू उड़ जा । इसी परम्परा की ओर मीरां ने भी संकेत किया है ।

++

जोगिया जी आज्यो जी इण देस ॥टेक॥
नैणज देखूं नाथ नै धाइ करूं आदेस ।
आया सावण भादवा भरीया जल थल ताल ।
रावल कुण बिलमाई राखी बिरहणि है बेहाल ।
बरस्या बौ हो दिन गया अब बरस्यौ पलक न जाइ ।
एक बेरी देह फेरी नगर हमारे आइ ।
वा मूरति म्हारे मन बसे छिन भरि रह्यो न जाइ ।
मीरां रे कोइ नाहिं दूजो दरसण दीज्यौ आइ ॥१४७॥

शब्दार्थ—इण=इस । नैणज=नैनों से । आदेस=आदेश निवेदन । रावल=प्रियतम का । कुण=किसने । बिलमाई=रोक लिया । बेहाल=अत्यन्त दुखी । बरस्या=बिछुड़े हुए । बौहो=बहुत । अब=अब । बरस्यौ=बिछुड़ना । जाइ=सहन करना । बेरी=बार । देह=वदन मुख ।

अर्थ—हे प्रियतम ! अब हमारे इस देश में आओ । मैं अपने प्रियतम को अपनी आँखों से देखूं और दौड़कर तुम से निवेदन करूँ । हे प्रियतम ! अब तो सावन-भादों का महीना आ गया है सारे जल थल और ताल पानी से भर गये हैं । मेरे प्रियतम को किसने रोक लिया है और मैं विरह में बहुत दुखी हूँ । जिस दिन हम बिछुड़े थे उसको बहुत दिन हो गये और अब तो एक पल का बिछुड़ना भी नहीं सहा जाता । कृपा करके एक बार तो इधर मुँह करके हमारे नगर में आ जाओ । तुम्हारी यह सुन्दर मूर्ति मेरे मन में बसी हुई है जिसके बिना पल भर भी नहीं रहा जाता । मीरां कहती है कि तुम्हारे बिना मेरा और कोई दूसरा नहीं है, अत: तुरन्त आकर दर्शन दीजिए ।

विशेष—भावों में कोई नवीनता नहीं है । प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन है ।

पाठान्तर—जोगिया जी आयो ये या देस।

नैणान देखूँ नाम मेरो, ध्यान करूँ आदेस॥
आया सावण मास सजनी भरे जल थल ताल।
रावल कुण बिलमाइ राख्यो, बिरहिन है बेहाल॥
बिछुड़ियाँ कोई मौ भयो र जोगी ए दिन अहला जाइ।
एक बेर देह फेरी, नगर हमारे आइ॥
वा सूरति मेरे मन बसे रे जोगी छिन भर रह्यो न जाइ।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी दरसण द्यो हरि आइ॥

++

जोगिया ने कहज्यो जी आदेस ॥टेक॥
जोगियो चतुर सुजाण सजनी ध्यावै संकर सेस।
आऊँगी मैं नाह रहूँगी (रे म्हारा) पीव बिना परदेस।
करि किरपा प्रतिपाल मो परि रखो न आपण देस।
माला मुदरा मेखला रे बाला खप्पर लूँगी हाथ।
जोगिण होई जग ढूँढसूँ रे म्हारा रावलियारी साथ।
सावण आवण कह गया बाला कर गया कौल अनेक।
गिणता-गिणता घस गई रे म्हारा आंगलिया रेख।
पीव कारण पीली पड़ी बाला जोबन बाली बेस।
दास मीराँ राम भजि कै तन मन कीन्हीं पेस ॥१४८॥

शब्दार्थ—आदेस=प्रार्थना विनती। ध्यावै=ध्यान करते हैं। संकर=शंकर महादेव। सेस=शेषनाग। प्रतिपाल=अनुग्रह कृपा। मुदरा=मुद्रा योगियों का एक आभूषण। मेखला=करधनी तगड़ी। बाला=बल्लभ प्रियतम। रावलियारी=अपने राजा के। कौल=वचन। आंगलिया=अंगुली की। रेख=रेखायें। बाली=नवीन नई। पेस=पेश समर्पित।

अर्थ—अपनी सखी से मीराँ कहती है कि प्रियतम से मेरी ओर से यह विनती कर दीजिए। हे सजनी! मेरा प्रियतम अत्यन्त चतुर और प्रेमी है तथा महादेव और शेषनाग भी उसका ध्यान करते हैं। हे प्रियतम! क्योंकि तुम परदेस में बसे हुए हो, इसलिए मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती और मैं तुम्हारे

पास अवश्य आऊँगी अकसी यहाँ नहीं रह सकती। हे सखी ! कृपा करके मेरे प्रियतम से यह कह दीजिए कि वे मुझ पर अपना अनुग्रह करें भले ही वे अपने वेश में मुझे अपने साथ रक्खें। मैंने अपने प्रियतम से मिलने के लिए संन्यास धारण करने का निश्चय कर लिया है। हे प्रियतम ! मैं तुम्हारे लिए माला मुद्रा और करधनी धारण करूँगी तथा हाथ में खप्पर लूँगी। मैं योगिनी बनकर समस्त जगत में तुम्हारी खोज करूँगी और अपने राजा के साथ रहूँगी। मेरा प्रियतम सावन में आने के लिए कह गया था और इस सम्बन्ध में वह अनेक प्रकार के वचन दे गया था किन्तु उसके आने की अवधि को गिनते-गिनते मेरी अँगुलियों की रेखाएँ भी घिस गईं पर वह अब तक नहीं आया। हे प्रियतम ! मैं तुम्हारे विरह के कारण पीली पड़ गई हूँ। मैं अभी यौवनयुक्त और नवीन वेश में समन्वित हूँ। मीराँ कहती है कि हे राम ! मैं तुम्हारी दासी हूँ और मैंने अपना तन-मन तुम्हें समर्पित कर दिया है।

विशेष —

१ इस पद की भावनाओं में कोई नवीनता नहीं है। य भाव ही अनेक पदों में विभिन्न शब्दावली में मीराँ ने व्यक्त किये हैं।

२ 'गिणता-गिणता घँस गई रे म्हाँरा आँगलिया री रेखा' यह भाव विद्यापति के 'सखि अजहुँ न आयेल मोर पिया' आदि पद से बहुत साम्य रखता है जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

पाठान्तर—जोगिया न कहियो रे आदम।

आऊँगी मैं नाहीं रहूँ रे कर जटाधारी भेस ॥
चीर को फाड़ँ कथा पहिरूँ लेऊँगी उपदस।
गिणते-गिणते घिस गई रे, उँगलियों की रेख ॥
मुद्रा माला मेखल रे, खप्पड़ लऊँ हाथ।
जोगिन होय जुग ढूँढसूँ रे रावलिया के साथ ॥
प्राण हमारा वहाँ बसत है, यहाँ तो खाली खोड़।
मात-पिता परिवार सूँ रे, रही तिनका तोड़ ॥
पाँच पचीसों बस किए मैंरा पल्ला न पकड़ै कोय।
मीराँ व्याकुल विरहणी कोइ आय मिलावै मोय ॥

++

थे तो पलक उघाड़ो दीनानाथ
मैं हाजिर नाजिर कबकी खड़ी ॥टेक॥
साजनियाँ दुसमण होय बैठ्या सबने लगूं कड़ी।
तुम बिन साजन कोई नहीं है, डिगी नाव समंद अड़ी।
दिन नहिं चैन रैण नहिं निदरा सूखूं खड़ी खड़ी।
बाण बिरह का लग्या हिये में भूलुं न एक घड़ी।
पत्थर की तो अहिल्या तारी बन के बीच पड़ी।
कहा बोझ मीरां में कहिये सौ पर एक धड़ी ॥१४२॥

शब्दार्थ—पलक उघाड़ो=आँखें खोलो मेरी ओर देखो। हाजिर नाजिर=आँखों के सामने आज्ञा-पालन के लिए प्रस्तुत। साजनियाँ=सगे-सम्बन्धी। कड़ी=कड़वी बुरी। सौ पर एक धड़ी=सौ मन की तुलना में एक पंसेरी के समान।

अर्थ—हे दीनानाथ! अब तो तुम मेरी ओर देखो मैं तुम्हारी आज्ञा का पालन करने के लिए कब से तुम्हारी सेवा में खड़ी हुई हूँ। तुम्हारे कारण ही मेरे सगे-सम्बन्धी मेरे शत्रु हो गये हैं और मैं सबको बुरी लगने लगी हूँ। हे साजन! तुम्हारे बिना मेरा कोई भी नहीं है। मेरी नौका डगमगाकर बीच समुद्र में आकर अड़ गई है। तुम्हारे बिना तो मुझे दिन में ही चैन मिलता है और न रात को नींद ही आती है। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ी-खड़ी सूख रही हूँ। मेरे हृदय में विरह का बाण लग गया है और मैं तुमको एक घड़ी भी नहीं भूल पाती। तुमने पत्थर की अहिल्या का तो उद्धार कर दिया था जो वन के बीच पड़ी हुई थी लेकिन मीरां कहती है कि मुझ में ही कहाँ का अधिक बोझ है जो अब तक मेरा उद्धार नहीं किया। मैं तो अहिल्या की तुलना में उसी प्रकार हूँ जिस प्रकार सौ मन की तुलना में एक धड़ी—पंसेरी—होती है।

विशेष—

१ भक्त-कवियों ने आराध्य की सेवा में प्रतीक्षा को भी भक्ति का एक अंग माना है। अंग्रेजी के महाकवि मिल्टन ने भी इस मान्यता को इन शब्दों में स्वीकार किया है—

Thev also Serve who only stand and wait.

उपर्युक्त पद में इसी भाव का प्रतिपादन किया गया है।

२ इस पद में अहिल्याबाई की जो 'अन्तर्कथा' है वह इस प्रकार है—

अहिल्याबाई वृद्धाश्व ऋषि की पुत्री और गौतम मुनि की पत्नी थी। यह बहुत ही रूपवती थी। इन्द्र इसके रूप पर मोहित था। एक बार जब गौतम गंगा-स्नान के लिए गये हुए थे तो इन्द्र गौतम का रूप धारण करके आया और अहिल्या के साथ भोग-विलास किया। स्नान से लौटने पर जब गौतम को इस घटना का पता चला तो उसने अहिल्या को पत्थर होने का शाप दे दिया। फलस्वरूप वह पत्थर की शिला हो गई। जब राम विश्वामित्र के साथ जनकपुरी जा रहे थे तो उन्होंने अपने चरणों का स्पर्श करके इसे शाप से मुक्त कर दिया। फलतः वह फिर रूपवती होकर आकाश में चली गई।

अहिल्या की इस कथा का वर्णन संस्कृत और हिन्दी-साहित्य में प्रचुरता से मिलता है।

पाठान्तर—कहीं-कहीं इस पद में निम्नलिखित दो पंक्तियाँ और मिलती हैं—

गुरु रैदास मिले मोहिं पूरे, धुर से कलम भिड़ी।
सतगुरु सैन दई जब आके, जोत से जोत रली॥

× ×

म्हारो ओलगिया घर आज्यो जी।
तनरी ताप मिट्यां सुख पास्यां, हिलमिल मंगल गास्यो जी।
घणरी धुण सुण मोर मगण भयां, म्हारे आंगण आस्यो जी।
चंदा देख कमोदण फूलां हरख भयां म्हारे छास्यो जी।
रग रग म्हारो सीतल सजणी मोहन आंगण आस्यो जी।
सब भगतांरा कारज सार्यां, म्हारा परण निभास्यो जी।
मीरां बिरहण गिरधरनागर मिल दुख दंद छाड्यो जी॥१५०॥

शब्दार्थ—ओलगिया=परदेसी। तणरी=तन की। ताप=दुःख। घणरी=घन की। धुण=ध्वनि। हरख=हर्ष। भगतांरा=भक्तों का। सार्यां=सिद्ध किया। दंद=द्वंद्व, झगड़ा।

अर्थ—मेरे परदेसी प्रियतम! मेरे घर आओ। तुम्हारे मिलने से मेरे शरीर का दुःख दूर होगा, सुख मिलेगा और हम दोनों मिल-जुलकर मंगल गीत

गायेंगे। बादल की ध्वनि सुनकर मोर प्रसन्न होकर बोलने लगा है, इस उद्दीपन समय में तुम हमारे घर आ जाओ। चन्द्रमा को देखकर कुमोदनी फूल गई है अतः मेरे मन में हर्ष की उत्पत्ति करो अर्थात् आकर मुझसे मिलो ताकि मैं भी प्रसन्न हो जाऊँ। हे सजनी जिस दिन मोहन हमारे घर आ जायेगा उसी दिन मेरा रोम-रोम सुख से शीतल हो जायगा। हे गिरधर नागर! तुमने सब भक्तों के कार्यों को सिद्ध किया है इसलिए हमारा प्रण भी निभा दो अर्थात् मेरा भी उद्धार करो। मीराँ कहती है कि मैं तुम्हारे लिए विरहिणी बनी हुई हूँ इसलिए मेरे दुःख-दर्दों को दूर करो।

विशेष—प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन है जो परम्परागत है।

पाठान्तर —

१ म्हाँरा ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी सुख पाया हिलमिल मंगल गाया जी।
घन की धुनि सुनि मोर मगन भया यूँ मेरे आणन्द आया जी।
मगन भइ मिलि प्रभु आपणा सूँ मैं का दरध मिटाया जी॥
चंद को देखि कमोदणि फूलै हरखि भया मेरी काया जी।
रग-रग सीतल भइ मेरी सजनी, हरि मेरे महल सिधाया जी॥
सब भक्तन का कारज कीन्हा, सोई प्रभु मैं पाया जी।
मीराँ बिरहणी सीतल होइ दुख द्वन्द्व दूरी नसाया जी।

२ म्हाँरा ओलगियाँ घर आज्यो जी।
सुख-दुख खोलि कहूँ अन्तर की बेगा बदन बताज्यो जी॥
च्यार पहर च्यारूँ जुग बीत्याँ नैणाँ नींद न आवै जी।
परण ब्रह्म अलख अविनासी तुम बिन बिरह सतावै जी॥
नैणाँ नीर आप ज्यूँ भरणा ज्यूँ मेघ भरण लाया जी।
रतवन्ती इम राम थंस बिना, फिरत बदन मिलायाया जी॥
साधु मजन मिले सिर माँहै तन मन करूँ बधाई जी।
जन मीराँ नैं मिलो कृपा करि, जनम जनम सिराइ जी॥

× ×

म्हारे घर आवो श्याम गोठड़ी बराईये।
प्रानंद प्रदान बद्र धन जल मेंह बक।

मैं तो हूं तुम्हारी दासी ताहूँ तो चितारियें।
गगन गरजि आयो बदरा बरसि आयो।
सारंग सबद सुनि बिरहनी पुकारियें।
घर आवो स्याम मेरे, मैं तो लागूं पाँय तेरे।
मीरां कूं सरणि लीजै बलि बलिहारिये ॥१५१॥

शब्दार्थ—गोठड़ी=गोष्ठी, बातचीत। उछाव=उत्साह। चितारियें=सुधि लीजिए। सारंग=पपीहा। बिरहनी=विरहिणी।

अर्थ—हे स्याम! हमारे घर आओ और मुझसे बातचीत करो। तुम्हारे मिलने में मुझे आनन्द और उत्साह मिलेगा और मैं अपना तन-मन तुम्हें समर्पित कर दूंगी। मैं तो तुम्हारी दासी हूँ इसलिए मेरी सुधि लीजिए। बादल गरज-गरज कर उमड़ आया है और वह बरसने लगा है। पपीहा पीव-पीव शब्द बोलने लगा है और विरहिणियाँ विरह के कारण अपने प्रियतमों को पुकारने लगी हैं। हे स्याम! मेरे घर आओ तो मैं तुम्हारे चरणों को स्पर्श करूँगी। मीरां कहती है कि हे प्रभु! मुझे अपनी शरण में लीजिए। मैं बार-बार तुम पर बलिहारी होती हूँ।

× ×

आज सुण्या हरी आवाँ री आवाँ री मण भावाँ री ॥टेक॥
घरि णा आवाँ मेड़ मझावाँ बाण पड्या ललचावाँ री।
णेणा म्हारा कह्याँ णा मान्या णीर भरयाँ नित आवाँ री।
काँई करयाँ कछु णा बस म्हारो णा म्हारे पंख उड़ावाँ री।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर बाट जोह्याँ थें आवाँरी ॥१५२॥

शब्दार्थ—सुण्या=सुना है। मेड़=मार्ग। बाण=स्वभाव। नित=निरन्तर।

अर्थ—आज मैंने हरि के आने की बात सुनी है मनभावन के आने की बात सुनी है। वह हमारे घर नहीं आया मार्ग में ही उसे देखा था स्वभाव उन्हें देखते ही उन पर ललचा गया। आँखों ने मेरा कहना नहीं माना मेरी इच्छा के बिना ही ये उनके रूप-सौन्दर्य की ओर चली गईं। इसलिए इनमें निरन्तर आँसू भरते रहते हैं। क्या करूँ? इन पर तो मेरा वश बिल्कुल भी नहीं चलता। मेरे पंख भी नहीं हैं कि उड़कर प्रियतम के पास पहुँच जाऊँ।

मीराँ कहती है कि हे गिरिधर नागर ! मैं तुम्हारे आने की प्रतीक्षा कर रही हूँ।

तुलना—परबत समुँद अगम बिच बन बेहड़ घन ढंख।
किमि करि भेंटौं कंत तोहि, ना मोहि पाँव न पंख ॥ —जायसी

× ×

भीजे म्हारो दाँवन चीर सावणियो लूम रह्यो रे ॥टेक॥
आप तो जाय बिदेसाँ छाये, जिवड़ो धरत न धीर।
लिख लिख पतियाँ संदेसा भेजूँ कब घर आवै म्हारो पीव।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर दरसन दो ने बलबीर ॥१५३॥

शब्दार्थ—दाँवन चीर=पल्ले का कपड़ा। सावणियो=सावन का महीना। लूम रह्यो=छाय रहा है। पतियाँ=पत्र। पीव=प्रियतम। दो न=देवो न। बलबीर=कृष्ण।

अर्थ—सावन का महीना छा रहा है अर्थात् सावन के महीने में बादल घुमड़-घुमड़ कर बरस रहे हैं जिससे मेरे पल्ले का कपड़ा रह-रहकर भीग रहा है। प्रियतम ! तुम स्वयं तो जाकर विदेश में बैठ गये और यहाँ तुम्हारे वियोग में मेरा मन किसी भी प्रकार धैर्य धारण नहीं कर रहा है—वह अत्यधिक आतुर हो रहा है। मैं बार-बार पत्र लिखकर यह सन्देशा प्रियतम के पास भेज रही हूँ कि वे कब आकर दर्शन देंगे किन्तु तुम्हारी ओर से कोई उत्तर नहीं मिलता। मीराँ कहती है कि मेरे प्रभु तो गिरिधर नागर ही हैं। अतः हे कृष्ण ! मुझे तुरन्त दर्शन देकर विरहजन्य दुःख से दूर करो।

विशेष—परम्परागत वर्णन है।

× +

मेरे प्रियतम प्यारे राम कूँ लिख भेजूँ रे पाती ॥टेक॥
स्याम सनेसो कबहुँ न दीन्हों जानि बूझ गुझबाती।
डगर बुहारूँ पंथ निहारूँ जोइ जोइ आँखियाँ राती।
राति दिवस मोहि कल न पड़त है, हीयो फटत मेरी छाती।
मीराँ के प्रभु कबरे मिलोगे पूरब जनम का साथी ॥१५४॥

शब्दार्थ—पाती=पत्र। सनेसो=सन्देश। जानि बूझ=जान बूझकर।

गुप्तबाती=गुप्त बात । डगर=मार्ग । बुहारूँ=साफ करू । जोइ=देखते-देखते । जाइ=हो गई है । राती=लाल ।

अर्थ—मैं अपने प्रियतम राम को बार-बार पत्र लिखकर भेजती हूँ किन्तु उनकी ओर से कोई सन्देश ही नहीं मिलता । वे जान-बूझकर अपनी बात को गुप्त बनाए हुए हैं अर्थात् जान-बूझकर मौन धारण किए हुए हैं मैं उनकी प्रतीक्षा में मार्ग को साफ करती रहती हूँ उनका पथ देखती रहती हूँ और उनके पथ को देखते-देखते मेरी आँखें लाल ही गई हैं । उनके विरह में मुझे रात-दिन चैन नहीं मिलता । विरह-दुःख के कारण मेरा हृदय और छाती फटी जा रही । मीरा कहती है कि हे मेरे प्रभु ! तुम तो मेरे पूर्व-जन्म के साथी हो अब बताओ तो कि कब तक मुझे दर्शन देकर दुःखों से मुक्त करोगे ?

विशेष—

१. 'मेरे' शब्द का प्रयोग अशुद्ध है । इसके स्थान पर 'अपने' होना चाहिए ।

२. वर्णन में कोई नवीनता नहीं है । केवल परम्परा का पालन है ।

तुलना—मैंनिनि मधुबन कूप भरे ।
अपन तौ पठवत नाँहि मोहन हमरे फिरि न फिरे ।।
जिन पथिकन पठए मधुबन कौं बहुरि न साथ करे ।
कै वै स्याम सिखाइ प्रमोधे कै कहुँ बीच मरे ।।
कागर गरे मेघ मसि सूखी सर दव लागि जरे ।
सेवक सूर लिखन कौ आँधौ, पलक कपाट अरे ।। —सूरदास

++

मेरे घर आवो सुन्दर स्याम ।।टेक।।
तुम आया बिन सुध नहीं मेरे पीरी परी जैसे पान ।
मेरे आसा और न स्वामी एक तिहारो ध्यान ।
मीरां के प्रभु बेग मिलो अब राखो जी मेरो मान ।।१२५।।

शब्दार्थ—घर=गृह । पीरी=पीली । बेग=शीघ्र । राखो=रखो । मान=सम्मान प्रण । पान=पत्ता ।

अर्थ—हे सुन्दर स्याम ! मेरे घर आओ । तुम्हारे आये बिना मुझे सुध

नहीं मिल सकता। तुम्हारे वियोगजन्य दुःख के कारण मैं इस प्रकार पीली पड़ गई हूँ जिस प्रकार पत्ता पीला पड़ जाता है। हे स्वामी! तुम्हारे अतिरिक्त मेरी आशा का आधार भी तो नहीं है इसलिए केवल तुम्हारा ही ध्यान करती रहती हूँ। मीराँ कहती है कि हे प्रभु! अब मुझे शीघ्र दर्शन दीजिये और इस प्रकार मेरे सम्मान की रक्षा कीजिये।

विशेष—१ यही भाव मीराँ के अन्य पदों में भी पाया जाता है। जैसे—

'पात ज्यूं पीरी परी, अरु विपत तन छाई।
दास मीराँ लाल गिरधर मिल्या सुख छाई॥

२ 'पीरी परी जैसे पान' में उपमा अलंकार है।

तुलना—म्हारे घर आवो जी राम रसिया थाँरी साँवरी सूरत मन बसिया॥
चुवना चौक पुरवो मोहन बखतर लामा कसिया।
कुम कुम कलियाँ सेज बिछाई ऊपरि राखिया तकिया॥
सिरे माथ की पूछ मंगायो कौवम गेया पसिया।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, चरण कँवल मन बसिया॥

× ×

गोविन्द गाढ़ा छौजी हीलरा मित ॥टेक॥
बार निहारूं पंथ बुहारूं ज्यूं सुख पावै चित।
मेरे मन की तुमही जाणो मेरो हो चीत नचींत।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी पुरब जनम को मीत ॥१२६॥

शब्दार्थ—गाड़ा=संकट। छौजी=हितैषी। हीलरा=सहृदय। मित=मित्र। बार=द्वार। नचीन्त=निश्चिन्त चिन्ता-रहित।

अर्थ—गोविन्द ही एक ऐसा व्यक्ति है जो संकट में हितैषी और सहृदय मित्र सिद्ध होता है इसलिए मैं उनकी प्रतीक्षा में द्वारे पर खड़ी रहती हूँ उनके मार्ग को साफ करती रहती हूँ क्योंकि उनके मिलने से ही मन को सुख मिलेगा। हे गोविन्द! मेरे मन की बात केवल तुम्हीं जानते हो इसीलिए मेरा मन चिन्ताहीन हो गया है। मीराँ कहती है कि हे अविनासी हरि और मेरे प्रभु! तुम तो मेरे पूर्व जन्म के भी प्रियतम हो अतः मुझसे आकर मिलिए।

विशेष—भावों की केवल पुनरावृत्ति है, क्योंकि ये ही भाव मीरां के अन्य पदों में भी प्राप्त होते हैं।

तुलना—कबीर का तूं बिरहिनि का तेरा कबका होइ। —कबीर
मरण रूपना हरिजी करै वो ताहि ब्यस्त न हाइ॥

++

आव सजनियाँ बाट मैं जोऊं तेरे कारण देख न सोऊं ॥टेक॥
भूख न लगत मन बहुत उदासो सुन्दर स्याम मिलो अविनासी।
तेरे कारण सब सुख त्यागे खान पान में मन नहीं लागे।
मीरां के प्रभु दरसण दीज्यो मेरी अरज कान सुण लीज्यो ॥१५७॥

शब्दार्थ—जोऊं=देखना। जक=चैन। कान सुण लीज्यो=ध्यान देकर सुनो।

अर्थ—हे प्रियतम! आओ मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ तुम्हारी राह देख रही हूँ, क्योंकि तेरे कारण मुझे रात को भी नींद नहीं आती। तुम्हारे बिना मुझे तनिक भी चैन नहीं पड़ता और मेरा मन बहुत उदास रहता है। इसीलिए हे अविनाशी श्याम सुन्दर! मुझे अवश्य दर्शन दीजिए। तुम्हारे कारण ही मैंने सब सुख छोड़ दिया है। तुम्हारे बिना मुझे खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मीरां कहती है कि हे मेरे प्रभु! तुम मुझे आकर दर्शन दो और मेरी बिनती भी ध्यान देकर सुनो।

विशेष—तल्लीनता का अभाव और भावों की पुनरावृत्ति है।

पाठान्तर—आओ मनमोहना जी जोऊं थाँरी बाट।
खान-पान मोहि नैक न भावै नैणा न लागे कपाट।
तुम आया बिन सुख नाहिं मेरे दिल में बहोत उचाट।
मीरां कहे मैं भई रावरी, छाँडो नहीं निराट॥

++

मैं तो तोरे चरण लगी गोपाल ॥टेक॥
जब लागी तब कोउ न जाने अब जानी संसार।
किरपा कीजो दरसण दीजो सुध लीजो तत्काल।
मीरां कहै प्रभु गिरधर नागर, चरण कमल बलिहार ॥१५८॥

शब्दार्थ—थारे=तेरे। ततकाल=तत्काल तुरन्त।

अर्थ—हे गोपाल ! मैं तो तुम्हारे चरणों की शरण में आ गई हूँ। जब मेरी प्रीति तुमसे प्रारम्भ हुई थी तब तो किसी को भी पता नहीं चला और अब जब यह प्रीति प्रौढ़ हो गई है तो सारी दुनिया को पता चल गया है। आप कृपा करके मुझे दर्शन दें और तुरन्त मेरी सुध लें। मीरा कहती है कि गिरधर नागर ! मैं तो तुम्हारे चरण-कमलों पर न्यौछावर हो गई हूँ।

विशेष—इस पद की द्वितीय पंक्ति नवीन और मार्मिक है।

पाठान्तर—मैं तो थाँरे दामन लागी श्री गोपाल।
किरपा कीजो दरसन दीजो सुध लीजो तत्काल॥
गल बैजन्ती माला बिराजे, दर्शन भइ है निहाल।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, भक्तन के रछपाल॥

++

म्हा लागी लगन सिरि चरणा री॥टेक॥
दरस बिना म्हाने कछु ना भावो जग माया ज्यूँ सुपणा री।
भौ सागर भय जग कुल बंधण डार दयाँ हरि चरणा री।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर आस म्हाँ थें सरणा री॥१५६॥

शब्दार्थ—म्हा=मेरी। लगन=प्रीति। सिरी=श्री (कृष्ण)। सुपणा=स्वप्न निस्सार। चरणा री=चरण में।

अर्थ—मेरी प्रीति श्रीकृष्ण के चरणों में लग गई है। उनके दर्शन के बिना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता और यह संसार तो माया का रूप है अथवा स्वप्न की भाँति निस्सार है। भवसागर भय का कारण है परिवार आदि का मोह संसार के बन्धन हैं इसीलिए मैंने इन सबको त्याग कर स्वयं को हरि के चरणों पर डाल दिया है अर्थात् स्वयं को पूर्णतया समर्पित कर दिया है। मीरा कहती है कि मेरे प्रभु तो गिरधर नागर हैं और अपने उद्धार की आशा से मैं उनके शरण में चली गई हूँ।

विशेष—इस पद में निर्गुण सन्तों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। निर्गुण सन्तों ने संसार को या तो माया-स्वरूप माना है या निस्सार। कबीर के शब्दों में—

१ यह ऐसा संसार है, ज्यों सेमर का फूल।
दिन दस के व्यवहार में झूठे रंग न भूल॥
२ कबिरा यह तन कछु नहीं छिन खारा छिन मीठ।
काल्हि जो बैठा मंडपे आज मसाने दीठ॥

× ×

साँवरो म्हारो प्रीत निभाज्यो जी ॥टेक॥
थें छो म्हारो गुण रो सागर औगुण म्हां बिसराज्यो जी।
लोकन धीजै म्हारो मन न पतीज्यां मुखड़ा सबद सुणाज्यो जी।
दासी थारी जनम जनम म्हारे आंगण आज्यो जी।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर बेड़ा पार लगाज्यो जी ॥१६०॥

शब्दार्थ—साँवरो=कृष्ण। निभाज्यो=निभा दीजिए। थें छो=तुम हो। औगण=अवगुण दोष। पतीज्यां=विश्वास करता है। सबद=शब्द मधुर मा। बेड़ा पार लगाज्यो=बेड़ा पार लगा दीजिए उद्धार कर दीजिए।

अर्थ—हे कृष्ण! हमारी प्रीति को निभा दीजिए। तुम ही मेरे गुणों के सागर हो इसलिए मेरे अवगुणों की ओर कोई ध्यान न दो। लोगों ने मुझे बहुत समझाया किन्तु मन उनकी बातों पर विश्वास नहीं करता। इसलिए तुम स्वयं आकर मुझे अपने मुख से मधुर शब्द सुना जाओ। मैं तो तुम्हारी जन्म-जन्म की दासी हूँ अतः मेरे घर आओ मीराँ कहती है कि मेरे प्रभु गिरिधर नागर! मेरा शीघ्र ही उद्धार करो।

विशेष—'सबद' का प्रयोग निर्गुण सन्तों के प्रभाव का द्योतक है।

पाठान्तर—साँवरिया म्हाँरी प्रीतड़ली निभाज्यो।
प्रीत करो तो स्वामी ऐसी कीज्यो अधबिच मत छिटकाज्यो।
तुम तो स्वामी गुणरा सागर, म्हाँरा औगुण चित मति लाज्यो॥
काया गढ़ घेरा ज्यों पड़्या छै, ऊपर आपर ल्याज्यो।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर चित्त चरणों रमाज्यो॥

तुलना—प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।
समदरसी है नाम तिहारो चाहो तो पार करो॥—सूरदास

मिलता जाज्यो हो जी गुमानी, थाँरी सूरत देखि लुभानी ॥टेक॥
मेरो नाम बूझि तुम लीज्यो, मैं हूँ बिरह दिवानी।
रात दिवस कल नाहिं परत है जैसे मीन बिन पानी।
दरस बिना मोहि कछु न सुहावै तलफ तलफ मर जानी।
मीराँ तो चरणन की चेरी सुन लीजे सुखदानी ॥१६१॥

शब्दार्थ—गुमानी=गर्वीला। लुभानी=मोहित हो गई। मीन=मछली। चेरी=दासी।

अर्थ—हे गर्वीले! तू मुझसे मिलता जा क्योंकि तेरी रूप-छवि देखकर मैं मोहित हो गई हूँ। तुम किसी से भी मेरा नाम पूछ लेना—सभी जानते हैं कि मैं तुम्हारे प्रेम में दीवानी हो गई हूँ। तुम्हारे बिना मुझे रात-दिन चैन नहीं मिलता। मैं तुम्हारे बिना उसी प्रकार तड़पती हूँ जिस प्रकार पानी के बिना मछली तड़पा करती है। तुम्हारे दर्शन के बिना मुझे और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। तुम्हारे बिना तो मैं तड़प-तड़प कर मर जाऊँगी। मीराँ कहती है कि हे प्रियतम! मैं तो तुम्हारे चरणों की दासी हूँ। हे सुख के दानी! इस बात को अच्छी तरह सुन लीजिए।

विशेष —

१ उदाहरण अलंकार।
२ कहीं-कहीं यह पद चन्द्रसखी के नाम से भी मिलता है जो इस प्रकार है—

मिलता जाज्यो राज गुमानी थाँरी सूरत देख लुभानी ॥
म्हारो नाम थे जाणो बूझो मैं हूँ राम दीवानी।
आमी सामी पोल नन्द की चन्दन चौक निसानी ॥
थे म्हारे घर आवो बंसीवाला करस्याँ बहुत मिजानी।
वर्षं रसोई सोम की थाँ भोजन करू मिजमानी ॥
थे आवो हरि धेन चरावण मैं जल जाना पाणी।
थे नन्द जी का लाल लाल कहाओ मैं गोपी मस्तानी ॥
जमना जी के नीरे तीरे थे हरि धेन चरायो।
चन्द्रसखी भज बालकृष्ण छवि निज करताँ झाज्यो ॥

पाठान्तर—कहीं-कहीं 'गुमामी' के स्थान पर 'गुरु मामी' शब्द भी देखने में आता है।

थें बिण म्हारे कौण खबर ले गोवरधन गिरधारी।
मोर मुकुट पीताम्बर सोमाँ, कुंडल री छब न्यारी।
भरी सभा मा द्रुपद सुतारी राख्या लाज मुरारी।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, चरण कँवल बलिहारी ॥१६२॥

शब्दार्थ—थें बिण=तुम्हारे बिना। पीताम्बर=पीले वस्त्र।

अर्थ—हे गोवर्धन पर्वत को धारण करने वाले गिरधारी! तुम्हारे बिना मेरी और कौन खबर ले सकता है? अर्थात् तुम्हीं मेरे एकमात्र सहारे हो। तुम्हारे मोर मुकुट और पीले वस्त्र की तथा कानों में पड़े हुए कुण्डलों की शोभा ही निराली है। हे मुरारी! तुमने दुर्योधन की भरी सभा में द्रौपदी की लाज बचाई थी—उसे वस्त्रहीन होने से बचाया था। मीरां कहती है कि हे प्रभु गिरिधर नागर! मैं तुम्हारे चरण-कमलों पर बलि होती हूँ।

विशेष—

१ वैष्णव भक्ति में रूप-छवि का वर्णन भी भक्ति का एक अंग है।

२ 'भरी सभा या द्रुपद सुतारी राख्या लाज मुरारी' इस पंक्ति में आई हुई द्रौपदी की अन्तर्कथा पीछे दी जा चुकी है।

× ×

हरि म्हारो सुणज्यो, अरज महाराज।
मैं अबला बल नाँहि, गोसाईं राखो अबके लाज।
रावरी होइ कणीरे जाऊ, है हरि हिवड़ारो साज।
हयको बपु धरि दैत संघार्‌यो सार्‌यौ देवन को काज।
मीराँ के प्रभु और न कोई तुम मेरे सिरताज ॥१६३॥

शब्दार्थ—अरज=विनती। रावरी होइ=तुम्हारी होकर। कणी रे=कहाँ पर। हिवड़ारो=हृदय का। साज=शोभा। हय=हयग्रीव। बपु=शरीर। दैत=दैत्य राक्षस। संघार्‌यो=मारा। सार्‌यौ=सिद्ध किया। सिरताज=स्वामी।

अर्थ—हे महाराज हरि! हमारी विनती सुनो। हे गोसाईं! मैं अबला नारी हूँ मुझ में अपनी रक्षा के लिए भी शक्ति नहीं है, इसलिए तुम्हीं इस

बार मेरी रक्षा करो, मेरी लाज बचाओ। तुमने हयग्रीव का शरीर धारण करने वाले राक्षसों को मारा था और देवताओं के कार्यों को सिद्ध किया था—अर्थात् तुम तो अन्यायी का संहार करके अपने भक्तों की रक्षा करने वाले हो। मीरां कहती है कि हे प्रभु! तुम्हारे बिना मेरा और कोई नहीं है, तुम्हीं मेरे स्वामी हो।

विशेष—भागवत के अनुसार 'हयग्रीव' की कथा इस प्रकार है—

प्रलयकाल के समय जब तीनों लोक जलमग्न हो गये तो महासागर में सोए हुए ब्रह्मा ने चारों वेदों की रचना की। इन्हें हयग्रीव नामक राक्षस ने चुरा लिया। वेदों के चोरी हो जाने पर देवताओं में हाहाकार मच गया। तब विष्णु ने मत्स्य का अवतार लेकर हयग्रीव को मारा और वेदों की रक्षा की।

× ×

मैं तो तेरी सरण परी रे रामा ज्यूं जाणे त्यूं तार ॥टेक॥
अड़सठ तीरथ भ्रमि भ्रमि आयो मन नाहीं मानी हार।
या जग में कोइ नाँहि अपणों सुणियो श्रवण मुरार।
मीरां दासी राम भरोसे जम का फंदा निवार ॥१६४॥

शब्दार्थ—ज्यूं जाणे=जिस प्रकार तुम्हारी इच्छा हो। त्यूं तार=उसी प्रकार उद्धार करो। श्रवण=कान। फंदा=बंधन। निवार=दूर करो।

अर्थ—हे राम! मैं तो तुम्हारी शरण में आ गई हूँ। अब जिस प्रकार तुम्हारी इच्छा हो उसी प्रकार मेरा उद्धार करो। मेरा मन अड़सठ अर्थात् अनेक तीर्थों में घूम घूम कर आ गया है और वहाँ पर किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं हुई, फिर भी मेरे मन ने हार नहीं मानी है अर्थात् वह तुमसे विमुख नहीं हुआ है। हे मुरारी! कान खोल कर इस बात को सुन लो कि इस संसार में तुम्हारे बिना मेरा कोई अपना नहीं है। मीरां कहती है कि हे राम! मैं तो तुम्हारी दासी हूँ और तुम्हारे ही भरोसे पर हूँ इसलिए मेरे जग के बंधन को दूर करो अर्थात् जग के दुख-द्वन्द्वों से छुड़ाकर मेरा उद्धार करो।

+ +

गिरधारी शरणां थारी आयां, राख्यां किरपानिधान ।।टेक।।
अजामील अपराधी तार्‌यां तार्‌या नीच सदाण ।
डूबतां गजराज राख्यां गणिका चढ़ृया बिमाण ।
अवर अधम बहुता थें तार्‌या भाख्यां सन्त सुजाण ।
भीलण कुबजा तारयां गिरधर जाण्यां सकल जहाण ।
विरद बखाणां गणतां णा आणा भाख्यां वेद पुराण ।
मीरां प्रभु री शरण रावली बिणता दीज्यो काण ।।१६६।।

शब्दार्थ—किर्पानिधान=कृपासागर। अजामिल=एक व्यक्ति का नाम। सदाण=सदना एक व्यक्ति का नाम। चढ़्या बिमाण=विमान पर चढ़ा कर। अवर अधम=और दूसरे पापी। सन्त=सन्त। भीलण कुबजा=कुबजा भीलिनी। जहाण=जहान ससार। विरद=यश। बखाणां=बखान करना। बिणता=बिनती। काण=कान।

अर्थ—हे गिरधारी! मैं तुम्हारी शरण में आ गई हूँ इसीलिए हे कृपा सागर! मेरी लाज रखिए, मेरी रक्षा कीजिए। तुमने अजामिल जैसे घोर पापी का उद्धार किया नीच कार्य करने वाले सदना को जन्म-बन्धनों से छुड़ाया डूबते हुए हाथी की ग्राह से रक्षा की और गणिका को विमान पर चढ़ाकर स्वर्गलोक पहुँचाया। इसके अतिरिक्त तुमने और भी बहुत से पापियों का उद्धार किया जिसका वर्णन सुजान सन्त किया करते हैं। हे गिरधर! तुमने कुब्जा भीलनी का भी उद्धार किया इस बात को सारा संसार जानता है। तुम्हारे यश का बखान नहीं किया जा सकता। वेद-पुराण भी इस विषय में नेति-नेति कहकर तथा थककर चुप हो जाते हैं। मीरां कहती है कि हे प्रभु! मैं तो तुम्हारी शरण में आ गई हूँ अतः मेरी बिनती कान देकर—खूब ध्यान से—सुनियेगा।

विशेष—इस पद में जो अन्तर्कथाएँ हैं वे इस प्रकार हैं—

अजामील अपराधी तार्‌यां—अजामिल कन्नौज का एक ब्राह्मण था जो कर्मों से बहुत ही नीच था। इसने अपनी पत्नी को छोड़कर अन्य स्त्री से सम्बन्ध स्थापित कर लिया था। मांस-मदिरा का सेवन भी खूब करता था। एक दिन किसी दुष्ट ने परिहास के रूप में एक साधु-मंडली को अजामिल के

यहाँ भेज दिया। अजामिल को उनका सत्कार करना पड़ा। इस सत्कार से प्रसन्न होकर साधुओं ने उसको उसके पुत्र का नाम नारायण रखने के लिए कहा। तदनुसार जब अजामिल की रखैल के गर्भ से पुत्रोत्पत्ति हुई तो उसने उसका नाम नारायण रख दिया। इस पर भी वह अपने कुकर्मों में ही लीन रहा। मृत्यु-शैया पर जब उसने अपने पुत्र नारायण को पुकारा तो भगवान् विष्णु के दूतों ने आकर यमदूतों से उसकी रक्षा की और उसे बैकुण्ठ लोक ले गये।

तार्‌यो नीच सदाण—सदना व्यवसाय से कसाई था। वह जिन बाँटों से मांस तोलकर बेचा था उनमें एक शालिग्राम की बट्टी भी थी। एक दिन एक साधु उस बट्टी को ले गया तो भगवान् ने साधु को स्वप्न में दर्शन देकर कहा—'तुम्हारे पूजन की अपेक्षा सदना के बाँटों में रहना अधिक पसन्द करता हूँ इसलिए तुम मुझे वापिस वहीं पहुँचा दो। साधु ने ऐसा ही किया। इस घटना से सदना बहुत प्रभावित हुआ। वह अपना व्यवसाय छोड़कर पूर्णतः हरि-भक्ति में लग गया और अन्त में जन्म-बन्धनों से छूटकर बैकुण्ठ लोक का वासी हुआ।

बूड़तो गजराज राख्यो—यह अन्तर्कथा पहिले दी जा चुकी है।

गणिका चढ़ गई विमाण—किसी नगर में जीवन्ती नाम की एक वैश्या रहती थी जो व्यभिचार-वृत्ति से ही अपना जीवन-निर्वाह करती थी। एक दिन उसने एक तोता खरीद लिया और उसे पुत्रवत् प्यार करने लगी। प्रतिदिन प्रातःकाल वह उसे 'राम-राम' पढ़ाया करती। इस नामोच्चारण से तोता और गणिका दोनों का उद्धार हो गया।

भीलण कुबजा तार्‌यो—कुब्जा कंस की एक दासी का नाम था जिसका शरीर तीन जगह से टेढ़ा था। वह कृष्ण से अगाध प्रेम करती थी। जब कृष्ण कंस-वध के लिए मथुरा आये तो अपनी भक्तिनी के अपार प्रेम को देखकर बहुत प्रसन्न हुए और इसका शरीर सीधा कर दिया। कृष्ण-साहित्य में इसी कुब्जा का वर्णन प्रचुरता से मिलता है।

++

मेरो बेड़ो लगाज्यो पार प्रभु जी मैं अरज करूँ छूँ ॥टेक॥
या भव में मैं बहु दुख पायो संसा सोच निवार।

अष्ट करम की तलब लगी है, दूर करो दुख भार।
यो संसार सब बह्यो जात है, लख चौरासी री धार।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर आवागमन निवार ॥१६६॥

शब्दार्थ—बेड़ो=नाव। भव=संसार। संसा=संशय। सोग=शोक। निवार=दूर करो। अष्ट करम=आठ बन्धन* 'आठ पाश'। तलब=उत्कट इच्छा। लख चौरासी री धार=चौरासी लाख योनियों की धारा में। आवागमन=जन्म मृत्यु का बंधन।

अर्थ—हे प्रभु! मैं तुमसे विनती कर रही हूँ मेरी नैया को पार लगाओ, अर्थात् इस संसार के बन्धनों से छुड़ाकर मेरा उद्धार करो। इस संसार में मैंने बहुत दुःख भोग लिए हैं, इसलिए मेरे संशयों और शोकों को दूर करो। मुझे भिन्न-भिन्न कार्यों को करने की उत्कट इच्छा बनी रहती है अर्थात् कर्मों के बन्धनों में बुरी तरह से बन्धी हुई हूँ तुम मुझे इन बन्धनों से छुड़ाकर मेरे दुःख के बोझ को हल्का करो। यह संसार चौरासी लाख योनियों की धारा में बहा जाता है अर्थात् जन्म और मृत्यु ही संसार का स्वरूप है। मीरां कहती है कि हे मेरे प्रभु गिरधर नागर! मुझे जन्म-मृत्यु के बन्धन से छुड़ाओ—मेरी मुक्ति करो।

× ×

मेरी बातां सुणज्यो जी करुणा निधान ॥टेक॥
राबसो बिड़द म्हारे रूड़ो लागो पीड़त म्हारो प्राण।
सगां सनेहां म्हारे एा कोई बैर्‍यो सकल जहान।
बाह गह्यां गजराज उबारयां, अधर करयां बरदान।
मारे वासी अरजां करता म्हारो सहारो ना आन ॥१६७॥

शब्दार्थ—बातां सुणज्यो=बातों से सुनिये। करुणा=दया। निधान=भंडार। राबसो=तुम्हारा। बिड़द=विरद यश। रूड़ो=उत्तम। बैर्‍यो=दुश्मन। अधर=अमृत पूर्ण। आण=अन्य दूसरा।

अर्थ—हे दया के भण्डार श्रीकृष्ण! मेरी विनती को अपने कानों से

---

* 'घृणा लज्जा भय शंका जुगुप्सा चेति पंचमी।
कुल शील तथा जातिरष्टौ पाशा प्रकीर्तिता॥'

सुनिये। तुम्हारा यश मुझे बहुत ही उत्तम लगता है। इसीलिये तुम्हारे बिना मेरा प्राण दुःखी रहता है। इस संसार में मेरा कोई भी सगा तथा स्नेही नहीं है, बल्कि सारा संसार ही मेरा दुश्मन बन गया है। तुमने गज की ग्राह से रक्षा करके अपने बरदान को पूर्ण बनाया था अतः अब मेरी रक्षा करने में क्यों मौन धारण किये हुए बैठे हो ? मीराँ कहती है कि मैं तुम्हारी दासी हूँ और तुमसे प्रार्थना करती हूँ कि तुम्हारे बिना इस संसार में मेरा और कोई सहारा नहीं है।

पाठान्तर— मेरी कानों सुणज्यो जी करुणा निधान।
रावरो बिरद मोय रूड़ो रे सो लागै परम पराण प्रान।
सगो सनेही मेरा और न कोई बैरी सकल जहान।
मह म्हारो गजराज उबार्‌या, दूजन दीनों न आन।
मीराँ दासी अरज करत है नहीं जी महारा मान।

++

म्हाँ सुण्याँ हरि अधम उधारण।
अधम उधारण भव भय तारण ॥टेक॥
गज डूबताँ अरज सुण धायाँ भक्ताँ कष्ट निवारण।
द्रुपद सुताणी चीर बढायाँ दूसासण मद मारण।
प्रह्लाद परतग्या राख्याँ, हरणाकुश णो उद्र बिदारण।
री रिख पतणी किरपा पायाँ, बिप्र सुदामा बिपद बिदारण।
मीराँ रे प्रभु अरजी म्हारी अब अबेर कुण कारण ॥१६८॥

शब्दार्थ—म्हाँ सुण्याँ=मैंने सुना है। अधम उधारण=पापियों का उद्धार करने वाले हैं। भव भय तारण=संसार के दुःखों से पार करना। मद मारण=गर्व का नाश करना। उद्र=उदर, पेट। बिदारण=फाड़ना। रिख पतणी=ऋषि-पत्नि अहिल्याबाई। अबेर=देर। कुण=किसलिए।

अर्थ—हे हरि! मैंने सुना है कि तुम पापियों का उद्धार करने वाले हो और संसार के दुःखों से पार करने वाले हो। विनती सुनते ही तुम दौड़कर आये और डूबते हुए हाथी की रक्षा की। तुम भक्तों के कष्टों को दूर करने वाले हो। तुमने द्रौपदी का चीर बढ़ाकर दुश्शासन के मद का नाश किया।

तुमने हिरण्यकशिपु का पेट फाड़कर भक्त प्रह्लाद की प्रतिष्ठा रख ली। तुम्हारी कृपा से ही ऋषि-पत्नी अहिल्याबाई का उद्धार हुआ तुमने विप्र सुदामा की मुसीबतों का नाश किया। मीराँ कहती है कि हे प्रभु ! मेरी विनती भी सुनिये। न जाने किस कारण से तुम मेरा उद्धार करने में देर कर रहे हो।

विशेष—इस पद में अनेक प्रसंगकथाएँ हैं जिनका पीछे यथावसर उल्लेख किया जा चुका है।

++

स्याम म्हारी बाँहड़िया जी गह्याँ ॥टेक॥
भौसागर मझधाराँ बूड्याँ थाँरी सरण लह्याँ।
म्हारे अवगुण पार अपारा थें बिण कूण सह्याँ।
मीराँ रे प्रभु हरि अविनासी लाज बिरद री बह्याँ ॥१६६॥

शब्दार्थ—बाँहड़िया=बाँह, हाथ। भौसागर=संसार-सागर। थें बिण= तुम्हारे बिना। बह्याँ=रखनी।

अर्थ—हे श्याम ! तुमने मेरी बाँह पकड़ी है। मैं संसार-सागर में डूबी जा रही हूँ इससे पार उतरने के लिए मैंने तुम्हारी शरण ही ली है। मेरे अवगुण इतने अधिक हैं कि उनका कोई पार नहीं और उन्हें तुम्हारे बिना कौन सहन कर सकता है? मीराँ कहती है कि मेरे अविनाशी हरि और प्रभु ! तुम अपने यश (नाम) की लाज रखो अर्थात् तुम्हारा यश भक्त अथवा अधमों के उद्धारक के रूप में व्याप्त है। यदि तुमने मेरा उद्धार नहीं किया तो आपका उद्धारक का यश समाप्त हो जायेगा।

विशेष—उपालंभ परम्परागत है।

म्हारे डेरां आवो म्हाराजो जी स्याम गोविन्द ॥टेक॥
दास कबीर घर बालद जो लाया, नामदेव की छान छवन्द।
दास धना को खेत निपजायो, गज की टेर सुनन्द।
भीलणी का बेर सुदामा का तन्दुल भर मुट्ठी बुकन्द।
करमाबाई को खीच आरोग्यो होई परसण पावन्द।
सहस गोप बिच स्याम बिराजे ज्यों तारा बिच चन्द।
सब संतों का काज सुधारा, मीराँ सूँ दूर रहन्द ॥१७०॥

शब्दार्थ—बलद=बैल। कबीर=निर्गुणी सन्त कबीर। नामदेव=एक भक्त का नाम। छान छवार=छप्पर छा दिया। दास धना=धन्ना भक्त। निपजायो=बो दिया। सुणंद=सुन ली। भीलणी=शबरी नामक भीलनी। तन्दुल=चावल। बुकस्य=चबाया। कींच=खींचड़ी। मारोम्यो=ग्रहण की। परसन=प्रसन्न। पायँव=पाया जाता। रहंद=रहता है।

अर्थ—हे श्याम गोविन्द! तुम सदैव हमारे साथ रहो अर्थात् मुझसे कभी भी मत बिछुड़ो। तुम कबीर के घर में बैल लाये, तुमने नामदेव का छप्पर बाँधा, धन्ना भक्त का खेत बोया और हाथी की प्रार्थना सुनी। शबरी के बेर चखे, सुदामा के चावल मुट्ठी भर भर कर खाये, करमाबाई की खिचड़ी ग्रहण की और प्रसन्न होकर खाई। हे श्याम! तुम सैकड़ों गोपों के बीच इसी प्रकार सुशोभित होते हो जिस प्रकार तारों के बीच चन्द्रमा। मीराँ कहती है कि तुमने सब भक्तों के कार्यों को सुधारा है फिर मुझ से ही क्यों दूर रह रहे हो, अर्थात् अन्य भक्तों की भाँति मुझ पर भी कृपा कीजिए और मेरा उद्धार कीजिए।

विशेष—इस पद में कई प्रसंगकथाएँ हैं जो इस प्रकार हैं—

दास कबीर घर बालद को लाया—कबीर दास निर्गुण काव्यधारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। वे जाति के जुलाहे थे और कपड़ा बेचकर अपना तथा अपने परिवार का निर्वाह करते थे। एक दिन वे कपड़े का थान लेकर बाजार गये। वहाँ पर एक साधु आया और उनसे कहा—"मैं वस्त्रहीन हूँ। मुझे कपड़ा चाहिए।" जब कबीर कपड़ा देने लगे तो उसने पूरा थान लेने का आग्रह किया। तदनुसार कबीर ने सारा थान उस साधु को दे दिया और स्वयं राह में एक पेड़ पर चढ़कर छुप गये क्योंकि खाली हाथ घर जाने का उनका साहस नहीं हुआ। कबीर के परिवार की दुर्दशा देखकर स्वयं भगवान व्यापारी का वेश धारण करके खाने-पीने का सारा सामान एक बैल पर लाद कर दे गये।

नामदेव की छान छवाई—नामदेव दक्षिणी भारत के एक प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। कहते हैं कि इनके घर में एक बार आग लग गई और घर का सारा सामान जलकर स्वाहा हो गया। नामदेव पंचतत्त्वादि सबको भगवान् का ही

रूप मानते थे इसलिए जो वस्तुएँ जलने से रह गईं उन्हें इकट्ठी करके इन्होंने आग में यह कहते हुए डाल दिया—हे आग ! इन्हें भी स्वीकार कीजिए। भगवान् इनकी इस भावना से बहुत प्रसन्न हुए और रातों-रात अपने ही हाथों से इनका छप्पर बाँध दिया।

धाना भगत को खेत निपजायो—धन्ना भगत कर्म से कृषक थे। एक बार इन्होंने बोने के लिए लाये हुए गेहूँओं को साधुओं को खिला दिया और घर वालों के भय से खेत में खाली हल चला दिया ताकि उन्हें मालूम हो जाये कि खेत बो दिया गया है। किन्तु बिना बीज के ही उस खेत में इतनी अच्छी पैदावार हुई कि सब लोग आश्चर्य चकित रह गये।

मत्र की ढेर सुमेर—यह कथा पूर्व पृष्ठों में देखिये।

भीलनी का बेर—जब राम वनवास को चले तो मार्ग में उन्हें एक भीलनी मिली जिसका नाम शबरी था। उसने राम के लिए बेर इकट्ठे किये किन्तु इस भय से कि कहीं आराध्यदेव को खट्टे बेर न मिल जायें उसने स्वयं चख चख कर इकट्ठे किये। राम भीलनी की इस अपार भक्ति को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे सांसारिक दुःखों से मुक्त कर दिया।

सुदामा का तन्दुल—सुदामा एक बहुत निर्धन ब्राह्मण और कृष्ण के सहपाठी थे। जब वे अपनी निर्धनता से दुःखी होकर अपने मित्र के पास गये और भेंट-स्वरूप चावल ले गये तो कृष्ण ने उन चावलों की दो मुट्ठियाँ खाकर सुदामा को दो लोक की सम्पत्ति अर्पित कर दी।

करमाबाई का खीच आरोग्यो—करमाबाई आचार-व्यवहार की परवाह किये बिना ही प्रतिदिन खिचड़ी का भोग लगाया करती थी। एक दिन एक साधु ने उससे कहा कि वह आचार व्यवहार के अनुसार खिचड़ी का भोग लगाया करे। अतः उस दिन करमाबाई को खिचड़ी बनाते हुए देर हो गई। इधर जब पंडों ने भगवान् के मन्दिर का द्वार खोला तो देखा कि उनके मुँह पर खिचड़ी लगी हुई है। वे आश्चर्य चकित रह गये। तभी आकाशवाणी हुई—मैं नित्य करमाबाई की खिचड़ी खाकर सवेरे मुँह धो लेता था किन्तु आज किसी भक्त के आदेशानुसार तैयारी में विलम्ब हो जाने के कारण मेरा मुँह शीघ्रता में जूठा रह गया।

× ×

पिया थारे नाम लुभाणी जी ।।टेक।।
नाम लेतां तिरतां सुण्यां, जैस पाहण पाणी जी ।
कीरत कांई ना किया घणा करम कुमाणी जी ।
गणका कीर पढ़ावतां बैकुण्ठ बसाणी जी ।
अरध नाम कुञ्जर लयां दुख अवध घटाणी जी ।
गरुण छांड पग धाइयां पसुजूण मटाणी जी ।
अजामिल अघ ऊधरे जम त्रास नसाणी जी ।
पुतनाम जस गाइयां जग सारां जाणी जी ।
सरणागत थें वर दिया परतीत पिछाणी जी ।
मीरां दासी रावली, अपणी कर जाणी जी ।।१७१।।

शब्दार्थ—तिरतां=पार उतरता । पाहण=पाषाण पत्थर । कीरत=शुभ काय । कुमाणी=घृणित कार्य । कीर=तोता । कुंजर=हाथी । अवध=अवधि । पसुजूण=पशु-योनि । घटाणी=समाप्त हो गई । अघ=पाप । त्रास=दुःख । पुतनाम=पुत्र का नाम । परतीत=प्रतीत विश्वास ।

अर्थ—हे प्रियतम ! मैं तो तुम्हारे नाम पर मोहित हो गई हूँ। मैंने सुना है कि जो तुम्हारा नाम लेता है वह चाहे पत्थर रूप प्राणी क्यों न हो इस संसार-रूपी जल (सागर) से पार हो जाता है। गणिका जीवन्ती ने कोई शुभ कर्म नहीं किया था बल्कि इसके विपरीत उसने बहुत अधिक बुरे काम किये थे किन्तु वह तोते को ही 'राम राम' पढ़ाने के कारण बैकुण्ठवासी हुई । जल में डूबते हुए हाथी ने तुम्हारा केवल आधा नाम ही लिया था। इसी के कारण तुमने उसकी दुःख की अवधि को घटा दिया उसका दुःख दूर करने के लिए तुम गरुड़ को छोड़कर पैदल ही दौड़ पड़े और उसे पशु-योनि से मुक्त करके स्वर्गलोक दिया । तुमने अजामिल जैसे पापियों का उद्धार किया उसे यम के दुःख से छुड़ाया केवल इसलिए कि उसने अपने पुत्र नारायण का मृत्यु-शैया पर नाम लिया था। सारा संसार इस बात को अच्छी तरह जानता है। तुमने सदैव शरणागत को वरदान दिया और उसके विश्वास को पहचाना। मीरां कहती है कि मैं भी तो आपकी दासी हूँ मुझे भी तो अपनी जानकर ग्रहण कीजिए ।

विशेष—इस पद में अनेक अन्तर्कथायें हैं जिनका उल्लेख पीछे किया जा
[illegible]ा है।

× ×

मुझ अबला ने मोटी नीरांत थई रे।
श्यामलो घरेणू मारे साँचू रे ॥टेक॥
वाली घडावूं विट्ठल वर केरी हार हरि नो मारे हैये रे।
चित माला चतुरभुज चूड़लो शिद सोनी घरे जइये रे।
झाँझरिया जगजीवन केरा कृष्णजी कड़ला ने कांबी रे।
बींछिया घूघरा रामनारायण ना अणवट अन्तरजामी रे।
पेटी घडावूं पुरुषोत्तम केरी त्रीकम नाम नूं तालूं रे।
कूँची कराडूं करुणानन्द केरी तेमाँ घरेणू मारुं घालूं रे।
सासर वासो सजी ने बैठा हवे नथी कई काचूं रे।
मीराँ कहे प्रभु गिरधरनागर, हरिने चरण जाचूं रे ॥१७२॥

शब्दार्थ—मोटी=पूरा। नीरांत=भरोसा। थई=हुआ। श्यामलो=श्यामसुन्दर। घरेणू=घर पर। साँचू=पधारा आया। वाली घडावूं=कान की बालियाँ बनवाऊँ। विट्ठल वर=कृष्ण रूपी पति। हैये=है ही। शिद=किस लिए क्यों। सोनी=सुनार। जइये=जाकर। झाँझरिया=एक प्रकार का पैर का आभूषण। कड़ला ने कांबी=कड़ा और पैर का आभूषण। बींछिया=पैर का आभूषण। अणवट=पैर के अँगूठे का छल्ला। [illegible]=अन्तरवीर। त्रीकम=त्रिविक्रम। नामनूं=नाम का। तालूं=ताला। कूँची=चाबी। सासर=ससुराल। हवे=अब। नथी=नहीं है। काचूं=कोई [illegible]ई=कमी।

अर्थ—मुझ अबला को अब अपनी प्रीति पर पूर्ण विश्वास हो गया है क्योंकि स्वयं श्यामसुन्दर हमारे घर आया है। श्रीकृष्ण रूपी पति के कारण अब मैं कान की बालियाँ बनवाऊँ क्योंकि कृष्ण रूपी हार तो अब मेरे पास है ही। चित्तमाला चतुर्भुज चूड़ा आदि सभी कुछ मेरे लिए कृष्ण है? अतः अब मुझे किसलिए सुनार के घर जाना चाहिए! अर्थात् वहाँ जाने की अब कोई आवश्यकता नहीं है। झाँझरिया तो संसार के लिए होती है, मेरे कृष्ण और

पैर के आभूषण तो कृष्ण ही हैं। अन्तर्यामी रामनारायण ही मेरे लिए बिछुवे व चक हैं अतः मुझे पैर के अंगूठे का छल्ला बनवाने की क्या आवश्यकता है। पुरुषोत्तम का मैं कमरबन्द बनवाऊँ और त्रिविक्रम नाम का ताला लू। करुणानन्द की उसमें तासी लगाऊँ और उसको घर में सावधानी के साथ रक्खू। मैं ससुराल जाने के लिए शृंगार करके बैठी हुई हूँ अब मेरे पास कोई कमी नहीं है। मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरिधर नागर! मैं तो अब हरि-चरणों की ही पूजा करूँगी।

विशेष—रूपक अलंकार।

पाठान्तर—मुझ अबला न मोटी नीरांत थइ
मामळो घरे म्हाँरे साँचूँ रे॥
लासी घड़ाऊँ वीन्लवर केरी हार हरिया म्हारे हिय रे।
तीन माळ चतुर भुज चुड़लो सिद्ध सामी घरे जाइये रे॥
झाँझरिया जगजीवन केरा, किसान गला री कठी रे।
बिछुवा घुँघरा रामनारायण अनवट अन्तरजामी रे॥
पेटी घड़ाऊँ पुरुषोत्तम केरी न टीकम नाम मू तालो रे।
कुन्ञी कराऊँ करुणानन्द केरी, ते मीं गैवा मू मारू रे।
सासर वासो सजी न बैठी अब नथी घोंपू रे।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, हरि नु चरणे चाँपू रे॥

+×

नंदनंदन मन भायाँ छाम छायाँ।।टेक।।
इत घन गरज्याँ उत घन गरज्याँ, चमक्याँ बिज्जु डरायाँ।
उमड़ घुमड़ घण छाय्याँ पवण चल्याँ पुरवायाँ।
दादुर मोर पपीहा बोलाँ, कोयल सबद सुणायाँ।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, चरण कँवल चितलायाँ।।१०३।।

शब्दार्थ—नंदनंन्दन=श्रीकृष्ण। मण=मन। छाम=नभ आकाश। बिज्जु=विद्युत् बिजली। पवण=पवन,हवा। दादुर=मेंढक।

अर्थ—मेरे मन में श्रीकृष्ण बस गया है। आकाश में बादल छाया हुआ है। एक ओर बादल गरज रहा है और दूसरी ओर गरज रहा है। बिजली चमक कर डरा रही है। बादल घुमड़ घुमड़ कर छा गया है और पुरवा

हवा चलने लगी है। मेंढक मोर और पपीहा बोलने लगे हैं। कोयल मीठे-मीठे शब्द सुनाने लगी है। मीरां कहती है कि मेरे प्रभु तो गिरधर नागर हैं और उन्हीं के चरण-कमलों में मेरा मन लगा हुआ है।

विशेष—प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन किया गया है जो परम्परागत है।

पाठान्तर —

१ नन्दनन्दन बिलमाई, बदरा ने घेरी माई ॥
इत घन गरजे उत घन गरजे चमकत बिज्जु सवाई।
उमड़ घुमड़ चहुँ दिसी से आया, पवन चलै पुरवाई।
दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल सबद सुनाई।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, चरण कमल चित लाई ॥

२ पिय नन्दन बिलमाई, बादरा ने घेरी माई।
इत घन गरजे चमकत बिज्जु सवाई।
उमड़-घुमड़ चहुँ दिस से आया, पवन चले पुरवाई ॥
बिरहनि तेरी मारण करत है, बाधी बेल मिचाई।
मीराँ के प्रभु दरसण दीजै प्राण रखौ सरणाई ॥

× ×

सुण्यारी म्हारे हरि आवाँगा आज ॥टेक॥
म्हैलां चढ़ चढ़ जोवाँ सजनी कब आवाँ महाराज।
दादुर मोर पपीहा बोल्याँ, कोयल मधुराँ साज।
उमग्याँ इन्द्र चहुँ दिस बरसाँ दामण छोड्याँ लाज।
धरती रूप नवाँ नवाँ धरयाँ इन्द्र मिलण रे काज।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, बेग मिल्यो महाराज ॥१०४॥

शब्दार्थ—आवाँगा=आयेगा। म्हैलां=महल। जोवाँ=देखूँगी। मधुराँ साज=मीठे शब्द। इन्द्र=बादल। मिलण रे काज=मिलने के लिए। बेग मिल्यो=जल्दी दर्शन दो।

अर्थ—हे सखि ! मैंने सुना है कि हरि आज हमारे घर आयेंगे। वे कब आयेंगे इसकी प्रतीक्षा करती-करती मैं अपने महल पर चढ़कर उनकी

दैखती रहैंगी। मेढक मोर और पपीहा बोलने लगे हैं, कोयल मधुर शब्द सुनाने लगी है। उमड़-घुमड़ कर बादल चारों दिशाओं में बरस रहे हैं। दामन ने साथ छोड़ दी है वह भीगकर पारदर्शक बन गया है। चारों ओर हरियाली फैली गई है ऐसा प्रतीत होता है मानो इन्द्र से मिलने के लिए धरती ने नया रूप धारण किया हो। मीराँ कहती है कि हे मेरे गिरिधर नागर प्रभु ! मुझे शीघ्रातिशीघ्र दर्शन दीजिए।

विशेष—१ प्रकृति का उद्दीपन रूप में परम्परागत वर्णन है।

२ उत्प्रेक्षा अलंकार।

पाठान्तर—कहीं-कहीं प्रथम पंक्ति इस प्रकार भी मिलती है।—

मनी हो मैं हरि आवन की आवाज।

और 'दामण' की जगह 'दामिणी' शब्द भी मिलता है।

× ×

जोतीड़ा ने लाख बधाया आस्याँ म्हारो स्याम ॥टेक॥
म्हारे आनंद उमंग भरयारी जीव लह्याँ सुखधाम।
पाँच सख्याँ मिल पीव रिझावाँ, आनँद ठामू ठाम।
बिसरि जावाँ दुख निरखाँ पियारी सुफल मनोरथ काम।
मीराँ रे सुख सागर स्वामी भवण पधारया स्याम ॥१७२॥

शब्दार्थ—जोतीड़ा=ज्योतिषी। णे=को। बधाया=धन्यवाद। आस्याँ=आया है। सुख-धाम=सुख का स्थान। पाँच सख्याँ=पाँच इन्द्रियाँ। ठामू ठाम=स्थान-स्थान पर। बिसरि जावाँ=दूर हो जायेगा। निरखाँ=देख कर। सुफल=पूर्ण। काम=इच्छा। भवण=भवन।

अर्थ—ज्योतिषी को लाख-लाख धन्यवाद है। मेरा प्रियतम स्याम आ गया है। इससे मेरे हृदय में आनन्द और उमंग भर गई है और प्राण सुख के स्थान पर पहुँच गया है अर्थात् मन को बहुत अधिक आनन्द का अनुभव हो रहा है। अपनी पाँचों इन्द्रियों के साथ मिलकर मैं अपने प्रियतम को रिझा रही और स्थान-स्थान पर आनन्द वृष्टि हो गई है। हे प्यारी सखी है प्रियतम का देखकर सारा दुख दूर हो गया है और सारे मनोरथ तथा इच्छाएँ पूर्ण हो गई है। मीराँ कहती है कि मेरे भवन पर सुख सागर स्वामी स्याम का पदार्पण हुआ है।

विशेष—प्रियतम से मिलने की उत्कंठा का सजीव चित्रण है ॥

पाठान्तर—जोसीड़ा न लाख बधाई अब घर आये स्याम ॥
आज आनंद उमंगि भयो है, जीव लहै सुखधाम ।
पाँच सखि मिलि, पीव परसि कै, आनंद ठाम ठाम ॥
बिसर गई दुख निरखि पिया कूँ, सुफल मनोरथ काम ।
मीराँ के सुख सागर स्वामी, भवन गवन कियो राम ॥

× ×

रे साँवलिया म्हारे आज रंगीली गणगौर छै जी ॥टेक॥
काली पीली बदलां में बिजली चमके, मेघ घटा घणघोर छै जी ।
दादुर मोर पपीहा बोलै, कोयल कर रही सोर छै जी ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, चरणां में म्हारो जोर छै जी ॥१७६॥

शब्दार्थ—रंगीली=रंगभरी । गणगौर=चैत्र शुक्ला तृतीया को होने वाला गौरी व्रत का त्यौहार । छै=है । जोर=दृढ़ विश्वास ।

अर्थ—हे साँवले कृष्ण ! तुम्हारे आने से हमारा गौरी-व्रत का त्यौहार रंग से भर गया है, प्रसन्नता और हर्ष से परिपूर्ण हो गया है । काली-पीली बदली उमड़ आ गई है जिसमें बिजली चमक रही है । मेघों का समूह गरज-गरज कर एकत्र हो गया है । मेंढक मोर और पपीहा बोलने लगे हैं तथा कोयल शोर मचाने लगी है । मीरां कहती है कि हे मेरे गिरधर नागर प्रभु ! तुम्हारे चरणों में मेरा दृढ़ विश्वास है ।

विशेष—इस पद में कहीं-कहीं यह पंक्ति भी मिलती है—

'आप रंगीला सेज रंगीली और रंगीलो सारो साथ छै जी ॥

× ×

बरसां री बादरिया सावन री, सावन री मन भावन री ॥टेक॥
सावन में उमंग्यो म्हारो मनड़ो, भणक सुण्या हरि आवन री ।
उमड़ घुमड़ घन मेघां आयां, दामण घण झर लावण री ।
नान्हीं बूंदां मेहां आवां बरसां सीतल पवण सुहावण री ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, बेला मंगल गावण री ॥१७७॥

शब्दार्थ—मण भावन=मनोहर। भनक=आवाज। घन=घन आकाश। धुर्रां=बादल। दामण=दामिनी बिजली। वेला=समय।

अर्थ—हे सखी! मनोहर सावन की बदली बरस रही है। इस मनोहर सावन में हमारा मन उमंग से भर गया है क्योंकि कृष्ण के आने की आवाज मैंने सुन ली है। घुमड़-घुमड़ कर आकाश में बादल छा गये हैं बिजली की चमक ने और भी पानी बरसा दिया है। मेंह की नन्हीं-नन्हीं बूँदें पड़ रही हैं। और शीतल तथा सुहावनी हवा चल रही है। मीरां कहती है कि हे मेरे गिरधर नागर प्रभु! यह समय तो मंगल गीत गाने का है अर्थात् तुम आ जाओ ताकि मैं आह्लाद में भर कर मंगल गीत गा सकूँ।

विशेष—प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन है।

++

सावण दे रह्या जोरा रे घर आयो जी स्याम मोरा, रे ॥टेक॥
उमड़ घुमड़ चहुँदिस से आया गरजत है घन घोरा रे।
दादुर मोर पपीहा बोले कोयल कर रही शोरा रे।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, ज्यों वारूँ सोही थोरा रे ॥१७८॥

शब्दार्थ—दे रह्या जोरा रे=भावनाओं को उद्दीप्त कर रहा है। वारूँ=समर्पित करूँ।

अर्थ—हे स्याम! सावन का महीना मेरी भावनाओं को उद्दीप्त कर रहा है, इसलिए तुम परदेस से घर आ जाओ। आकाश में बादल घुमड़-घुमड़ कर चारों ओर से आ गया है और घनघोर गर्जना कर रहा है। मेंढक मोर और पपीहा बोलने लगा है तथा कोयल शोर करने लगी है। मीरां कहती है कि हे मेरे गिरधर नागर प्रभु! मैं तुम पर जो भी समर्पित करूँ वह थोड़ा ही है।

विशेष—प्रकृति का उद्दीपन रूप।

++

रंग भरी राग भरी रागसूँ भरी री।
होली खेल्या स्याम संग रंग सूँ भरी री ॥टेक॥
उड़त गुलाल लाल बादला रो रंग लाल पिचकाँ उड़ावाँ।
रंग-रंग री भरी री।

चोवा चन्दण अरगजा म्हा केसर णो गागर भरी री।
मीरां दासी गिरधरनागर, चेरी चरण धरी री ॥१७६॥

शब्दार्थ—राग=प्रेम। गागर=मटका। चेरी=चेली दासी। धरी=पड़ी हुई।

अर्थ—रंग से भरी हुई, प्रेम स परिपूर्ण होकर मैंने रंगों की पिचकारी लेकर कृष्ण के साथ होली खेली। लाल-लाल गुलाल उड़ रहा है जिससे बादल भी लाल हो गये हैं और पिचकारियों से रंग-बिरंगी पानी की धारायें निकल रही हैं। मेरा मटका चोवा चन्दन अगरजा और केसर से भरा हुआ है। मीरां कहती है कि हे गिरधर नागर! मैं तुम्हारी दासी हूँ और तुम्हारे ही चरणों पर पड़ी हुई हूँ।

विशेष—होली का सजीव वर्णन।

पाठान्तर—रंग भरी रग भरी, रग सूँ भरी री,
होली आई प्यारी रग सूँ भरी री।
कुम गुलाल लाल भये बादर पिचकारिन की लगी झरी री।
चोवा चन्दन और अगरजा केसर गागर भरी धरी री।
मीरां कहँ प्रभु गिरधरनागर चेरी होय पायन में परी री।

तुलना—कुंकुम अगर अगरजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर।
नभ भरी पुरी कोलाहल भई मन भावति भीर।—तुलसी

× ×

बादला रे थे जल भरया आज्यो ॥टेक॥
झर झर बूंदा बरसां आली कोयल सबद सुनाज्यो।
गाज्यां बाज्यां पवन मधुरयो अम्बर बदरां छाज्यो।
सेज सवांर्या पिय घर आस्यां सख्यां मंगल गास्यो।
मीरां रे हरि अविनासी आप भाग्यां मिल पास्यो ॥१८०॥

शब्दार्थ—आली=सखी। बूंदा=बूंदें। मधुरियो=मन्द-मन्द। सेज=सेज शैया। मंगल गास्यां=गावा री। भाग=भाग्य।

अर्थ—हे बादल! तुम जल लेकर आ गये हो। हे सखि! बूंदें झर-झरकर बरस रही हैं और कोयल कूकने लगी है। गरजता हुआ मन्द-मन्द पवन चल रहा

है, मार्गों में बादलों छा गये हैं। मैंने चौका सजा दी है। अतः हे प्रियतम तुम घर आ जाओ जिससे प्रसन्न होकर मैं सखियों के साथ मंगल गीत गाऊँ। मीराँ कहती है कि हे मेरे अविनाशी हरि स्वामी! जिनका सौभाग्य होता है उन्हें ही तुम्हारा दर्शन मिला करता है।

पाठान्तर—बदला रे तू जल भरि आयो।

छोटी-छोटी बूंदन बरसन लागी कोयल सबद सुनायो।
गाजै बाजै पवन मधुरिया, अंबर बदरा छायो।
सज सवारी पिय घर आये, हिल मिल मंगल गायो।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, भाग भलो जिन पायो।

++

साजन म्हारे घरि आया हो ॥टेक॥
जुगाँ जुगाँ री जोवती बिरहणि पिव पाया हो।
रतन करा नेवछावराँ ले आरत साजाँ हो।
प्रीतम दिया सनेसड़ा म्हारो घणो निवाजाँ, हो।
पिव आया म्हारे साँवरा अंग आणन्द साजाँ हो।
हरि सागर सूं नेहरो नैणाँ बंध्या सनेह, हो।
मीराँ रे सुख सागराँ म्हारे सीस बिराजाँ हो ॥१८१॥

शब्दार्थ—जुगाँ जुगाँ=युग-युगों से। जोवती=देखती। नेवछावराँ=न्यौछावर। सनेसड़ा=सन्देश णिवाजाँ=निवाज दयालु। नेहरो=स्नेह प्रेम। नणाँ बंध्या=नैन बंध गए।

अर्थ—हमारा प्रियतम हमारे घर आ गया है। युग-युगों से प्रतीक्षा करती हुई बिरहणी ने अपना प्रियतम पा लिया है। मैंने उन पर बहुमूल्य रत्नों को न्यौछावर कर दिया है और उनकी आरती उतारी। प्रियतम ने अपना सन्देश भिजवाया क्योंकि वह मुझ पर बहुत ही दयालु है। प्रियतम कृष्ण हमारे पास आ गया है जिससे हमारे अंग-अंग में आनन्द समाया हुआ है। हमारा हरि से स्नेह है जो प्रेम के सागर हैं और जिनके प्रेम में हमारे नयन बंध हुए हैं। मीराँ कहती है कि मेरे प्रियतम सुख के सागर हैं और मेरे सिर पर विराजमान रहते हैं।

म्हारे डेरे आज्यो जी महाराज।
चुणि चुणि कलियाँ सेज बिछायो नखसिख पहरयो साज।
जनम जनम की दासी तेरी तुम मेरे सिरताज।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, दरसण दीज्यो आज ॥१८२॥

शब्दार्थ—डेरे=घर। नखसिख=पूर्णतया नख से लेकर शिखा तक। साज=आभूषण। सिरताज=स्वामी।

अर्थ—हे महाराज ! हमारे घर पर आये। मैंने कलियों को चुन-चुनकर सेज बिछाई है और पूर्णतया आभूषण सजाये हैं। मैं जन्म-जन्मान्तरों से तुम्हारी दासी हूँ और तुम मेरे स्वामी हो। मीराँ कहती है कि अविनाशी हरि और मेरे प्रभु ! मुझे आज (तत्काल) ही दर्शन दीजिए।

× ×

थारो रूप प्यारो लागे राज, रायावर महाराज।
रतन जटित सिर पेच कलंगी केसरिया सब साज।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल, रसिकाँरी सिरताज।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर म्हारे मिल गया ब्रजराज ॥१८३॥

शब्दार्थ—थारो=तुम्हारी। रूप=छवि शोभा। जटित=जड़ा हुआ। मकराकृत=मकर की आकृति के। रसिकाँरी=रसिकों के। सिरताज=स्वामी।

अर्थ—हे रायावर ! तुम्हारी शोभा प्यारी लगती है। रत्नों से जड़ा हुआ तुम्हारे सिर पर मोर-पंखों का मुकुट है तुम्हारी वेष भूषा केसरिया रंग की है। तुम मोर-पंख का मुकुट धारण किये हो कानों में मकर की आकृति के कुण्डल हैं और तुम रसिकों के स्वामी हो। मीराँ कहती है कि मेरे गिरधर नागर प्रभु ! मेरा ब्रजराज कृष्ण मिल गया है।

× ×

सहेलियाँ साजन घर आया हो ॥टेक॥
बहोत दिनाँ की जोवती बिरहिण पिव पाया हो।
रतन करूँ नेवछावरी ले आरति साजूँ हो।
पिया का दिया सनेसड़ा, ताहि बहोत निवाजूँ हो।
पाँच सखी इकट्ठी भई मिलि मंगल गावे हो।

पिय की रती बदावरसी आनन्द अँगि न मावै हो।
हरि सागर सुं नेहरो नैणा बांध्यो सनेह हो।
मीराँ सखी के आंगणे, दूधां बूठा मेह हो ॥१८४॥

शब्दार्थ—जोवती=प्रतीक्षा करती। सनसड़ा=सन्देश। मिलाचू=एकत्रित होना। पांच सखी=पाँचों इन्द्रियाँ। कमी=मंगलमय। अँगि न मावै हो=अंग में नहीं समाती। नेहरो=स्नेह प्रेम। दूधां बूंठा मेह हो=दूध की वर्षा से भर गया उत्साह और आनन्द से परिपूर्ण हो गया।

अर्थ—हे सहेलियो! आज मेरा बिछुड़ा हुआ प्रियतम मेरे घर आ गया है। जो विरहिणी बहुत दिनों से अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही थी उसने अपना प्रियतम प्राप्त कर लिया है। आज मैं उस पर रत्नों को न्यौछावर करूँगी और थाल सजाकर उनकी आरती उतारूँगी। जिसने प्रियतम के आने का सन्देश दिया है मैं उसकी बहुत कृतज्ञ हूँ। आज मेरी पाँचों इन्द्रियाँ इकट्ठी होकर और मिलकर मंगल गान गा रही हैं अर्थात् आज मैं पूर्णरूप से उल्लसित हूँ वे प्रियतम को मंगलमय बधाइयाँ दे रही हैं और उनके अंगों में आनन्द नहीं समा रहा है। हरि प्रेम के सागर हैं और उन्होंने अपने प्रेम से मेरे नेत्रों को बाँध लिया है। मीराँ कहती है कि हे सखी! आज अपने घर का आँगन दूध की वर्षा से भर गया है उत्साह और आनन्द से परिपूर्ण हो गया है।

× ×

राम सनेही सांवरियो म्हांरी नगरी में उतर्यो आई ॥टेक॥
प्राण जाय पणि प्रीत न छोडूं रहूँ चरण लपटाय।
सपत दीप की दे परकरमा हरि हरी मैं रह्यो समाय।
तीन लोक ओली में डारें, चरती ही किमो निपाय।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी रहूँ चरण लपटाय ॥१८५॥

शब्दार्थ—पणि=परन्तु तथापि। सपत=सप्त। परकरमा=परिक्रमा। निपाय=नाम दिया।

अर्थ—वह श्यामवर्ण तथा प्रेमी राम (कृष्ण) हमारी नगरी में आकर उतर गया है अर्थात् नगरी में प्रवेश किया है। चाहे मेरे प्राण भले जायें

परन्तु मैं कृष्ण के प्रति अपने प्रेम को नहीं छोड़ सकती और स्वयं को उसके चरणों से लिपटाए रहूँगी। सात तीर्थों की परिक्रमा देकर हरि-हरि में ही समा रहा है—एकाकार हो रहा है। वह हरि तीनों लोकों को अपनी झोली में डाले हुए है। उसने तीन पग में समस्त पृथ्वी को नाप लिया था। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी अविनाशी हरि हैं और मैं उनके चरणों में लिपटी हुई हूँ—उनकी शरण में हूँ।

विशेष—१ इस पद में सन्त-मत और वैष्णव-मत का सम्मिलित प्रभाव है।

२ 'धरती ही किमो निमाम' में कृष्ण के वामनावतार की ओर संकेत है जिसकी कथा पीछे दी जा चुकी है।

++

मेहा बरसबा करे रे, आज तो रमियो मेरे घर रे ॥टेक॥
नान्हीं नान्हीं बूंद मेघ घन बरसे सूखे सरवर भर रे।
बहुत दिना पे प्रीतम पायो, बिछुरन को मोहि डर रे।
मीराँ कहे अति नेह जुड़ायो, मैं लियो पुरबलो वर रे ॥१८६॥

शब्दार्थ—रमियो=रमैया, प्रियतम। सरवर=तालाब। पुरबल=पूर्व जन्म का। वर=पति।

अर्थ—चाहे आज कितना ही मेंह बरसे मुझे इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं है क्योंकि मेरा प्रियतम मेरे पास घर में है। हे मेघ! चाहे तू नन्हीं नन्हीं बूंदों से बरस कर सूखे तालाबों को भर दे अर्थात् निरन्तर बरसता रह मुझे कष्ट नहीं होगा (क्योंकि वर्षा तो विरह में ही दुःख को उद्दीप्त करती है) मेरा प्रियतम बहुत दिनों के पश्चात् मुझे मिला है अतः मुझे डर लग रहा है कि कहीं अब वह फिर से बिछुड़ न जाय। मीराँ कहती है कि मैंने अपने प्रियतम से बहुत अधिक प्रेम बढ़ा लिया है, क्योंकि वह मेरा पूर्वजन्म का पति है।

××

थाराँ वाही देस प्रीतम थाराँ थाराँ वाही देस ॥टेक॥
कहो कसूमल साड़ी रँगावाँ कहो तो भगवाँ भेस।
कहो तो मोतियन माँग भरावाँ, छाँरे छिटकावाँ केस ॥
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, सुणज्यो बिड़द नरेस ॥१८७॥

शब्दार्थ—बसां=बस । बाही=उसी । पावां=पावे । कसूमल=कुसुम के रंग की लाल । मगावां=मांग में । छिटकावां=बिखरा दें । बिड़द=विरद यश । नरेश=नरेश प्रियतम ।

अर्थ—हे मन ! प्रियतम के उसी देश को बस जहाँ तू उसको पावे । हे प्रियतम ! अगर चाहो तो मैं कुसुम के रंग की लाल साड़ी पहन लूँ चाहो तो भगवाँ वेश धारण कर लूँ । चाहो तो अपनी माँगों में मोतियों को सजा लूँ और चाहो तो अपने बालों को बिखेर लूँ । मीराँ कहती है कि हे गिरधर नागर प्रभु ! तुम मेरे ही और हे प्रियतम ! मेरा यश सुन लीजिए ।

विशेष—'जिन थन मेला म्हारो साहिब रीझै सोई सोई भेष धारणां' के लिए उतावली मीराँ स्वयं ही यह निश्चय नहीं कर पा रही है कि उनके आराध्यदेव को कौन-सा वेष सुहा सकेगा । इस पद में वैष्णव और नाथ-पंथ का सम्मिलित प्रभाव दृष्टिगोचर होता है ।

× ×

म्हाणे चाकर राखाँ जी गिरधारी लाला चाकर राखाँजी ॥टेक॥
चाकर रहस्यूं बाग लगास्यूं नित उठ दरसण पास्यूं ।
बिन्द्राबन री कुंज गलिन माँ, गोविन्द लीला गास्यूं ।
चाकरी में दरसण पास्यूं सुमिरण पास्यूं खरची ।
भाव भगत जागीरी पास्यूं तीनूं बाताँ री सरसी ।
मोर मुकुट पीताम्बर सोहाँ गल बैजन्ती माली ।
बिन्द्राबन माँ धेनु चरावाँ, मोहन मुरली वाली ।
हरे हरे णवा कुंज लगास्यूं बीचा बीचा बारी ।
साँवरिया रो दरसण पास्यूं पहर कुसुम्बी सारी ।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, हिवड़ो घणो अधीरा ।
आधी रात प्रभु दरसण दीस्यो जमना जी रे तीरा ॥१८८॥

शब्दार्थ—म्हाणे=मुझे । चाकर—दासी सेविका । बाग=वाटिका । खरची=खर्च । जागीरी=जागीर के रूप में । णवा=नवीन । बारी=बाड़ । हिवड़ो=हृदय । अधीरा=अधीर आतुर । दीस्यो=देना । तीरा=तट ।

अर्थ—हे गिरधारी ! मुझे अपनी दासी बनाकर रख लीजिए । मैं तुम्हारी

सी बनकर तुम्हारे लिए वाटिका लगाऊंगी और प्रतिदिन उठकर तुम्हारे र्शन करूंगी। वृन्दावन की कुञ्ज-गलियों में गोविन्द की लीला का गान करूंगी। दासी के रूप में मैं तुम्हारे दर्शन किया करूंगी और खर्चा के रूप में तुम्हारा स्मरण किया करूंगी। मेरी जागीर भक्ति के भाव होंगे जिसके लिए मैं जन्म जन्म से तरस रही हूँ। तुम्हारे सिर पर मोर-पंखों का मुकुट और शरीर में पीला वस्त्र शोभायमान है, तुम्हारे गले में वैजन्ती माला पड़ी हुई है। मुरलीधर मोहन वृन्दावन में गायों को चराते हैं। वहीं मैं हरे हरे और नये-नये कुञ्ज लगाऊँगी तथा बीच-बीच में बाग लगाऊँगी। कसुम के रंग की लाल साड़ी पहन कर मैं साँवरे कृष्ण के दर्शन करूंगी। मीरा कहती है कि हे मेरे गिरिधर नागर स्वामी! तुम्हारे दर्शन पाने के लिए मेरा हृदय बहुत ही अधीर हो रहा है। हे प्रभु! यमुना जी के तट पर आधी रात में मुझे अवश्य दर्शन दीजिए।

पाठान्तर—इस पद में 'बिन्द्राबन में धेनु चरावां मोहन मुरली वाला' इस पंक्ति के पश्चात् इस प्रकार की पंक्तियाँ भी मिलती हैं—

ऊंच ऊंच महल बनाऊ, बिच बिच राखूं बारी।
सांवरिया के दरसन पाऊ, पहिर कुसुम्भी सारी॥
जोगी आया जोग करन कू, तप करने संन्यासी।
हरी भजन को साधू आये, वृन्दावन के वासी।
मीरा के प्रभु गहिर गम्भीरा, हृदे रहो जी धीरा।
आधी रात प्रभु दरसन दीन्हों, प्रेम नदी के तीरा॥

× ×

री म्हारा पार निकर गयां, सांवर मारया तीर ॥टेक॥
बिरह अनल लागी उर अन्तरि, व्याकुल म्हारा सरीर।
चंचल चित चल्या णा चाला, बांध्यां प्रेम जंजीर।
क्यां जाण्यां म्हारो प्रीतम प्यारो, क्यां जाण्यां म्हा पीर।
म्हारो कांई णा बस सजनी, नैण झरत दोउ नीर।
मीरां रो प्रभु थें मिलियां बिनि, प्राण धरत णा धीर ॥१२८॥

शब्दार्थ—निकर गयां=निकल गया। अनल=आग। अन्तरि=हृदय में। कांई=कोई।

अर्थ—हे सजनी ! कृष्ण ने जो प्रेम का तीर चलाया, वह मेरे पार निकल गया अर्थात् मैं उनके प्रेम में दीवानी हो गई। मेरे हृदय में विरह की आग लग गई जिससे मेरा सारा शरीर व्याकुल हो गया। चंचल चित्त चलना चाहता था पर वह न चल सका अर्थात् कृष्ण को छोड़कर अन्यत्र न जा सक क्योंकि वह प्रेम की जंजीर में बंध गया था। वह मेरा प्रिय प्रियतम ! मेरी इस विरह-वेदना को क्या समझ सकेगा। हे सजनी ! इस अवस्था में मेरा को वश भी तो नहीं चलता सिर्फ दोनों आँखों से निरन्तर अश्रु-धारा बहती रहत है। मीरां कहती है कि अपने स्वामी से मिले बिना मेरा मन किसी भी प्रका धैर्य धारण नहीं कर सकता।

पाठान्तर—री मेरे पार निकस गया, सतगुरु मार्‌या तीर।
बिरह भाल लगि उर अन्तरि व्याकुल भया शरीर।
इत उत चित चालै कबहूँ नहिं डारी प्रेम जंजीर।
कै जाने मेरो प्रीतम प्यारो और न जाने पीर।
कहा करूँ मेरो बस नहिं सजनी, नैन झरत दोऊ नीर।
मीराँ कहै प्रभु तुम मिलियां बिन, प्राण धरत नहिं धीर॥

× ×

मेरे मन राम बसी ।टेक।
तेरे कारण स्याम सुन्दर सकल लोगां हाँसी।
कोई कहै मीरां भई बावरी, कोई कहै कुलनासी।
कोई कहै मीरां दीप आपरी नाम पिया सूं रासी।
खाँड धार भक्ति की न्यारी काटी है जम की फाँसी ॥१६०॥

शब्दार्थ—सकल लोगां=सब लोग। कुलनासी=कुल की प्रतिष्ठा का नाश करने वाली। खाँड=तलवार। जम की=मृत्यु की।

अर्थ—मेरे मन में राम का नाम बसा हुआ है। हे श्यामसुन्दर ! तेरे प्र के कारण सारे लोग मेरी हँसी करते हैं। कोई कहता है कि मीरां पागल हो गई है। कोई कहता है कि मीरां अपने कुल की प्रतिष्ठा का नाश करने वाली है। कोई कहती है कि मीरां भाग की पूत है। किन्तु ये सब बातें गलत हैं। मैं तो अपने प्रियतम के नाम-स्मरण में ही भाव-विभोर हूँ। मीरां कहती है कि

भक्ति की तलवार की धार ही मिलती है और इसी से मृत्यु का बन्धन कटते हैं, आवागमन के चक्कर से मुक्ति मिलती है।

+ +

हमारे मन राधा स्याम बसी ॥टेक॥
कोई कहै मीरां भई बावरी कोई कहै कुलनासी।
खोल के घूंघट प्यार के गाती हरि ढिग नाचत गासी।
वृन्दावन की कुंज गलिन में भाल तिलक उर लासी।
विष को प्याला राणा जी भेज्यो पीवत मीरां हांसी।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, भक्ति मार्ग में फांसी ॥१६१॥

शब्दार्थ—ढिग=पास। गासी=गाती है। उर=हृदय। लासी=लगाती है। हांसी=हँसकर, प्रसन्न होकर। फांसी=फँस गई।

अर्थ—हमारे मन में राधा और कृष्ण बसे हुए हैं। कोई कहता है कि मीरां पागल हो गई है। कोई कहता है कि वह कुल की प्रतिष्ठा का नाश करने वाली है। वह घूंघट खोलकर—लोक-लाज को तिलांजलि देकर—प्यार से कृष्ण के पास नाचती और गाती है। वह वृन्दावन की कुंज-गलियों में घूमती-फिरती है। हृदय और माथे पर तिलक लगाती है। उसे मारने के लिए राणाजी ने विष का प्याला भेजा था जिसे वह प्रसन्न हो कर पी गई। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरधर नागर हैं और मैं उन्हीं की भक्ति में फँस गई हूँ।

× ×

स्याम बिन दुख पावां सजणी।
कुण म्हां धीर बँधावां ॥टेक॥
यो संसार कुबधि रो भांडो साध संगत ना भावां।
साधां जणरी निंदा ठाणां करमरा कुगत कुमावां।
राम नाम बिनि मुकति न पावां फिर चौरासी जावां।
साध संगत मां भूल णा जावां मूरख जणम गमावां।
मीरां रे प्रभु थारी सरणां, जीव परमपद पावां ॥१६२॥

शब्दार्थ—कुण=कौन। म्हां=मुझको। कुबधि=कुबुद्धि अज्ञान। भांडो=बर्तन भंडार। जण री=जनों की। करमरा=कर्म से। कुगत=बुरी बातें।

[म]ोवो=कमाता रहता है। मुकुति=मुक्ति। चौरासी=चौरासी लाख योनि।

अर्थ—हे सजनी ! मैं कृष्ण के बिना दुःख पा रही हूँ। उनके बिना मेरे मन को धीर बँधाने वाला भी तो कोई नहीं है। यह संसार तो अज्ञान का भण्डार है इसमें कोई भी साधु-संगति को अच्छा नहीं समझता। यहाँ सब साधु जनों की निन्दा करते रहते हैं और कर्म में बुरी बात कमाते रहते हैं अर्थात् मर्यादा बुरे कर्म करते रहते हैं। मनुष्य राम के नाम के बिना मुक्ति नहीं पा सकता और फिर चौरासी लाख योनियों में भ्रमता रहता है। इस संसार का निवासी इतना मूर्ख है कि मुझकर भी साधु-संगति में नहीं जाता और अपने जन्म को यों ही व्यर्थ में गवां देता है। मीरा कहती है कि हे प्रभु ! मैं तुम्हारी शरण में हूँ क्योंकि तुम्हारी शरण में आने से ही जीव को परम पद मिलता है—वह जीवन मृत्यु के आवागमन से छूटकर मुक्त हो जाता है।

++

लेतां लेतां राम नाम रे लोकड़ियाँ तो लाजाँ मरे छ ॥टेक॥
हरि मंदिर जातां पाँवलिया रे दूखे फिर आवे सारो गाम, रे।
झगड़ो थाय त्याँ दौड़ी न जाय रे मूकी ने घर ना काम रे।
भांड भवैया गणिका नित करतां बेसी रहे चारे जाम रे।
मीरांना प्रभु गिरधरनागर चरण कमल चित हाम रे ॥११॥

शब्दार्थ—लोकड़ियाँ=संसार के लोग। पाँवलियाँ=पैर। फिर आवे=घूम आवे। थाय=हो। त्याँ=तहाँ वहाँ। दौड़ी ने=दौड़कर। मूकीने=छोड़कर। घरना=घर का। भांड=विदूषक मसखरे। भवैया=नर्तक नाच करने वाला। नित=नृत्य। बेसी रहे=बैठा रहे। जाम=याम प्रहर पहर। हाम=समर्पित।

अर्थ—इस संसार के जीव इतने मूर्ख हैं कि राम का नाम लेने में लज्जा का अनुभव करते हैं। हरि-मन्दिर में जाते हुए इनके पैर दुखते हैं और व्यर्थ में ही सारे ग्राम में घूमने में ये किसी प्रकार की थकान का अनुभव नहीं करते। जहाँ झगड़ा होता है वहाँ घर का काम छोड़कर दौड़े-दौड़े जाते हैं। जहाँ पर भांड और नर्तक तथा गणिका नृत्य करती है वहाँ ये चारों प्रहर बैठे रहते हैं। मीरां

कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधर नागर हैं और मैंने स्वयं को उनके चरण-कमलों में पूर्णतया समर्पित कर दिया है अतः मुझे संसार से और सांसारिक दुःखों से कोई सरोकार नहीं है।

विशेष—सांसारिक नातों की असारता का भावपूर्ण वर्णन है।

× ×

यहि बिधि भक्ति कैसे होय ॥टेक॥
मन की मैल हियतें न छूटी, दियो तिलक सिर धोय।
काम कूकर लोभ डोरी बाँधि मोहि चण्डाल।
क्रोध कसाई रहत घट में कैसे मिले गोपाल।
बिलार बिषया लालची रे, ताहि भोजन देत।
दीन होय छुधा रस सू राम नाम न लेत।
आपहि आप पुजाय के रे, फूले अंग न समात।
अभिमान टीला किये बहु कहु जल कहाँ ठहरात।
जो तेरे हिय अन्तर की जानें, तासों कपट न बनें।
हिरदे हरि को नाम न आवै मुख तें मनिया गनें।
हरि हितु से हेत कर संसार आसा त्याग।
दास मीरां लाल गिरधर सहज कर बैराग॥१९४॥

शब्दार्थ—यहि बिधि=इस प्रकार से। मैल=पाप। हियते=हृदय से मन से। काम=कामना। कूकर=कुत्ता। चण्डाल=क्रूर निष्ठुर। घट=हृदय। बिलार=बिलाव। छुधा=क्षुधा भूख। आपहि आप पुजाय के=अपनी पूजा स्वयं करा के भावना में लिप्त होकर। फूले अंग न समात=बहुत अधिक प्रसन्न होता है। बहु=बहुत। कहु=कहो। अन्तर की=अन्दर की। मनिया=माला के दाने। हरि-हितु=हरिभक्त। हेत=प्रेम। सहज=स्वाभाविक रूप से सहज शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। सन्तों में इस शब्द का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। सहजिया बौद्धों ने सहज शब्द का प्रयोग कई रूपों में किया है। साधारणतया वे इसे तथागत निर्वाण नाम के रूप में ग्रहण करते हैं। सहजिया वैष्णवों के अनुसार इसका अर्थ है प्रेम की चरम परिणति। नाथ पंथियों के अनुसार सहज का अर्थ है—परमतत्त्व परमज्ञान

परमपद और शिवशक्ति आदि के संयोग की सहज स्थिति। सिद्धों एवं सन्तों के अनुसार सहज शब्द का अर्थ है सहजाचरण और सदाचरण। मीरांबाई ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। बैरा=वैराग्यभावना विरक्ति।

अर्थ—इस प्रकार तुमसे किस प्रकार भक्ति हो सकती है, जब कि तू सांसारिक बन्धनों में बँधा हुआ है। मन का पाप हृदय से नहीं छूटा है और सिर को साफ करके उस पर तिलक लगा लिया है अर्थात् जब तक मन निर्मल नहीं होता तब तक तिलक लगाना व्यर्थ है। वासना के क्रूर कुत्ते ने तुझे लोभ की डोरी से बाँध लिया है—तेरे मन में वासना और लोभ की भावनायें पनप रही हैं। कसाई रूपी क्रोध हृदय में बसा हुआ है अतः ऐसी स्थिति में कृष्ण को प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि कृष्ण तो तभी मिल सकता है जब मन-वासना शून्य लोभहीन और क्रोध रहित हो। विषय-वासना का लालची बिलार घट में बसा हुआ है और हे मनुष्य ! तू उसे भोजन देकर—कुकर्म करके—परिपुष्ट कर रहा है। तू दीन-हीन और भूख से व्याकुल है फिर भी राम का नाम नहीं लेता। तू मद-भावना से परिपूर्ण होकर अपनी प्रशंसा स्वयं ही करता रहता है और इस बात से बहुत अधिक प्रसन्न होता है। तू अभिमान का बहुत ऊँचा टीला बनाये हुए है अतः उस पर किस प्रकार विनम्रता का पानी ठहर सकता है ? अर्थात् तू अभिमानी है विनम्र नहीं। जो ईश्वर तेरे हृदय में बसा हुआ है उससे तू कपट नहीं कर सकता। तेरे हृदय में तो राम का नाम नहीं है किन्तु दिखावे के लिये माला के दाने फिराता रहता है। हे मनुष्य ! तू हरि भजन से प्रेम कर और सांसारिक मायाओं को त्याग दे। मीरां कहती है कि तू गिरिधर लाल से सहज प्रेम कर और सांसारिक विषयों से सहज विरक्ति कर।

विशेष—सांग रूपक अलंकार।

तुलना—

१ जप माला छापा तिलक सरै न एको काम।
मन काँचे नाँचे वृथा साँचे राँचे राम॥ —बिहारी

२ माला फेरत जुग भया फिरा न मन का फेर।
करका मनका डारि कै मन का मनका फेर॥ —कबीर

३ अब मैं नाच्यौ बहुत गुपाल।
काम-क्रोध कौ पहिरि चोलना कंठ विषय की माल॥
महामोह के नूपुर बाजत निन्दा-सबद रसाल।
भ्रम भोयौ मन भयौ पखावज चलत असंगत चाल॥
तृष्णा नाद करति घट भीतर, नाना विधि दै ताल।
माया को कटि फेंटा बाँध्यौ लोभ-तिलक दियो भाल॥—सूरदास

× ×

प्रभु सों मिलन कैसे होय ॥टेक॥
पाँच पहर धन्धे में बीते तीन पहर रहे सोय।
मानस जनम अमोलक पायो सोतें डार्यो खोय।
मीरां के प्रभु गिरधर भजिये होनी होय सो होय ॥११८॥

शब्दार्थ—धन्धे=सांसारिक झगड़े। मानस=मनुष्य। अमोलक=अमूल्य।

अर्थ—इस प्रकार प्रभु से किस तरह मिलना हो सकता है—किस प्रकार उस पद को प्राप्त किया जा सकता है? क्योंकि पाँच प्रहर तो सांसारिक झगड़ों में बीत गए और तीन प्रहर सोते-सोते बिता दिए। हे मनुष्य! तुझे मनुष्य का अमूल्य जन्म मिला था किन्तु तू ने उसे सोकर—सांसारिक झगड़ों में पड़कर—खो दिया। मीरां कहती है कि गिरिधर नागर का भजन करना चाहिए, क्योंकि जो होना है वह तो होकर ही रहेगा। अतः इसकी चिन्ता करना व्यर्थ है।

+ +

आली म्हाने लागे वृन्दावन नीको ॥टेक॥
घर-घर तुलसी ठाकर पूजा, दरसण गोविन्द जी को।
निरमल नीर बहत जमना को, भोजन दूध दही को।
रतण सिंघासण आप बिराज्यों, मुगट धरयो तुलसी को।
कुंजन-कुंजन फिरत साँवरा, सबद सुण्या मुरली को।
मीरां रे प्रभु गिरधरनागर, भजण बिना नर फीको ॥११९॥

शब्दार्थ—म्हाने=मुझको। नीको=सुन्दर, मनोहर। ठाकुर=भगवान्

कृष्ण। जमणा माँ=यमुना में। दरसण=दर्शन। मुगट=मुकुट ताज। परस्याँ=पारस करके। फीकाँ=नीरस व्यर्थ।

अर्थ—हे सखि! मुझको वृन्दावन बहुत ही मनोहर लगता है। वहाँ पर घर घर में भगवान् कृष्ण की तुलसी से पूजा होती है और कृष्ण जी का दर्शन मिलता है। वहाँ यमुना में स्वच्छ जल बहता है। लोग दूध-दही का सात्विक और निरामिष भोजन करते हैं। वहाँ पर स्वयं कृष्ण भगवान् तुलसी का मुकुट धारण करके रत्नों के सिंहासन पर विराजमान हैं। वहाँ पर प्रत्येक कुंज में मुरली का शब्द सुनाता हुआ कृष्ण घूमता है। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधर नागर हैं और उनकी भक्ति के बिना मनुष्य का जन्म व्यर्थ होता है।

विशेष—कहीं-कहीं 'कुंजन कुंजन फिरत्या साँवरा' के स्थान पर 'कुंजन कुंजन फिरत राधिका' पद भी मिलता है।

बसाँ म्हाँ जा जमणा री तीर ॥टेक॥
वा जमणा का निरमल पाणी सीतल होयाँ सरीर।
बंसी बजावाँ गावाँ कान्हाँ संग लियाँ बलबीर।
मोर मुगट पीताम्बर सोहाँ कुण्डल झलकत्याँ हीर।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर क्रीड्याँ संग बलबीर ॥१९७॥

शब्दार्थ—बसाँ=बसो। तीर=किनारा। सीतल=ठंडा दुःख-विहीन। कान्हाँ=कृष्ण। हीर=हीरा। क्रीड्याँ=खेलते हैं।

अर्थ—हे मन! तुम उसी यमुना के किनारे बसो जिसका पानी शुद्ध है और जिसमें स्नान से शरीर शीतल हो जाता है—दुःख से मुक्त बन जाता है। जहाँ पर बलबीर को साथ लिए हुए कृष्ण बंसी बजाते हुए घूमते हैं जिनके सिर पर मोर-पंखों का मुकुट और कानों में हीरों का कुण्डल शोभा देता है। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधर नागर हैं जो बलबीर के साथ खेलते हैं।

विशेष—कहीं-कहीं इस पद की दूसरी और पाँचवीं पंक्तियाँ इस प्रकार भी मिलती हैं—

या बनी में मेरो प्राण बसत है जो बसी में गई पीर।

मीरां के प्रभु गिरधरनागर चरण कमल मे सीर ॥

× ×

हो कांनां किन गूं थी जुल्फां कारियां ॥टेक॥
सुघर कला प्रवीन हाथन सूं जसुमति जू ने सवारियां ।
जो तुम आवो मेरी बाखरियां, जरि राखूं चन्दन किवारियां ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, इन जुलफन पर वारियां ॥१६८॥

शब्दार्थ—कांनां=कृष्ण । जुल्फां=लट । सुघर=सुन्दर । प्रवीन=प्रवीण निपुण । बाखरियां=मकान । जरि राखूं=भली प्रकार बन्द करके रखूं । वारियां=न्यौछावर होती हूँ ।

अर्थ—हे कृष्ण ! तुम्हारी ये काली लटें किसने गूंथी है । ऐसा प्रतीत होता है कि यशोदा ने स्वयं अपने सुन्दर कलापूर्ण और चतुर हाथों से सवारी है । अगर तुम घर आओ तो मैं चन्दन के किवाड़ों को भली प्रकार बन्द करके रखूं अर्थात् फिर तुम्हें बाहर नहीं निकलने दूं । मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधरनागर है और मैं उनकी इन सुन्दर एवं मनोहर लटों पर न्योछावर होती हूँ ।

× ×

गोकुल क बासी भले ही आए गोकुल क बासी ॥टेक॥
गोकुल की नारि देखत आनंद सुखरासी ।
एक गावत एक नाचत एक करत हासी ।
पीताम्बर फेटा बांधे अरगजा सुवासी ।
गिरधर से सुनवल ठाकुर मीरां सी दासी ॥१६९॥

शब्दार्थ—गोकुल के बासी=गोकुल-निवासी श्रीकृष्ण । भल ही=बहुत अच्छा हुआ । सुखरासी=सुखों का ढेर । अरगजा=एक प्रकार का सुगन्धित पदार्थ । सुवासी=सुगन्धित । सुनवल=सुन्दर । ठाकुर=स्वामी ।

अर्थ—यह बहुत अच्छा हुआ कि गोकुल-निवासी श्रीकृष्ण आ गए । इससे गोकुल की नारियों को उस महान् आनन्द और सुखों के ढेर को देखने का अवसर प्राप्त हुआ अर्थात् गोकुल की नारियों को कृष्ण को देखकर महान् आनन्द और सुख की अनुभूति हुई । उन्हें देखकर कोई नारी आनन्द में विभोर

मुरलिया बाजा जमणा तीर ॥टेक॥
मुरली म्हारो मन हर लीन्हो चित्त धर्यो णा धीर।
स्याम कन्हैया स्याम करमयाँ स्याम जमणरो नीर।
धुण मुरली सुण सुध बुध बिसरी जर जर म्हारो सरीर।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर बेग हर्याँ म्हा पीर ॥२०२॥

शब्दार्थ—मुरलिया=बंशी। मण=मन। स्याम=काले। करमयाँ=कामरी। जमण रो=यमुना का। जर-जर=जर्जरीभूत। बेग=शीघ्र। पीर=पीड़ा वेदना।

अर्थ—यमुना के किनारे। मुरली बजी। उस मुरली ने हमारा मन हर लिया और चित्त धैर्य-विहीन हो गया। श्रीकृष्ण श्याम हैं उनकी कामरी काली है और यमुना का जल काला है। मुरली की ध्वनि को सुनकर मैं अपनी सुधि बुधि भूल गई और मेरा शरीर जर्जरीभूत हो गया। मीराँ कहती है कि हे मेरे गिरधर नागर स्वामी! शीघ्र ही मेरी विरह-वेदना को दूर करो अर्थात् तुरन्त आकर दर्शन दो।

विशेष—वैष्णव भक्तिधारा के अनुसार मुरली कृष्ण की वशीकरण शक्ति है। इसी रूप में कृष्ण भक्ति कवियों ने मुरली का वर्णन किया है। यह प्रभाव मीराँ के इस पद में परिलक्षित होता है।

तुलना—ग्वैननि की सुधि बिसरि गई।
स्याम-अधर मृदु सुनत मुरलिका चकित नारि भई।
जो जैसे सो तैसे रहि गईं सुख-दुख कह्यो न जाइ।
लिखी चित्र सी सूर ह्वै रहीं इकटक पल बिसराइ।
—सूरदास

× ×

माई म्हाँ बावरी सुणके बाँसरी हरि बिनु कछु न सुहावे माई ॥टेक॥
सबद सुणत मेरी सुध बुध बिसरी लगी धुन तामें मन की गाँसू री।
नेम धरम कोन कीनी मुरलिया, कोन तिहारे पासूँ री।
मीराँ के प्रभु बस कर लीने सप्त तानन की फाँसूँ री ॥२०३॥

शब्दार्थ—माई=सखी। सबद=शब्द। गाँस=फन्दा। नेम=नियम।

काम=कौन-सा। सप्त तानमि की=सात स्वरों की (सात स्वर ये हैं—सा रे गा मा पा धा नी)

अर्थ—हे सखि ! कृष्ण की बाँसुरी की ध्वनि सुनकर मैं पागल हो गई और अब मुझे कृष्ण के बिना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। बाँसुरी की ध्वनि सुनते ही मैं अपनी सुध-बुध भूल गई और अब मेरा मन उसी के फन्दे में फँसा रहता है। न जाने इस मुरली ने कौन-से नियम और धर्म किये हैं जो इसमें इतना आकर्षण है और न जाने कौन इसके पास रहता है जिसकी प्रभाव शीलता से इसमें इतना सम्मोहन आ गया है (मीरां का संकेत कृष्ण की महिमा की ओर है क्योंकि उन्हीं के प्रभाव से बाँसुरी में इतनी सम्मोहक शक्ति है) मीरां कहती है कि इस बाँसुरी ने तो मेरे प्रभु कृष्ण का भी अपने वश में कर रक्खा है। यह तो सात स्वरों का फन्दा लिए हुए है।

विशेष—कृष्णभक्त कवियों ने जहाँ एक ओर बाँसुरी की सम्मोहकता का वर्णन किया है वहाँ दूसरी ओर गोपियों के सौतिया-डाह की अभिव्यक्ति भी की है। उदाहरण के लिए सूरदास का यह पद देखिए—

सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिनि गुपाल कीन्हे अपनैं बस प्रीति सबनि की तोरि॥
छिन इक घर भीतर निसि-बासर, धरत न कबहूँ छोरि।
कबहूँ कर कबहूँ अधरनि कटि कबहूँ खोंसत जोरि॥
ना जानौं कछु मेलि मोहिनी राखे अँग अँग भोरि।
सूरदास प्रभु कौ मन सजनी बँध्यौ राग की डोर॥

तुलना—मुरली में मोहन मंत्र बजावै कान्ह छबीला छैल।
ब्रज-गोपिन के मोहन मान्यो बरज्यो न मानैं गैल।
प्रेम-लहरि उठि सम उरमाह मार निगोड़ो निपट बिनम।
रोम रोम आनन्दघन छायौ बिरह बिथा को फैल॥

—घनानन्द

× ×

कमल दल लोचनाँ थे नाथ्यो काल भुजङ्ग ॥टेक॥
कालिन्दी दह नाग नाथ्यो काल फण फण निरत करन्त।

कूदों जल अन्तर त्यां डरयो में एक बाहु अनन्त।
मीरां रे प्रभु गिरधरनागर, ब्रजवनितांरो कन्त ॥२०४॥

शब्दार्थ—काल=मृत्यु के समान भयंकर। भुजंग=साँप कालिया नाग। कालिन्दी=यमुना। निर्त=नृत्य। णां डरयो=डरा नहीं। ब्रजवनितांरो= ब्रज की वनिताओं का। कन्त=पति।

अर्थ—हे कमलदल के समान नेत्रों वाले कृष्ण! तुमने मृत्यु के समान भयंकर कालिया नाग को नाथ लिया था। उस नाग को यमुना जी की दह में नाथा था और मृत्यु के समान भयंकर उस नाग के फण पर तुम नाच करते रहे। तुम निडर होकर जल के अन्दर कूद गये थे। तुम एक बाहु होते हुए भी अनन्त बाहुओं वाले हो। मीरां कहती है कि हे मेरे गिरिधर नागर स्वामी! तुम ब्रज की वनिताओं के अर्थात् गोपियों के पति हो।

विशेष—इस पद में कालिया नाग की अन्तर्कथा है जो इस प्रकार है—

कालिय कद्रू नाग का पुत्र था और पन्नग जाति का सर्प था। यह पहले रमणक द्वीप में रहता था किन्तु गरुड़ के भय से यमुना की दह में ब्रज के पास रहने लगा था क्योंकि किसी शाप के कारण उस स्थान पर गरुड़ की गति न थी। इस नाग के विष ने यमुना के पानी को विषैला कर दिया था जिससे ब्रज के अनेक गोप-गोपिकाओं तथा गौओं का अकस्मात् प्राणान्त हो गया। यह देखकर कृष्ण एक दिन खेलत-खेलते यमुना में उसी स्थान पर कूद पड़े जहाँ पर वह नाग रहता था। इस घटना को सुनकर समस्त ब्रज में त्राहि त्राहि मच गई। अन्त में कृष्ण ने उस नाग को वश में कर लिया और उसके फण पर नृत्य करने लगे। कृष्ण ने इस नाग को बाद में क्षमा कर दिया और पुनः रमणक द्वीप में भेज दिया। उसके फण पर कृष्ण के पग चिन्ह देखकर गरुड़ भी उसे नहीं सता सकता था। अतः वह उसी दिन से सानन्द रमणक द्वीप में रहने लगा।

पाठान्तर—कमल दल लोचना, तैने कैसे नाथ्यो भुजंग।
पैसि पियाला काली नाग नाथ्यो, फण फण पर निरत करंत॥
र परियों न डरयो जल मांहि और काहीं नहीं संक।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, श्री वृन्दावन चन्द॥

तुलना—बन-बन ढूंढि स्याम लई ग्वाल, गोकुल ग्वाल रहे मुरझाइ।
मन में ध्यान करत ही जान्यौ कालीदह रहे हरि जाइ।
सरद नाम करि धाइ रह्यौ हरि, अन्तरजामी सब के नाथ।
अमृत दृष्टि भरि चितए सूर प्रभु जीवि उठे गावत हरिनाथ।
—सूरदास

++

आज अनारी ले गयो सारी बैठी कदम की डारी हे माय ।।टेक।।
म्हारे गैल पड्यो गिरधारी, हे माय आज अनारी० ।
मैं जल जमुना भरन गई थी आ गयो कृष्ण मुरारी, हे माय ।
ले गयो सारी अनारी म्हारी जल में ऊभी उघारी हे माय ।
सखी साइनि मोरी हसत है हँसि हँसि दे मोहि तारी, हे माय ।
सास बुरी अरु ननद हठीली लरि लरि मोहि गारी हे माय ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर चरण कमल की वारी हे माय ।।२०१।।

शब्दार्थ—अनारी=नटखट, शरारती। सारी=साड़ी वस्त्र। माय=सखी। गैल=साथ पीछे। ऊभी=खड़ी। उघारी=निर्वस्त्र नंगी। साइनि=सदा साथ रहने वाली। तारी=ताली। वारी=न्योछावर।

अर्थ—हे सखि! आज वह नटखट कृष्ण मेरी साड़ी को उठाकर ले गया जो कदम्ब वृक्ष की शाखाओं में छिपा हुआ बैठा था। हे सखि! कृष्ण तो मेरे पीछे पड़ा हुआ है। मैं यमुना में पानी भरने के लिए गई थी कि तभी कृष्ण आ गया। वह नटखट मेरी साड़ी उठाकर ले गया और मैं पानी में नंगी खड़ी रह गई। इस घटना को देखकर मेरे साथ रहने वाली मेरी सखियाँ हँसती हैं और हँस-हँसकर तालियाँ पीटती हैं अर्थात् मेरा मजाक उड़ाती हैं। मेरी सास बड़ी बुरी है और ननद हठीली है। यदि उन दोनों ने इस घटना को सुन लिया तो वे मेरे साथ लड़ेंगी और मुझे गाली देंगी। अथवा वे दोनों मुझसे लड़ती हैं और गालियाँ देती हैं। मीरां कहती है कि गिरधर नागर मेरे प्रभु हैं और मैं उनके चरण-कमलों पर न्योछावर होती हूँ।

विशेष—कृष्ण-लीलाओं में चीरहरण-लीला का बड़ा महत्व है। प्रत्येक कवि ने इस लीला का वर्णन किया है। मीरां ने भी इस पद में इसी परम्परा का निर्वाह किया है।

पाठान्तर—झटक्यो मेरो चीर रे मोरारी रे, झटक्यो मेरो चीर।
मेरो चीर कदम चढ़ बैठो, मैं जल बीच उघाड़ी।
हाँ र या'सा मैं जल बीच उघाड़ी॥
ऊभी राधा अरज करत है, दो चीर दो म्हो गिरधारी।
प्रभु मैं तेर पाय पड़ूँगी॥
जो राधा तेरो चीर चाहावत हो जल से हो जा न्यारी।
हाँ रे या सा जल से हो जा न्यारी॥
जल से न्यारी कान्हा कबुए न होऊँगी, तुम हो पुरुष हम नारी।
लाज मोहूँ आवत भारी।
तुम तो कुँवर, नन्दलाल कहावो मैं वृषभान दुलारी।
हाँ र या'सा मैं वृषभान दुलारी॥
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, तुम जीते हम हारी।
चरण जाऊँ बलिहारी॥

तुलना—बसन हरे सब कदम चढ़ाए।
सोरह सहस गोप-कन्यनि के अंग-अभूषन सहित चुराए॥
नीलाम्बर पाटाम्बर, सारी सेत पीत चुनरी अरुनाए।
अति विस्तार नीप तरु तामें लै-लै जहाँ-तहाँ लटकाए॥
मनि-आभरन डार डारनि प्रति देखत छबि मनहीं अटकाए।
सूर स्याम जु तिनि व्रत पूरन को, फल डारनि कदम फराए॥—सूरदास

× ×

झटक्यो मेरो चीर मुरारी ॥टेक॥
गागर रंग सिरते झटकी, बेसर मुड़ गई सारी।
टूटी माल कुण्डल तें उरझी झड़ गई कोर किनारी।
मनमोहन रसिक नागर भये हो अनोखे खिलारी।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, चरण कमल सिरधारी ॥२०६॥

शब्दार्थ—बेसर=एक प्रकार का आभूषण। झड़ गई=टूट गई।

अर्थ—कृष्ण ने मेरा चीर झटक दिया जिसके कारण सिर पर रक्खी हुई गागर झटक गई बेसर साड़ी में उलझकर मुड़ गई। ये कृष्ण अद्भुत रसिक

गिरिधर नागर
...गर और भिखारी बने हैं। मीरां कहती है कि मेरे प्रभु तो गिरिधर नागर
...हैं जिनके चरण-कमलों पर मैं अपना सिर रखे हुए हूँ।

× ×

आवत मोरी गलियन में गिरधारी
मैं तो छुप गई लाज की मारी ॥टेक॥
कुसुमल पाग केसरिया जामा ऊपर फूल हजारी।
मुकुट ऊपर छत्र बिराजे कुण्डल की छबि न्यारी।
केसरी चीर दरयाई को लेंगो ऊपर अंगिया भारी।
आवत देखी किसन मुरारी छिप गई राधा प्यारी।
मोर मुकुट मनोहर सोहै नथनी की छबि न्यारी।
गल मोतिन की माल बिराजे चरण कमल बलिहारी।
ऊभी राधा प्यारी अरज करत है सुणजे किसन मुरारी।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर चरण कमल पर वारी ॥२०७॥

शब्दार्थ—कुसुमल=लाल। पाग=पगड़ी। जामा=पहनावा। हजारी=हजारों दल वाला। दरयाई=रेशमी। लेंगो=लहंगा। अंगिया=चोली। किसन=कृष्ण। मन=कण्ठ। ऊभी=खड़ी हुई।

अर्थ—जब मैंने अपनी गली में आते हुए कृष्ण मुरारी को देखा तो मैं शर्म के मारे छिप गई। वे लाल रंग की पगड़ी बाँधे हुए थे उनका पहनावा केसरिया रंग का था ऊपर हजारों दलों के फूल लगाये हुए थे। उनके मुकुट के ऊपर छत्र शोभायमान था उनके कुण्डल की छबि न्यारी थी। राधा केसरिया रंग का चीर पहने हुए थी, उसका लहंगा रेशमी था और ऊपर भारी चोली धारण किए हुए थी। जब कृष्ण को आते हुए राधा प्यारी ने देखा तो वह लाज के मारे छिप गई। उनके सिर पर मोर-पंखों का मुकुट शोभायमान था और उनके सुन्दर नथ की छबि निराली थी। कृष्ण के गले में मोतियों की माला सुशोभित थी। मैं ऐसे शोभा-सम्पन्न कृष्ण के चरण-कमलों पर बलिहारी होती हूँ। हे कृष्ण मुरारी सुनो! प्यारी राधा खड़ी हुई विनती कर रही है। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधर नागर हैं और मैं उनके चरण-कमलों पर न्यौछावर होती हूँ।

विशेष—१ कृष्ण-राधा-मिलन का वर्णन सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने किया है। उदाहरण के लिए सूरदास का यह पद प्रस्तुत है—

'खेलत हरि निकसे ब्रज-खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर बाँधे हाथ लए भौंरा चक डोरी।
मोर-मुकुट, कुण्डल स्रवननि बर दसन-दमक दामिनी-छबि छोरी॥
गए स्याम रवि-तनया कैं तट, अंग लसति चंदन की खोरी॥
औचक ही देखी तहँ राधा नैन बिसाल भाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनि पीठि रुलति झकझोरी॥
संग लरिकिनी चलि इत आवति दिन-थोरी अति छबि तन-गोरी
सूर स्याम देखत ही रीझे नैन-नैन मिलि परी ठगोरी॥ —सूरदास

२ इस पद में अर्थ की संगति ठीक नहीं है क्योंकि प्रथम पंक्ति में जहाँ अपनी भावनाओं का आरोप किया गया है, वहाँ द्वितीयांश में उन्हीं भावों का राधा पर आरोप किया गया है। तृतीयांश की अर्थात् ऊभी राधा प्यारी अरज करत है सुणजे किशन मुरारी की शेष पद से संगति नहीं बैठती।

+×

माई मेरो मोहने मन हर्यो ॥टेक॥
कहा करूँ कित जाऊँ सजनी, प्राण पुरुष सूँ वर्यो।
हूँ जल भरने जात थी सजनी कलस माथे धर्यो।
साँवरी सी किसोर मूरत मुरक टोनो कर्यो।
लोक लाज बिसारि डारी तबही कारज सर्यो।
दासि मीराँ लाल गिरधर छान ये बर बर्यो॥२८॥

शब्दार्थ—मोहने=कृष्ण ने। प्राण=मन। पुरुष=ब्रह्म कृष्ण। वर्यो=मिल गए। माथे=सिर पर। टोनो=जादू। सर्यो=सिद्ध हुआ। छान=छिपे-छिपे। वर्यो=वरण किया।

अर्थ—हे सखि! कृष्ण ने मेरे मन को हर लिया है चुरा लिया है। हे सजनी! क्या कहूँ? किधर जाऊँ! मेरा मन तो प्रियतम कृष्ण के मन से मिल गया है। हे सजनी! मैं सिर पर कलश रखे हुए पानी भरने के लिए जा रही थी कि वह साँवरा और सुन्दर कृष्ण मिल गया। उसने मुझ पर कुछ

ऐसा जादू किया कि मैं उसे देखते ही उस पर मोहित हो गई। मैंने लोक-लाज को छोड़ दिया तभी जाकर मेरा कार्य सिद्ध हुआ अर्थात् लौकिक बन्धनों को तोड़ करके ही मैं दिल खोलकर उनसे मिल सकी। मीरां कहती है कि मैं तो गिरिधर की दासी हूं और मैंने उन्हें छिपे-छिपे पति के रूप में वरण किया है।

विशेष—कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत 'पनघट-लीला' का वर्णन परम्परागत है। मीरां ने इस पद में इसी परम्परा का पालन किया है।

तुलना—हौं गई जमुना-जल सांवरे सौं मोही।
केसरि की खौरि, कुसुम की दाम अभिराम
कमल-कुसुमि कंठ, पीताम्बर सोही॥
मान्हीं मान्हीं धुनि में ठाढ़ो गावै मीठी तान
मैं तो लागत की छबि नैकहूँ न जोही॥
सूर स्याम मुरि मुसुकानी छबि अँखियानि
रही हौं न जानो री कहाँ ही और कोही॥
—सूरदास

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे मनै लागी कटारी प्रेमनी ॥टेक॥
जल जमुनामां भरवा गयांतां हती गागर माथे हेमनी रे।
काचे ते तांतणे हरिजीए बांधी जेम खेंचे तेम तेमनी रे।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर शामली सूरत शुभ एमनी रे ॥२०६॥

शब्दार्थ—प्रेमनी=प्रेम की। मनै=मनके को मेरे हृदय में। भरवा गयां तां=भरने गई थी। हती=थी। हेमनी=सोने की। काचे तांतण=कच्चे धागे से अर्थात् प्रेम-बन्धन द्वारा। जेम=जिस प्रकार, जैसे। तेम तेमनी=उसी प्रकार ढंग से। शामली=सांवरी। शुभ=मनोहर। एमनी=ऐसी ही है।

अर्थ—मेरे हृदय में प्रेम की कटारी लग गई है। मैं जमुना में पानी भरने के लिए गई थी वहां मैंने कृष्ण को देखा जिसके माथे पर सोने का मुकुट था। मैं उसी समय कृष्ण के प्रेम के बन्धन में बंध गई और उन्होंने जिस ओर खींचा मैं उसी ओर या उसी प्रकार खिंचती चली गई। मीरां कहती है कि मेरे स्वामी तो गिरिधर नागर हैं और उनकी सांवरी सूरत ऐसी ही मनोहर है जो देखते ही मन को लुभा लेती है।

विशेष—वीप्सा अलंकार।

तुलना—साँवरिया भरन न देत स्याम सुन्दर,

बजमोहन रस का प्यासो डोलै।

आनँदघन मोहिए मूम्यो कहा कहौं चेटक

चितवनि के चैनन ही बोलै ॥—घनानन्द

++

आली साँवरी की दृष्टि मानू प्रेम री कटारी है ॥टेक॥

लगत बेहाल भई तन की सुधि बुधि गई।

तनहू में व्यापी पीर मन मतवारी है।

सखियाँ मिलि दोय च्यारी बावरी भई हैं सारी।

हौं तो वाको नीको जानौं कुंज को बिहारी है।

चन्द को चकोर चाहै दीपक पतंग दाहै।

जल बिना मरै मीन ऐसी प्रीत प्यारी है।

बिन देख्याँ कैसे जीवें कल न पड़त हीयें।

जाय वाकूं ऐसे कहियो मीरां तो तिहारी है ॥२१०॥

शब्दार्थ—आली=सखी। मानू=मेरे लिए, मानो। लगत=लगते ही। व्यापी=व्याप्त हो गई। दाहै=जलाता है। मीन=मछली। हीयें=हृदय में।

अर्थ—हे सखि! कृष्ण की दृष्टि तो मेरे लिए (मानो) प्रेम की कटारी है। उसके दृष्टि लगते ही मैं बेहाल हो गई और अपने शरीर की सारी सुधि बुधि भूल गई। सारे शरीर में प्रेम की पीड़ा व्याप्त हो गई और मन मतवाला हो गया। दो-चार सखियाँ ही नहीं बल्कि सारी की सारी सखियाँ उन्हें देखते ही बावरी हो गई। यह तो उनकी भलमनसाई ही जानो कि वह कुंज में छिपा रहता है और कभी कभी दिखाई देता है, वरना न जाने कितनी युवतियाँ प्रति दिन घायल हुआ करतीं। चकोर चन्द्रमा की इच्छा करता है प्रेम के कारण दीपक पतंग को जलाता है जल के बिना मछली मर जाती है। यह प्रेम प्यारा और निराला है। हे स्याम! तुम्हारे बिना हम कैसे जीवित रहें क्योंकि एक पल के लिए भी तुम्हारे विरह में चैन नहीं मिलता। मीरां कहती है कि हे सखी! उस कृष्ण से जाकर कहना कि मीरां तो तुम्हारी ही है अतः उसे अपनी प्रेम-पीड़ा से इतना अधिक पीड़ित न करो।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार ।

++

होरी खेलत हैं गिरधारी ॥टेक॥
मुरली चंग बजत डफ न्यारो संग जुवति ब्रजनारी ।
चन्दन केसर छिरकत मोहन अपने हाथ बिहारी ।
भरि भरि मूठि गुलाल लाल चहुं देत सबन पै डारी ।
छैल छबीले नवल कान्ह संग स्यामा प्राण प्यारी ।
गावत चार धमार राग तेहुं, दै दै कल करतारी ।
फागु जु खेलत रसिक साँवरो बाढ़यो रस ब्रज भारी ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, मोहन लाल बिहारी ॥२११॥

शब्दार्थ—जुवति=युवती । नवल=नवयुवक । छैल=सुन्दर । करतारी=हाथों की तालियाँ । रस=आनन्द ।

अर्थ—गिरधारी कृष्ण होली खेल रहे हैं । मुरली चंग और डफ अलग अलग बज रहे हैं तथा ब्रज-युवतियों के गीतों के स्वर अलग ही सुनाई दे रहे हैं । श्रीकृष्ण अपने ही हाथों से चन्दन और केसर छिड़क रहे हैं और लाल गुलाल की मुट्ठी भर भर सभी के ऊपर डाल रहे हैं । छैल छबीले युवक कृष्ण के साथ प्यारी राधा भी है । सब लोग हाथों की तालियाँ बजा-बजाकर धमार राग की तान गा रहे हैं । जिस प्रकार से रसिक कृष्ण फाग खेल रहे हैं उससे ब्रज में अत्यधिक आनन्द छा गया है । मीरां कहती है कि मेरे प्रभु मन को मोहने वाले गिरिधर नागर हैं ।

××

कहाँ कहाँ जाऊँ तेरे साथ कन्हैया ॥टेक॥
बिन्द्राबन की कुंज गलिन में गहे लीनो मेरो हाथ ।
दधि मेरो खायो मटकिया फोरी लीनो भुज भर साथ ।
लपट झपट मोरी गागर पटकी साँवरे सलोने लोने गात ।
कबहुं न दान लियो मनमोहन सदा गोकुल आत जात ।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, जनम जनम के नाथ ॥२१२॥

शब्दार्थ—गहि लीनी=पकड़ लिया। दध=दही। भुज भर=बाहु पाश में बाँध लिया। लोने=सुन्दर।

अर्थ—हे कृष्ण ! मैं तुम्हारे साथ-साथ कहाँ-कहाँ जाऊँ ? तुमने वृन्दावन की कुंज गलियों में मेरा हाथ पकड़ लिया। मेरी दही का भी मेरी मटकी फोड़ दी और मुझे बाहु-पाश में बाँध लिया। साँवरे सलौने और सुन्दर शरीर वाले कृष्ण तुम ने झपट झपट कर मेरी गागर धरती पर पटक दी। इससे पहले हम सदा गोकुल आती-जाती थीं किन्तु तुमने कभी भी दही का दान नहीं लिया। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी गिरधर नागर हैं जो जन्म-जन्मान्तरों से मेरे नाथ हैं, पति हैं।

× ×

या ब्रज में कछु देख्यो री टोना ।।टेक।।
लै मटुकी सिर चली गुजरिया, आगे मिले बाबा नन्दजी के छोना।
दधि को नाम बिसरि गयो प्यारी 'लेलेहु कोइ स्याम सलोना'।
वृन्दावन की कुंज गलिन में, आँख लगाय गयो मनमोहना।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, सुन्दर स्याम सुघर सलोना ।।२११।।

शब्दार्थ—टोना=जादू। छोना=पुत्र।

अर्थ—हे सखि ! इस ब्रज में कुछ इस प्रकार का जादू देखा है कि मन अपने को भूल जाता है। गोपी दही की मटकी सिर पर रखकर चली कि मार्ग में नन्दनन्दन श्रीकृष्ण मिल गया। हे प्यारी सखि ! उन्हें देखकर मैं इतनी भाव-विभोर हो गई कि दही का नाम तो भूल गई और 'कोई सुन्दर स्याम ले लो' यह पुकार लगाने लगी। वह मन को मोहने वाला कृष्ण वृन्दावन की कुंज गलियों में आँखें मिला गया—प्रेम दिखा गया। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी गिरिधर नागर हैं जो बहुत सुन्दर, सुघर और सलोने हैं।

विशेष—'ले लेहु री कोइ स्याम सलोना' में भाव-विभोरता का सजीव चित्रण है। अत्यधिक भाव-विभोरता में स्वयं को भूल जाना मनोवैज्ञानिक सत्य है। विद्यापति की राधा भी तो कृष्ण को रटते रटते स्वयं ही कृष्ण बन जाती है—

'अनुखन माधव माधव सुमरइत सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि बिसरल अपने गुन लुबुधाई॥

तुलना— १. गोरस को निज नाम भुलायो।
लेहु लेहु कोउ गोपालहि गलिनि गलिन यह सोर लगायो।
२ कोउ माई लैहै री गोपालहि।
दधि को नाम स्यामसुन्दर-रस बिसर गयो ब्रज बालहि॥
३ ग्वालिन प्रगट्यो पूरन नेहु।
दधि-भाजन सिर पर धरे कहति गोपालहिं लेहु॥—सूरदास

× ×

कोई स्याम मनोहर ल्योरी, सिर धरे मटकिया डोलै॥टेक॥
दधि को नांव बिसर गई ग्वालन, 'हरि ल्यो हरि ल्यो' बोलै।
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, चेरी भई बिन मोलै।
कृष्ण रूप छकी है ग्वालिन, औरहि और बोलै॥२१४॥

शब्दार्थ—नांव=नाम। बिसर गई=भूल गई। हरिल्यो=कृष्ण ले लो। चेरी=दासी। मोलै=मोल मूल्य। छकी=पूर्ण।

अर्थ—गोपियाँ सिर पर दही की मटकी लिए हुए पुकार-पुकार कर कह रही थीं कि कोई मनोहर श्याम ले लो। गोपियाँ दही के नाम को भूल गई और 'कृष्ण ले लो कृष्ण ले लो' यह आवाज लगाने लगीं। मीरां कहती है कि हे प्रभु गिरिधर नागर! वे गोपियाँ तो बिना मूल्य के ही तुम्हारी दासियाँ बन गई और तुम्हारे रूप से परिपूर्ण होकर और-और बातें कहने लगीं।

तुलना—दधि-मटुकि सिर लिए ग्वालिनी कान्ह-कान्ह करि डोलै री।
बिबस भई तनु-सुधि न सम्हारै आपु बिकी बिनु मोलै री॥
जाइ और पूछै यासौं कह लेहु लेहु कहि बोलै री।
सूरदास प्रभु रस-बस ग्वालिनी बिरह भरी फिरै होलै री॥—सूरदास

× ×

होली हरि बिन मये नेहु लगाय॥टेक॥
नेहु लगाय मेरो हर लीनो, रस भरी टेर सुनाय।
मेरे मन में ऐसी आवे, मरूँ जहर विष खाय।
छाँड़ि गये विश्वासघात करि, नेहु केरी नाव चढ़ाय।
मीरां के प्रभु कबरे मिलोगे, रहे मधुपुरी छाय॥२१५॥

शब्दार्थ—कित=कहाँ। नेह=स्नेह प्रेम। रसभरी=मीठी-मीठी। टेर=बात। मधुपुरी=मथुरा।

अर्थ—हे कृष्ण! तुम मुझसे प्रेम लगाकर कहाँ चल गये? तुमने प्रेम लगाकर और मीठी-मीठी बातें बनाकर पहले तो मेरा मन हर लिया और फिर न जाने कहाँ चले गये? इस विरह-वेदना को सहने की अपेक्षा तो मुझे यही अच्छा लगता है कि जहर खाकर मर जाऊँ। हे विश्वासघाती! तुम प्रेम की नौका पर चढ़ाकर मुझे मझधार में ही छोड़ गये। मीराँ कहती है कि मुझे कब दर्शन होंगे?

विनोद—'जहर बिस' में पुनरुक्ति दोष है।

पाठान्तर—कितहूँ गग नेह लगाय।

प्रीति लगाई मेरो मन हर लीनो रस भरि टेर सुनाई॥
हम से बैर प्रीति कुब्जा से, हमें न कछू सुहाई।
मेरा मन में ऐसी आवै, मरूँगी जहर विष खाई॥
हमकूँ छाँडि गये बिस्वासी बिरह की नाव चढ़ाई।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी रहे मधुपुरी छाई॥

तुलना—पहिले अपनाय सुजान सनेह सौं क्यों फिरि नेह को तोरिये जू।
निरधार अधार दै धार मँझार दई गहि बाँह न बोरिये जू॥
धनआनन्द आपने चातक को गुन बाँधि लै मोह न छोरिये जू।
रसप्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में यौं विष घोरिये जू॥

×

हो गये स्याम दूइज के चन्दा॥टेक॥
मधुबन जाइ भये मधुबनिया, हम पर डारो प्रेम को फन्दा।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर, अब तो नेह परो कछु मन्दा॥२१६॥

शब्दार्थ—हो गये स्याम दूइज के चन्दा=जिस प्रकार द्वितिया का चन्द्रमा थोड़ी देर दिखाई देकर फिर अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार कृष्ण कुछ दिन दर्शन देकर अदृश्य हो गये मथुरा चले गये। मधुवन=मथुरा। नेह=स्नेह प्रेम।

अर्थ—अब तो कृष्ण द्वितीया के चन्द्रमा के समान हो गए हैं, अर्थात् जिस प्रकार द्वितीया का चन्द्रमा थोड़ी देर दिखाई देकर फिर अदृश्य हो जाता है

उसी प्रकार कृष्ण भी कुछ दिन दर्शन देकर अदृश्य हो गए, मथुरा चले गए। वे मथुरा जाकर वहीं के निवासी बन बैठे हैं, जिसके कारण हम को बिल्कुल भुला दिया है और हम पर प्रेम का फन्दा डाल दिया है। मीरां कहती है कि हे मेरे प्रभु गिरधर नागर! अब तो तुम्हारा प्रेम कुछ कम हो गया है, वरना तुम हमें अवश्य याद करते और आकर दर्शन देते।

विशेष—

१ मुहावरे और रूपक अलंकार का सफल प्रयोग।

२ इस पद में अभिव्यक्त भावना 'अब तो नेह परो कछु मन्दा' नाथ परम्परा से प्रभावित पदों में भी मिलती है। अतः इस पद पर नाथ सम्प्रदाय का प्रभाव मानना समीचीन होगा।

++

स्याम म्हांसूं ऐंडो डोले हो औरन सूं खेले धमाल।
म्हांसूं मुखहुं न बोले हो, स्याम म्हांसूं ।।टेक।।
म्हारी गलियाँ ना फिरे, वाके आँगण डोले हो।
म्हारी अँगुली ना छुवे वाकी बहियाँ मोरे, हो।
म्हारो अँचरा ना छुवे वाको घूंघट खोले, हो।
मीरां के प्रभु सांवरो रंग रसिया डोले, हो ।।२१७।।

शब्दार्थ—म्हांसूं=हमसे। ऐंडो=इतराकर अकड़ता हुआ। धमाल=धमा चौकड़ी। वाके=उनके अन्य स्त्रियों के। बहियाँ=बांह। रंग रसिया डोले=विलासी पुरुष बना हुआ फिरता है।

अर्थ—श्याम हम से तो इतराकर अकड़ता हुआ घूमता है और अन्य स्त्रियों के साथ आनन्द के साथ धमाचौकड़ी—क्रीड़ा—करता हुआ फिरता है। हम से तो वह मुंह से भी नहीं बोलता। वह हमारी गली तक भी नहीं आता और अन्य स्त्रियों के आंगन में घूमता हुआ फिरता है। मेरी तो वह उंगली तक नहीं छूता और अन्य स्त्रियों की बांहें मरोड़ता है अर्थात् क्रीड़ा करता है। मेरा तो वह आंचल तक नहीं छूता और अन्य स्त्रियों के घूंघट खोलता है। मीरां कहती है कि हे मेरे सांवरे प्रभु! तुम तो विलासी पुरुष बने हुए डोलते हो।

विशेष—सौतिया-डाह भी कृष्ण-भक्ति का एक वर्णनीय विषय है। इसी वैरूप्य का वर्णन मीराँ ने इस पद में किया है।

++

सखीरी लाज बैरण भई ॥टेक॥
श्रीलाल गोपाल के संग काहे नाहीं गई।
कठिन क्रूर अक्रूर आयो, साजि रथ कहँ लई।
रथ चढ़ाय गोपाल लैगो, हाथ मींजत रही।
कठिन छाती स्याम बिछुरत, बिरह तें तन तई।
दासी मीराँ लाल गिरिधर बिखर क्यूं ना गई ॥११८॥

शब्दार्थ—क्रूर=कठिन। अक्रूर=कंस का एक दूत जो कृष्ण को रथ पर चढ़ाकर मथुरा ले गया था। हाथ मींजत रही=हाथ मलती रही। तई=सन्तप्त होती रही। बिखर क्यूं ना गई=टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गई।

अर्थ—हे सखि! मेरी लाज ही मेरे लिए बैरण सिद्ध हुई, क्योंकि संयोग समय में मैं कृष्ण से बातें न कर सकी। यह मेरी लज्जा श्रीगोपाल कृष्ण के साथ ही क्यों न चली गई। वह अक्रूर बहुत ही निर्दयी था जो कृष्ण को रथ में बैठाकर ले गया और तब मैं कुछ भी न कर सकी केवल हाथ मींजती ही रह गई। यह हृदय बहुत ही कठोर है जो कृष्ण के बिछुड़ने पर विरह-दुःख से सन्तप्त तो अवश्य हुआ किन्तु खण्डित नहीं हुआ। मीराँ कहती है कि हे गिरधर नागर! तुम्हारे बिछुड़ने पर विरह-जन्य दुःख के कारण मैं टुकड़े-टुकड़े क्यों न हो गई?

++

पाठान्तर—सखी माइ लाज बैरन भई।
चलत गुपाल लाल पिय के, संग क्यों ना गई।
चलन चाहत गोकुल हो तें रथ सजायो नई
बिरह-व्याकुल होय सजनी हाथ मल मल रही।
कठिन छाती स्याम बिछुरत बिखर क्यों ना गई।
सेन मन संदेसा पिय को, काह पठऊँ दई।
कूबरी संग प्रीति कीन्ही, मोह माया दई।

श्याम मीरों लाल गिरधर, प्रान दर्दना ईई।
आपने करम को छै दोस काहूं दीज रे ऊधो आपने। ॥टेक॥
सुणियो मेरी बगड़ पड़ोसण गेले चलत लागी चोट।
पहली ज्ञान मानहिं कीन्ही मैं ममता की बाँधी पोट।
मैं जाण्यूं हरि नांहिं तजेंगे करम लिख्यो भलि पोच।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी परो निवारोनी सोच ॥२१९॥

शब्दार्थ—छै=है। बगड़ पड़ोसण=पड़ोसी स्त्री। गेले=रास्ते में। पोच=बुरा। परो=दूर। निवारोनी=निवारण करो। सोच=चिन्ता।

अर्थ—हे उद्धव ! किसको दोष दिया जाये यह सब अपने भाग्य का ही दोष है। मेरी पड़ोसी स्त्रियों ने भी इस बात को सुना है और रास्ते में चलते हुए मुझे भी भारी चोट लगी है। मुझे पहले इस बात का ज्ञान नहीं हुआ था और मैंने अज्ञानतावश ममता की गठरी बाँध ली थी। मैं तो यह जानती थी कि कृष्ण मुझे किसी प्रकार भी नहीं छोड़ेंगे किन्तु अपने भाग्य में तो सभी प्रकार से (पूर्णत:) बुरा ही लिखा हुआ था अतः वे मुझे छोड़ गये। मीरां कहती है कि हे हरि और अविनाशी प्रभु ! मेरी चिन्ता को दूर करो अर्थात् मुझे शीघ्र से शीघ्र दर्शन दो।

विशेष—कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत कृष्ण भक्तों ने उद्धव और गोपियों का संवाद कराया है। इस पद में मीरां भी अपने दुःख का वर्णन उद्धव से करके उसी परम्परा का पालन कर रही है।

तुलना—अपणॉ करम ही का खोट, दोस काइ दीजै री आली।
सुणज्यो री मेरी संग की सहेली, बाट चलत लागी चोट।
मैं तो सूं बूझूं कोइ न बतावे सब ही बटाऊ लोग।
अपणां दरद पूं सब काढ़ मारग, पर दुःख को नाहिं कोई।
मीरा के प्रभु हरि अविनासी, थारो चरण की ओट।

++

गोकुल के ग्वाल बिच ऐसी आवत मन में।
मनमोहन ललित बदन बिलस भई तन में।
मुरली कर लकुट लेऊँ, पीत बसन धारूँ।
काछी गोप भेष मुकुट, गोधन सँग चारूँ।

हम भई गुलफाम लता, वृन्दावन रैनां।
पसु पंछी मरकट मुनी, स्रवन सुनत बैनां।
गुरुजन कठिन कानि कासौं री कहिए।
मीरां प्रभु गिरधर मिलि ऐसे ही रहिए ॥२२०॥

शब्दार्थ—पीछूनें=साथ साथ। अवलोकत=देखकर। वारिजवदन=कमल-मुख। लकुट=छड़ी। वसन=वस्त्र। काछी=धारण कर। चारूँ=विचरण करूँ। गुलफाम=सुन्दर। रैनां=धूल। मरकट=मर्कट बन्दर। कानि=मर्यादा।

अर्थ—मेरे मन में ऐसी आती है कि मैं श्रीकृष्ण के साथ-साथ रहूँ, और उनके कमल-मुख को देखकर निरन्तर असीम सुख प्राप्त करती रहूँ। मैं अपने शरीर से ऐसी विवश हो गई हूँ कि मुरली रूपी छड़ी मैं हाथ में लेऊँ और पीले वस्त्र धारण कर लूँ। सिर पर मुकुट धारण करके गोप का वेश बनाऊँ और गौओं के साथ-साथ विचरण करूँ। वृन्दावन के पशु पक्षी बन्दर और मुनियों के शब्दों को अपने कानों से सुनते-सुनते हम स्वयं ही वृन्दावन की सुन्दर लता और धूल बन गई हैं। गुरुजनों ने मर्यादा की कठिन सीमाएँ बना रक्खी हैं, अतः मैं अपने मन की व्यथा किससे कहूँ? मीरां कहती है कि गिरिधर से मिलकर इसी प्रकार (उपयुक्त प्रकार से) रहना चाहिए अर्थात् इस प्रकार कृष्ण के साथ गोप का वेश धारण करके और वृन्दावन की लता तथा धूल बनकर जीवित रहना ही श्रेयस्कर है।

विशेष—१ तादात्म्य भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।
२ तद्गुण अलंकार।

× ×

कुण बाँचे पाती बिना प्रभु कुण बाँचे पाती।
कागद ले ऊधो आयो कहाँ रह्या साथी।
आवत जावत पाँव घिसारे (बाला) अँखियाँ भई राती।
कागद ले राधा बाँचण बैठी भर आई छाती।
नैण नीरज में अंब बहे रे (बाला) गंगा बहि जाती।
पाना ज्यूँ पीली पड़ी रे (बाला) धान नहिं खाती।

हरि बिन हिवड़ो यूं जलै रे (बाला) ज्यूँ दीपक संग बाती ।
म्हाँने भरोसो राम को रे (बाला) डूबि तर्यो हाथी ।
दास मीराँ लाल गिरधर, साँकड़ारो साथी ॥२२१॥

शब्दार्थ—कुण=कौन । पाती=पत्र । साथी=कृष्ण । बिसार=घिस गये । बाला=प्रियतम । राती=लाल । भर आई छाती=हृदय भर आया । मोरज=कमल । पय=पानी । पाना=पत्ता । हिवड़ो=हृदय । डूबी तर्यो हाथी=डूबते हुए हाथी को उबारा । साँकड़ारो=संकट में । साथी=सहायक ।

अर्थ—उद्धव कृष्ण के जिस पत्र को लेकर आये हैं, उसे प्रियतम कृष्ण के बिना कौन पढ़े । हे उद्धव ! तुम इस कागज के टुकड़े को लेकर तो आ गये पर तुम्हारा साथी—कृष्ण—कहाँ रहा ? कृष्ण के लिए इधर-उधर भटकते हुए पाँव घिस गये और उनकी राह देखते-देखते आँखें लाल हो गईं । जब राधा कृष्ण के उस पत्र को लेकर पढ़ने बैठी तो उसका हृदय भर आया । उसके कमल-नेत्रों से पानी बहने लगा मानो गंगा बह रही हो । वह कृष्ण के वियोग में पत्ते की तरह पीली पड़ गई है और उसने अन्न खाना भी छोड़ दिया है । उसका हृदय कृष्ण के बिना दुःख में इस प्रकार जल रहा है जैसे दीपक की बत्ती जलती है । लाल गिरधर की दासी मीरा कहती है कि मुझे तो केवल उसी कृष्ण का भरोसा है जिसने डूबते हुए हाथी का उद्धार किया और जो संकट में सहायक होता है ।

विशेष—१. भाजन भावन और बिम्बों के नवीन प्रयोग है जो भावाभिव्यक्ति को द्विगुणित कर देता है ।
२. उत्प्रेक्षा और दृष्टान्त अलंकार ।
३. 'डूबि तर्यो हाथी' की कथा पीछे यथा स्थान पर दी जा चुकी है ।

पाठान्तर—कहीं-कहीं इस पद में निम्नलिखित दो पंक्तियाँ और मिलती हैं—
[illegible] पुन्न पसेरा [illegible] खोलें नहिं बाती ।
मन नाथी की [illegible] रे (बाला) राम मिले मिल जाती ॥

× ×

चक्खी मीठे चाख चाख बेर लाई भीलणी ॥टेक॥
ऐसी कहा अचारवती, रूप नहीं एक रती
नीचे कुल ओछी जात, अति ही कुचीलणी।
जूठे फल लीन्हे राम प्रेम की प्रतीत जाण
ऊंच नीच जाने नहीं, रस की रसीलणी।
ऐसी कहा वेद पढ़ी, छिन में बिमाण चढ़ी
हरि जो सू बांध्यो हेत बैकुण्ठ में झूलणी।
दासी मीरां तरै सोइ ऐसी प्रीति करै जोइ
पतित-पावन प्रभु गोकुल अहीरणी ॥२२२॥

शब्दार्थ—अचारवती=अचार-विचार से रहने वाली। एक रती=रत्ती भर भी। कुचीलणी=मैल-कुचैले वस्त्र वाली। प्रतीति=प्रतीत विश्वास। रस की रसीलणी=भक्ति या प्रेम रस की रसिकता। छिन में बिमाण चढ़ी=स्वर्ग चली गई। हेत=प्रेम। गोकुल अहीरणी=गोकुल की ग्वालिन पूर्व जन्म की गोपी।

अर्थ—भीलणी शबरी अच्छे-अच्छे और मीठे-मीठे बेर चाखकर जूठे करके—लाई थी जिन्हें प्रभु ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। वह ऐसी क्या आचार विचार से रहने वाली थी कि प्रभु ने तनिक भी संकोच नहीं किया अर्थात् वह तो आचार-विहीन भी थी और रूप उसमें रत्ती भर नहीं था। वह नीच कुल में और ओछी जाति में उत्पन्न हुई थी अत्यन्त मैले-कुचैले वस्त्र धारण किए हुए रहती थी। प्रभु राम ने फिर भी उसके प्रेम पर विश्वास करके—अपने प्रति उसका सच्चा प्रेम जानकर—उसके जूठे बेर स्वीकार कर लिये। भक्ति या प्रेम-रस की रसिकता ऊंच-नीच का भेदभाव नहीं जानती। वरना भीलनी ने कौन सा वेद पढ़ा था जो उसे एक पल में ही स्वर्ग भेज दिया गया। उसने प्रभु से प्रेम किया था इसीलिए उसे बैकुण्ठ का वास मिला। प्रभु की दासी मीरां कहती है कि जो भी व्यक्ति प्रभु से ऐसी प्रीति करता है वही पार उतर जाता है—इस संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। प्रभु तो पतितों का उद्धार करने वाले और फिर मैं तो पूर्व जन्म की गोकुल की ग्वालिन हूँ—गोपी हूँ—अतः मेरा उद्धार तो वे अवश्य ही करेंगे।

विशेष—१ इस पद में भक्ति की महत्ता का प्रतिपादन प्रभावपूर्ण ढंग से किया गया है।

२ भीलनी शबरी की कथा जो इस पद में आई है इस प्रकार है—

भीलनी शबरी में बाल्यावस्था से ही धार्मिक प्रवृत्ति थी। यह अतिथियों का स्वागत अपनी पूर्ण निष्ठा के साथ किया करती। वनवास को जाते समय जब राम और लक्ष्मण इसके यहाँ पधारे तो इसने उन बेरों को भगवान को प्रदान किया जो इसने चख चखकर इकट्ठे कर लिए थे। इसकी असीम भक्ति से राम बहुत प्रसन्न हुए और इसे परमधाम पहुँचा दिया। कहते हैं कि द्वापर में यह भीलनी कुब्जा के नाम से उत्पन्न हुई जिसका वर्णन कृष्ण-भक्तों ने अनिवार्य रूप से किया है।

++

देखत राम हँसे सुदामा कूँ देखत राम हँसे ॥टेक॥
फाटी तो फूलड़ियाँ पाँव उभाणे चलत चरण घसे।
बालपन का मित्र सुदामा अब क्यूँ दूर बसे।
कहाँ भावज ने भेंट पठाई, तान्दुल तीन पसे।
कित गई प्रभु मोरी टूटी टपरिया हीरा मोती लाल कसे।
कित गई प्रभु मोरी गउअन बछिया, द्वारा बिच हँसती फसे।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी, सरणे तोरे बसे ॥२२३॥

शब्दार्थ—सुदामा=एक दरिद्र ब्राह्मण का नाम जो कृष्ण सहपाठी था। फाटी=फटी हुई। फूलड़ियाँ=जूतियाँ। उभाणे=नंगे। घसे=घिसता था। बालपण का=बाल्यावस्था का। मित्र=मित्र। तान्दुल=तन्दुल चावल। पसे=मुट्ठी।

अर्थ—जब सुदामा अपनी दारिद्र्यावस्था में द्वारिकाधीश कृष्ण के पास पहुँचे तो कृष्ण उन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। सुदामा की जूतियाँ फटी हुई थीं उनके पैर नंगे थे जो चलते चलते घिस गये थे। उन्होंने सुदामा से कहा कि आप तो हमारे बचपन के मित्र हैं अतः हमसे दूर क्यों रहे हो? भाभी ने हमारे लिए क्या भेंट भेजी है, यह कहकर उन्होंने सुदामा से चावलों की पुटली छीन ली और तीन मुट्ठी खा गये। इन चावलों के खाने से सुदामा को तीनों

लोकों का वैभव प्राप्त हो गया और सुदामा जब अपने घर पहुँचे तो अपनी झोंपड़ी के स्थान पर एक भव्य प्रासाद देखकर सोचने लगे कि हे प्रभु ! मेरी टूटी-फूटी झोंपड़ी कहाँ चली गई और यह हीरा मोतियों से जगमगाता हुआ प्रासाद कहाँ से आ गया ? हे प्रभु मेरी गाय और बछिया कहाँ पर चली गई ? फिर अपनी पत्नी को देखकर सोचने लगे कि यह द्वार पर हँसती हुई खड़ी स्त्री कौन है ? मीराँ कहती है कि मेरे अविनाशी प्रभु ! मैं भी तो तेरी शरण में हूँ अतः जिस प्रकार की कृपा सुदामा पर की उसी प्रकार की कृपा मुझ पर भी कीजिए।

विशेष—१ सुदामा की कथा शृंखला-विहीन है अतः उसकी शृंखला बनाने के लिए काफी अध्याहार की आवश्यकता पड़ती है।

२ यहाँ 'राम' का प्रयोग 'कृष्ण' के अर्थ में स्पष्ट है। इसी से यह प्रकट होता है कि मीराँ की भक्ति-भावना किसी एक सम्प्रदाय में सीमित नहीं थी।

३ कहीं-कहीं पर 'द्वार बिच हँसती खड़ी' के स्थान पर 'द्वार बिच हसती खड़ी' भी मिलता है जिसका अर्थ होगा कि इस प्रासाद के द्वार ऐसे हैं जिनमें हाथी खड़ा हो सकता है अर्थात् बड़े-बड़े विशाल द्वार हैं। यही अर्थ अधिक उपयुक्त है।

××

तेरो मरम न पायो रे जोगी ।।टेक।।
आसण माँडि गुफा में बैठो ध्यान हरि को लगायो।
गल बिच सेली हाथ हाजरियो अंग भभूति रमायो।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, भाग लिख्यो सो ही पायो ।।२२७।।

शब्दार्थ—मरम=भेद। जोगी=योगी श्रीकृष्ण। माँडि=मारकर। सेली=योगियों की माला। हाजरियो=हाथ में रखने का एक प्रकार का रूमाल। भभूति=भस्म। भाग=भाग्य।

अर्थ—हे प्रियतम श्रीकृष्ण ! तेरा भेद किसी को नहीं मिला चाहे कोई आसन मारकर गुफा में बैठे और हरि से ध्यान लगाये चाहे गले में योगियों की-सी माला पहने अथवा हाथ में रूमाल रखे या शरीर पर भस्म लगाये।

मीराँ कहती है कि हे मेरे अविनाशी प्रभु ! जिस व्यक्ति के भाग्य में जो कुछ लिखा होता है उसे वही मिलता है।

विशेष—प्रत्येक भक्त कवि भाग्य में अटूट विश्वास रखता है। मीराँ ने भी इसी विश्वास की अभिव्यक्ति की है।

× ×

करम गत टारे नाहीं टरी ॥टेक॥
सतवादी हरिचन्दा राजा डोम घर नीरां भरी।
पाँच पांडु री राणी द्रुपता, हाड़ हिमालाँ गरी।
जग्य कियाँ बलि लेण इन्द्रासण जाँयाँ पाताल परी
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, बिखरूँ अमिरत करी ॥२२४॥

शब्दार्थ—करमगत=भाग्य का लेखा। टारे णाहीं टरी=टालने पर नहीं टलता। डोम=भंगी। नीरां=नीर, पानी। पाँड=पाण्डव। द्रुपता=द्रोपदी। हिमालाँ=हिमालय पर्वत। जग्य=यज्ञ। इन्द्रासण=स्वर्ग का राज्य बिखरूँ=विष को। अमिरत=अमृत।

अर्थ—भाग्य का लेखा टारे से नहीं टलता अर्थात् भाग्य में जो कुछ होता है वह अवश्य ही होकर रहता है। भाग्य के कारण सत्यवादी हरिश्चन्द्र को भंगी के घर पानी भरना पड़ा था। भाग्य के कारण ही पाँचों पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी को हिमालय पर्वत पर गलना पड़ा। राजा बलि ने स्वर्ग का राज्य लेने के लिए यज्ञ किया था किन्तु भाग्य के कारण वह स्वर्ग के स्थान पर पाताल में चला गया। मीराँ कहती है कि मेरे स्वामी गिरधर नागर विष को अमृत में बदल देते हैं।

विशेष—१ इस पद में कर्म (भाग्य) की महिमा और भगवान् की अलौकिक शक्ति का वर्णन किया गया है। प्रायः प्रत्येक भक्त-कवि ने इन दोनों बातों को स्वीकार किया है।

२ इस पद में आई हुई अन्तर्कथाएँ इस प्रकार हैं—

सत्यवादी हरिश्चन्द्र—अयोध्या के राजा महाराज हरिश्चन्द्र बहुत ही सत्यवादी थे। इसलिए उन्हें सत्य का अवतार समझा जाता था। एक दिन उनकी परीक्षा लेने के लिए ऋषि विश्वामित्र एक विप्र का वेष धारण करके

आये और उनसे सारा राज्य दान में ले लिया। दान के बाद उन्होंने एक हजार स्वर्ण मुद्राओं की दक्षिणा और अधिक माँग की। राजा के पास देने के लिए कुछ भी शेष न रह गया था अतः उन्होंने काशी में जाकर अपनी रानी शैव्या पुत्र रोहिताश्व और स्वयं को बेचकर विश्वामित्र की एक सहस्र मुद्राएँ चुकाईं। ये स्वयं एक भंगी के यहाँ दास बनकर रहने लगे। बाद में ये अपनी परीक्षा में सफल हुए और फिर से इन्हें इनका राज्य लौटा दिया गया।

राणी हुपता—महारानी द्रौपदी के पति पाँचों पांडव थे जो अपने समय के सबसे अधिक शक्तिशाली योद्धा थे। जब ३६ वर्ष राज्य का भोग करने के उपरान्त महाराज युधिष्ठिर अपने पाँचों भाई और द्रौपदी को लेकर हिमालय पर्वत पर गये तो सबसे पहले द्रौपदी की ही बर्फ में गलकर मृत्यु हुई।

बलि गैए इन्द्रासण—महाराज बलि बहुत ही दानी थे। उन्होंने अनेक यज्ञ किये। उनकी दान-प्रियता और धार्मिकता को देखकर इन्द्र को यह भय होने लगा कि यदि इनका यह सौवाँ यज्ञ भी पूरा हो गया तो ये मेरे सिंहासन के अधिकारी बन जायेंगे। इसलिए उन्होंने कृष्ण से प्रार्थना की और वे बौने का रूप धरकर बलि के पास आये। उन्होंने तीन पैड़ वसुधा माँगी किन्तु कृष्ण दो पैड में ही सारे भूमण्डल को नाप गए। अब तीसरा पैड कहाँ रखें? इस पर महाराज बलि ने प्रार्थना की कि वे तीसरा पैड उसके शरीर पर नाप लें। जैसे ही कृष्ण ने उसके शरीर पर पैर रक्खा वे दबाव के कारण पाताल-लोक को भेज दिया।

तुलना—१ भावी काहू सौं न टरै।
कहँ वह-सुना की राजसभा दुस्सासन चीर हरै।
हरीचंद सो को जगदाता सो घर नीर भरै॥ —सूरदास

२ करम गति टारै नाहि टरी।
नीच हाथ हरीचन्द बिकाने बलि पाताल धरी॥ —कबीर

× ×

विप विपरता री म्हारी ॥टेक॥
बीरप गैए निरप कू देख्याँ, बण बण फिरती मारी।
उनको बरस बागसाँ वारी कोम्यल बरणी कारी।

मछ्याँ निरमल धारी समुन्द कर्‌याँ जल खारी ।
मूरख जण सिंगासण राजा पण्डित फिरताँ द्वारी ।
मीराँ रे प्रभु गिरधरनागर, राणाँ भगत संघारी ॥२२६॥

शब्दार्थ—विध विधणा=विधाता के नियम । दीरघ=दीर्घ विशाल । मिरग=मृग । उजळो=उज्ज्वल । बरण=वर्ण रंग । बगलन=बगुला । समुन्द=समुद्र । सिंगासण=सिंहासन । द्वारा=द्वार-द्वार पर । संघारा=कष्ट दिया करते हैं ।

अर्थ—हे सखी ! विधाता के नियम ही निराले हैं । यद्यपि मृग को उसने विशाल नेत्र दिये हैं फिर भी बेचारा वन-वन मारा-मारा फिरता है । यद्यपि बगुला को उज्ज्वल रंग दिया है फिर भी बेचारा मछली खाकर अपना निर्वाह करता है । यद्यपि कोयल को काला रंग दिया है फिर भी उसकी बोली में मधुरता भर रखी है । जितनी भी नदी और नाले हैं सब का पानी शुद्ध और मीठा होता है किन्तु समुद्र को खारा बना दिया है । जो मूर्ख व्यक्ति हैं वे राजसिंहासन पर बैठकर आनन्द से राज्य का भोग करते हैं और जो विद्वान् हैं वे द्वार-द्वार पर मारे-मारे फिरते हैं । मीराँ कहती है कि हे प्रभु गिरधर नागर ! यह भी विचित्र बात है कि राणा भक्तों को बहुत अधिक कष्ट दिया करते हैं और आप कुछ भी नहीं कहते ।

विशेष—दृष्टान्त अलंकार ।

पाठान्तर— करम की गति न्यारी सन्तो, करम की गति न्यारी रे ।
बड़ बड़े नयन दिये मिरगन कूँ बन बन फिरत उघारी रे ॥
उज्जल बरन दीनी बगलन कूँ, कोयल कर दीनी कारी रे ।
औरन दीनन जल निरमल कीनो समुन्दर कर दीनी खारी रे ।
मूरख कूँ तुम राज दियत हो, पण्डित फिरत भिखारी रे ।
मीराँ के प्रभु गिरधरनागर राणा जी तो ध्यान बिचारी रे ॥

++

लागण का सोच न मीराँ री बोली ॥टेक॥
सगुण सखी की पैलो हो प्यारो पांव धरन तन [illegible] ।
मैं तूँ नयन लगाई बारी तो सीख की [illegible]

लगन लगी जैसे पतंग दीप से वारि फेर तन दीजै।
लगन लगी जैसे मिरघे नाद से सनमुख होय सिर दीजै।
लगन लगी जैसे चकोर चन्दा से अगनी भखण कीजै।
लगन लगी जैसे जल मछीयन से बिछुड़त तनही दीजै।
लगन लगी जैसे पुहप भंवर से फूलन बीच रहीजै।
मीरां कहै प्रभु गिरधर नागर चरण कंवल चित दीजै ।।२२७।।

शब्दार्थ—लगन=प्रेम। सीख=आम। भोली=हे भोली सखी। पैंडो=मार्ग। छीजै=क्षीण हो जाता है। चाहै=चाहती है। सीस को आसन कीजै=सीश काटकर उस पर अपना आसन लगाना। वारि फेर=चारों ओर चक्कर लगाकर। तन दीजै=प्राण त्याग देता है। मिरघे=मृग। नाद=संगीत। अगनी भखण कीजै=आग खाता है। पुहप=पुष्प, फूल। भंवर=भौंरा।

अर्थ—हे भोली सखी! प्रेम का तो नाम भी नहीं लेना चाहिए। प्रेम का तो मार्ग ही निराला है। इस मार्ग पर पग रखते ही शरीर क्षीण होने लगता है। यदि तू प्रेम करना चाहती है तो शीश काटकर उस पर अपना आसन लगा। जैसे—पतंगा दीपक से प्रेम करता है और इसी कारण दीपक के चारों ओर चक्कर लगाकर अपने प्राण त्याग देता है दीपक की लौ में झुलस जाता है। जैसे—मृग संगीत से प्रेम करता है इसीलिए वह शिकारी के सामने आकर अपना सिर बलिदान कर देता है—मर जाता है। (कहते हैं मृग का शिकार करने वाले शिकारी वनों में जाकर संगीत की ध्वनियाँ बजाते हैं जिन्हें सुनकर मृग उनके पास आ जाते हैं और वे तब उनको आसानी से मार लेते हैं।) जैसे—चकोर चन्द्रमा से प्रेम करता है और आग के टुकड़े को चन्द्रमा समझ कर खा लेता है। जैसे—मछली का जल से प्रेम लगा हुआ है और वह उससे अलग होकर अपने प्राणों का त्याग कर देती है। जैसे—भौंरे का फूल से प्रेम है और वह प्रेम के कारण ही कमल-पुष्प में बन्दी हो जाता है। मीरां कहती है कि हे मनुष्य! तू प्रभु गिरधर नागर के चरण-कमलों में अपने मन को लगा।

विशेष—इस पद में प्रेम के जो उपमान बताये गये हैं परम्परागत होते हुए भी प्रभावशाली हैं।

[तुलना—प्रीति करि काहू सुख न लह्यो।

प्रीति पतंग करी पावक सौं आपै प्रान दह्यौ ॥
अलि-सुत प्रीति करी जल-सुत सौं संपुट मांझ गह्यौ ।
सारंग प्रीति करी जु नाद सौं सन्मुख बान सह्यौ ॥—सूरदास

+ +

लागी सोही जाणै, कठण लगण री पीर ॥टेक॥
बिपत पड्यां कोइ निकटि न आवै सुख में सब को सीर ।
बाहरि घाव कछू नहिं दीसै रोम रोम री पीर ।
जन मीरां गिरधर के ऊपर सदकै करूं सरीर ॥२२८॥

शब्दार्थ—कठण=कठिन, मर्मान्तक । लगण री=प्रेम की । पीर=पीड़ा । सीर=हिस्सा । दीसै=दिखाई देना है । सदकै=न्यौछावर ।

भाव—प्रेम की पीड़ा बड़ी ही मर्मान्तक होती है जिसे प्रेम की यह वेदना सताती है वही इसका मर्म समझ सकता है । जब व्यक्ति पर विपत्ति आती है तो कोई भी उसके निकट नहीं आता किन्तु जब व्यक्ति सुखी होता है तो सभी लोग उसके सुख के हिस्सेदार बन जाते हैं । यह प्रेम की पीड़ा ऐसी विलक्षण होती है कि बाहर से तो कुछ भी दिखाई नहीं देता है किन्तु अन्दर ही अन्दर रोम-रोम में इसकी पीड़ा समाई हुई रहती है । मीरां कहती है कि मैं तो गिरधर की दासी हूँ और उनके ऊपर ही अपना शरीर न्यौछावर करती हूँ ।

विशेष—पंक्तियों में वीप्सा का सहज प्रभाव स्पष्ट है ।

पाठान्तर—दरद लगन की पीर रे हरि लागी सोई जाने ।
पीर परी कछु रीत न जानी, ठाड़ पड़े असमीन ॥
दुख की बेला कोइ काम न आवे, सुख के सब ही मी
मीरां के प्रभु गिरधरनागर, आस्तर आस के अहीर ।

+ +

लागी लगन का वेल, कास देख्यां डरां ।
म्हां प्रेम रा होय, हंस देख्यां डरां ।
लाखा मन री मेघ म्याऊ कुपतां डरां ।
म्हां सांवरो श्याम चित उलझो डरां ।
पंखी होस निरता डरां ।

सावाँ सील सिंगार सोळणारो राखड़ी।
सांवलियां सूं प्रीति औराँ सूं आखड़ी ॥२९१॥

शब्दार्थ—चालो=चलो। अगम=परमात्मा। काल=मृत्यु। हौज=कुण्ड। हंस=हंस रूपी आत्मा। केल्याँ=किलोल। उजलो=उज्ज्वल पाप मुक्त। तोस=सन्तोष। निरत=नृत्य। सोल=सोलह। राखड़ी=चूड़ा। औराँ सूं=औरों से अन्य देवों से। आखड़ी=उदासीनता।

अर्थ—हे मन तू! परमात्मा के उस देश (लोक) में चल जहाँ मृत्यु डर कर रहती है अर्थात् जहाँ पर मृत्यु का भय नहीं है। जहाँ पर प्रेम का कुण्ड भरा रहता है और हंस रूपी आत्मा उसमें आनन्द क्रीड़ाएँ करती रहती हैं। जहाँ पर साधु-सन्तों की संगति मिलती है और ज्ञान-वृद्धि होती है जहाँ पर कृष्ण का ध्यान करके मन को पापमुक्त बनाया जाता है। जहाँ पर शील के घुंघरू बाँधकर सन्तोष का नृत्य किया जाता है अर्थात् जहाँ पर शील और सन्तोष सदैव विद्यमान रहते हैं। जहाँ पर नारियाँ सोलह शृंगार सजाकर सोने का चूड़ा पहिने रहती हैं। जहाँ पर केवल कृष्ण से प्रीति की जाती है तथा अन्य देवताओं से प्रीति उदासीनता दिखाई जाती है।

विशेष—निर्गुण सन्त कवियों और कृष्ण भक्तों का समन्वित प्रभाव इस पद में स्पष्ट दिखाई देता है।

पाठान्तर—चालो अगम के देस, काल देखत डरै।
वहाँ भरा प्रेम हौज हंसा केल्यौं करै॥
ओढ़ण लज्जा चीर, धीरज को घाघरो।
छिमता काँकण हाथ, सुमति को मून्दरो।
दिल दुलड़ी दरियाव साँच को दोवड़ो।
उबटन गुरु को ज्ञान, ध्यान को धोवणो॥
कान अखोटा ज्ञान जुगत को झूंठणो।
बसर हरि को नाम, चूड़ो चित उजलो॥
जोहर सील सन्तोष, निरत को घूघरो।
बिंदी गज अरु हार, तिलक गुरु ज्ञान को॥

साज सोलह सिणगार, पहिर सोने राखड़ी।
सवलियाँ सूं प्रीति औरों सूं आखड़ी॥
दासियरला की सेज प्रभू जी पधारिया।
गाय मीराँबाई दासी कर राखिया॥

××

म्हारो सांवरो ब्रजवासी ॥टेक॥
जग सुहाग मिथ्यारी सजनी, होवाँ हो मिट ज्यासी।
वरण करयाँ अविनासी म्हारो काल व्याल ण खासी।
म्हारो प्रीतम हिरदाँ बसताँ दरस लह्याँ सुखरासी।
मीरां रे प्रभु हरि अविनासी सरण गह्याँ थे दासी ॥२१०॥

शब्दार्थ—मिथ्या=झूठा। होवाँ हो=होकर भी। मिट ज्यासी=मिट जावेगा। वरण=वरण। व्याल=भुजंग साँप।

अर्थ—हमारा साँवला कृष्ण ब्रज का रहने वाला है। हे सजनी! जग का सुहाग झूठा है यह होकर भी मिट जायगा। इसलिए मैंने अविनाशी प्रभु को पति-रूप में वरण किया है जिसे काल रूपी साँप नहीं खा सकता अर्थात् मेरा सुहाग अमर है। मेरा प्रियतम तो मेरे हृदय में रहता है, जब भी चाहती हूँ तभी उस सुखराशि का दर्शन कर लेती हूँ। मीरा कहती है कि हे अविनाशी प्रभु! मैंने तुम्हारी शरण ली है और मैं तुम्हारी दासी हूँ।

विशेष—सगुण-भक्ति का सहज प्रभाव स्पष्ट है।

++

भज मन चरण कँवल अविनासी ॥टेक॥
जेताई दीसे धरण गगन मां, तेताई उठ जासी।
तीरथ बरतां ग्यान कथन्ता, कहा लियाँ करवत कासी।
यो देही रो गरब णा करणा, माटी मां मिल जासी।
यो संसार चहर री बाजी, साँझ पड़्याँ उठ जासी।
कहा भयाँ थाँ भगवा पहर्याँ, घर तज लयाँ संन्यासी।
जोगी होयाँ जुगत णा जाण्याँ, उलट जणम फिर आसी।
अरज करां अबला कर जोर्याँ, स्याम तुम्हारी दासी।
मीरां रे प्रभु गिरधरनागर, काट्याँ म्हारी फाँसी ॥२११॥

शब्दार्थ—अबनासी=अविनाशी। पताई=जितना। दीसां=दिखाई देता है। तेताइ=उतना ही सब का सब। उठ जासी=नष्ट हो जायेगा। चहर रो बाजी=चिड़ियों का खेल है। जुगत=युक्ति। फाँसी=बन्धन।

अर्थ—हे मन! उस अविनाशी कृष्ण के चरण-कमलों का स्मरण कर। इस धरती और आकाश के बीच जितना जो कुछ भी दिखाई देता है, वह सबका सब नष्ट हो जायेगा। तीर्थ-यात्रा करना, व्रत रखना या ज्ञान की बातें कहना और काशी में करवट लेना आदि सब बातें झूठी हैं और आडम्बर हैं। इस शरीर का घमण्ड नहीं करना चाहिए। यह तो नश्वर है और एक दिन मिट्टी में मिल जायगा। यह संसार तो चिड़ियों का खेल है जो सन्ध्याकाल होते ही समाप्त हो जायेगा। इस भगवे कपड़े को पहनने से क्या लाभ? और घर छोड़कर सन्यास लेने से क्या फायदा? यदि योगी होकर मुक्ति को नहीं जाना गया। इस प्रकार केवल दिखावा करने से आवागमन की फाँसी समाप्त नहीं होती। हे श्याम! तुम्हारी दासी मीराँ हाथ जोड़कर विनती कर रही है कि हे गिरिधर नागर! मेरे सांसारिक बन्धनों को नष्ट कर दो।

विशेष—सन्त-मत का प्रभाव स्पष्ट है।

++

नहिं म्हारो जनम बारम्बार।
पूरबला कोई पुण्य खूँट्यां माणसा अवतार।
बढ़ता छिन छिन घटता पल पल जात णा लगे बार।
बिरछ री ज्यों पात टूट्या लागा णा फिर डार।
भौ समुन्द अपार देख्यां अगम ओखी धार।
लाल गिरधर तरण तारण बेग करस्यो पार।
दासी मीराँ लाल गिरधर, जीवणा दिन च्यार॥२११॥

शब्दार्थ—नहिं=नहीं। पूरबला=पूर्व जन्म का। खूँट्यां=प्रकट हुआ। माणसा=मनुष्य का। जात णा=जाते हुए। बार=देर, विलम्ब। बिरछ री=वृक्ष का। भौ समुन्द=भवसागर। ओखी=विकट। तरण=तरणी नौका। बेग=शीघ्र। दिन च्यार=चार दिन थोड़े दिन के लिए।

अर्थ—ऐसा जन्म (मनुष्य जन्म) बारम्बार नहीं मिला करता। मनुष्य

का जन्म तो पूर्व जन्म के किसी पुण्य के प्रकट होने पर मिलता है। यह जीवन छण-छण बढ़ता है और पल-पल घटता है, इस प्रकार इसकी समाप्ति होते देर नहीं लगती। वृक्ष का पत्ता जो एक बार वृक्ष से टूट जाता है वह फिर डाल पर नहीं लगता उसी प्रकार एक बार मनुष्य-जन्म मिलने पर, यदि सुकर्म न किये जायें—फिर दोबारा नहीं मिला करता। यह संसार रूपी सागर अपार है, इसकी थाह अगाध और विकट है। हे गिरिधर लाल! तुम तो नैया को पार करने वाले हो, अतः मेरी नैया को शीघ्र ही पार करो। गिरिधर की दासी मीरां कहती है कि यह जीवन तो बहुत थोड़े समय के लिए ही है, अतः इसमें सत्कर्म ही करने चाहिए।

तुलना—नाहिं अस जनम बारम्बार।

पुरबली धौं पुन्य प्रगट्यो लह्यो नर अवतार॥
घटै पल-पल बढ़ै छिन-छिन जाति लागि न बार।
धरनि पत्ता गिरि परे तें फिरि न लागै डार॥
भय उदधि जमलोक दरसै निपट ही अँधियार।
सूर हरि को भजन करि-करि उतरि पल्ले पार॥—सूरदास

++

जगमां जीवणा थोड़ा कुण ल्यां भवभार ॥टेक॥
मात पिता जग जनम दियो री, करम दियो करतार।
खायां खरच्यां जीवण जावां, कोई करयां उपकार।
साधां संगत हरिगुण गास्यां और णा म्हारो लार।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर, थें बल उतरयां पार ॥२१३॥

शब्दार्थ—जगमां=जग में। कुण=किस लिए। भवभार=संसार का बोझ मोह-ममता आदि का अनुराग। करम=भाग्य। करतार=ईश्वर।

अर्थ—हे मनुष्य! इस संसार में थोड़े दिन के लिए जीना होता है, अत तू किस लिए सांसारिक मोह, ममता आदि का बोझ अपने सिर पर रखता है। हे सखी! माँ-बाप तो केवल जन्म देने के अधिकारी होते हैं भाग्य का लेखा तो स्वयं भगवान् बनाते हैं। खाते-खरचते हुए—सांसारिक बन्धनों में लिप्त होकर ही जीवन समाप्त हो जाता है और इसमें कोई उपकार का कार्य नहीं हो

बीच को बिचार नाहीं छाँय परी तब की।
अब चूकें तो और नाहीं जैसे कला नट की।
जल के कुरी गाँठ परी रसना गुन रटकी।
अब तो छुड़ाय हारी बहुत बार झटकी।
घर-घर में घोल मठोल बानी घट घट की।
सब ही कर सीस धरी लोक लाज पटकी।
मद की हस्ती समान फिरत प्रेम लटकी।
दासी मीराँ भक्ति बूँद हिरदय बिच गटकी ॥२४०॥

शब्दार्थ—हटकी=रोकी। वट=बरगद। ठौर=स्थान। रसना=जिह्वा। गुन=गुण रस्सी। घोल-मठोल=चर्चा। गटकी=पी गई।

अर्थ—हे राणा! जब मैंने कृष्ण से प्रीति की थी तुमने तभी मैं क्यों नहीं रोकी। अब तो मेरी और कृष्ण की प्रीति की बात इस प्रकार फँस गई है जिस प्रकार बीज में से निकलकर बरगद का वृक्ष फँस जाता है। इसमें अब बीच का विचार भी नहीं रहा क्योंकि तब की छाया पड़ चुकी है। यदि मैं अब चूक जाऊँ—कृष्ण की प्रीति को छोड़ दूँ—तो मुझे कहीं भी उस नट के समान स्थान नहीं मिल सकता जो खेल करता हुआ अपनी कला से फिसल जाता है। जिस प्रकार जलने पर भी रस्सी की गाँठें नहीं खुलती हैं उसी प्रकार मेरी जिह्वा में हरि के गुण समा गये हैं और वे किसी प्रकार भी उससे नहीं छुड़ाये जा सकते। मैंने इन गुणों को छुड़ाने के लिए अनेक प्रकार के झटके दिये हैं, किन्तु वे नहीं छूटे और मैं झटका देते-देते हार गई हूँ। हमारी इस प्रीति की चर्चा अब तो घर-घर में हो गई और प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में यही बात समाई हुई है। मैंने सब की बातों को ही अपने सिर पर धारण किया है और लोक-लाज का परित्याग किया है। मैं इस प्रेम के झटके से मदोन्मत्त हाथी की तरह घूम रही हूँ। गिरिधर की दासी मीराँ कहती है कि मैंने भक्ति की बूँद को पीकर अपने हृदय में रख लिया है।

विशेष—उपमा उदाहरण अलंकार।

तुलना—(माई री) गोविन्द सों प्रीति करत तबहिं क्यों न हटकी।
यह तो अब बात फैलि भई बीज वट की॥

घर घर मिल यहै चैर, बानी घट घट की ।
मैं तो यह सबै सही लोक-लाज मटकी ॥
मन के हस्ती समान, फिरति प्रेम लटकी ।
सेवन मैं चूकि जाति हाति कला नट की ॥
जग रजु मिलि गाँठि परि रसना हरि-रट की ।
छोरे ते नाहिं छूटति कैक बार झटकी ॥
मेरौ क्यों हूँ न मिलति छाप परि हटकी ।
सूरदास प्रभु की छवि हृदय मौझ इटकी ॥—सूरदास

++

अब तो हरि नाम लौ लागी ॥टेक॥
सब जग को यह माखनचोर, नाम धर्यो बैरागी ।
कहँ छोड़ी वह मोहन मुरली कहँ छोड़ि सब गोपी ।
मूड़ मुँडाई डोरी कहँ बाँधी माथे मोहन टोपी ।
मातु जसुमति माखन कारन बाँध्यो जाको पाँव ।
स्याम किसोर भये नव गौरा चैतन्य ताको नाँव ।
पीताम्बर को भाव दिखावै कटि कोपीन कसै ।
दास भक्त की दासी मीरा रसना कृष्ण रटै ॥२४१॥

शब्दार्थ—लौ=लगन । कोपीन=लँगोट । रसना=जिह्वा ।

अर्थ—अब तो मुझे हरि के नाम की लगन लग गई है । यह कृष्ण संसार में सबसे बड़ा माखनचोर है पर फिर भी बैरागी कहलाता है । उसने वह मोहने वाली मुरली और सब गोपियों को कहाँ छोड़ दिया है । सिर को मुँडाकर उसने डोर को कहाँ बाँध लिया है और मोहने वाली माथे की टोपी कहाँ चली गई है । जिस कृष्ण की माता यशोदा ने माखन चुराने के कारण पैर बाँध दिया था वही श्याम वर्ण वाला कृष्ण गौर वर्ण लेकर चैतन्य के रूप में अवतरित हुआ । वह पीले वस्त्र के प्रति अपना ममत्व प्रदर्शित करता है और कटि पर लँगोटी बाँधे रहता है । मीरा कहती है कि मैं उसी कृष्ण की दासी हूँ और मेरी जिह्वा पर उसी का नाम रहता है ।

विशेष—पुष्पधी पद्मावती 'शबनम' ने इस पद पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

कहा जाता है कि यह पद मीराँ ने महाप्रभु चैतन्य देव को सम्बोधित कर बनाया था। यथार्थतः प्राप्त इतिहास के आधार पर मीराँ चैतन्य देव के समकालीन नहीं ठहरतीं। पद की अन्तिम पंक्ति भी विशेष विचारणीय है। पद से व्यक्त होती भावना के आधार पर महाप्रभु चैतन्य स्वयं ही कृष्ण के अवतार सिद्ध होते हैं। यह 'दास भक्त' कौन है ? 'मीरांदास नाम से मिलने वाले और इस 'दास भक्त' में भी एकरूपता हो सकती है या नहीं। यहाँ 'दास' का प्रयोग सभी भक्तों के लिए हुआ है, यह विशेष विचारणीय है। अभिव्यक्ति के आधार पर, मेरे विचार में 'दास भक्त' सम्बोधन किसी विशेष भक्त को ही लक्षित करता है

++

मैंने सारा जंगल ढूँढा रे जोगिड़ा ना पाया। टेक॥
कानां बिच कुण्डल जोगी गले बिच सेली घर घर
अलख जगाये रे।
अगर चन्दन की धूनी जोगी लगाईं अंग बिच
भभूत लगाये रे।
बाई मीरां के प्रभु गिरधरनागर, सबद का
ध्यान लगाय रे ॥२४२॥

शब्दार्थ—जागिड़ा = योगी कृष्ण। सेली = माला। धूनि = धूनी। लगाईं = लगाई। सबद = शब्द।

अर्थ—हे योगी कृष्ण! मैंने सारा जंगल छान मारा, किन्तु कहीं भी तुम्हारे दर्शन नहीं हुए। मैंने सारा तुम्हें प्राप्त करने के लिए कानों में कुण्डल और गले में माला पहन ली है तथा घर घर अलख जगाती फिरती हूँ। मीरांबाई कहती है कि हे गिरधर प्रभु! मैं तुम्हारे कारण शब्द का ध्यान लगाये हुए हूँ।

विशेष—१ पुरानी भाषा की प्रधानता।
२ नाथ-पंथ का व्यापक प्रभाव।
